Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

NAGRI PRCHARNI

PATRIKA

LIB G.K.V

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

110765.

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
पुस्तकालय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

विषय संख्या R 80
पुस्तक संख्या का २५ जा
आगत पंजिका संख्या भाग १
पुस्तक पर किसी प्रकार का निशान लगाना वर्जित है । कृपया १५ दिन से अधिक समय तक पुस्तक अपने पास न रखें ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३५२

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFRENCE BOOK

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

स्टाक प्रमाणीकरण १९८४-१९८५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

अर्थात्

प्राचीन शोधसंबंधी त्रैमासिक पत्रिका

[नवीन संस्करण]

भाग ११—संवत् १९८७

पुस्तक सं०..............
आगत सं०..............
तिथि०......................
गुरुकुल ग्रन्थालय कांगड़ी

काशी नागरी प्रचारिणी सभा
स्थापित १९५० वि

CHECKED. 1973

संपादक
महामहोपाध्याय रायबहादुर गौरीशंकर
हीराचंद ओझा

—:※:—

काशी-नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तक सं. R
आगत सं. 80
दिनांक
गुरुकुल पुस्तकालय कांगड़ी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

110265
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
110765

लेख-सूची

विषय — पृष्ठ

(१) कौटिलीय अर्थशास्त्र में राजा का स्वरूप [लेखक—श्री सत्यकेतु विद्यालंकार, कांगड़ी] १

(२) पैशाची भाषा [लेखक—श्री सत्यजीवन वर्म्मा, एम० ए, प्रयाग] ३५

(३) जैन काल-गणना-विषयक एक तीसरी प्राचीन परंपरा [लेखक—श्री मुनि कल्याणविजय] ७५

(४) बौद्ध धर्म के रूपांतर [लेखक—श्री मथुरालाल शर्मा, एम० ए०, काशी] १०५

(५) आलोचना—

(१) महाकवि विहारीदासजी की जीवनी [लेखक—श्री मयाशंकर याज्ञिक, भरतपुर] १२५

(२) मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था [लेखक—श्री नंददुलारे वाजपेयी, एम० ए०, काशी] ... १३०

(६) विशाल भारत के इतिहास पर एक स्थूल दृष्टि [लेखक—श्री परमात्माशरण, एम० ए०, काशी] ... १३७

(७) जयमल्ल और फत्ता (पत्ता) की प्रतिमाएँ [लेखक—श्री ठाकुर चतुरसिंह, मेवाड़] १६१

(८) औरंगजेब का "हितोपदेश" [लेखक—पंडित लज्जाराम मेहता, बूँदी] १६६

(९) हिंदी की गद्य-शैली का विकास [लेखक—श्री जगन्नाथ-प्रसाद शर्मा, एम० ए०, काशी] १७७

(१०) आलोचना—

(३) "बालकांड का नया जन्म" [लेखक—श्री श्याम-सुंदरदास बी० ए०, काशी] २७६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय पृष्ठ

(४) बाबू श्यामसुंदरदास कृत "हिंदी भाषा और साहित्य" पर एक दृष्टि [लेखक—राय बहादुर श्री हीरालाल, बी० ए०, कटनी] ३८१

(११) हिंदी कविता में योग-प्रवाह [लेखक—श्री पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, एम० ए०, एल-एल० बी०, काशी] ... ३८५

(१२) देवल देवी और खिज्रखाँ [लेखक—श्री जगनलाल गुप्त, बुलंदशहर] ४०७

(१३) देशभाषा [लेखक—राय बहादुर श्री हीरालाल, बी० ए०, कटनी] ४२१

(१४) कवि शेख निसार कृत मसनवी यूसुफ-जुलेखा [लेखक—श्री सत्यजीवन वर्म्मा, एम० ए०, प्रयाग] ... ४४५

(१५) संगीत विद्या [लेखक—श्री मुरारीप्रसाद, पटना] ... ४६१

(१६) बौद्ध संस्कृत साहित्य [लेखक—श्री मथुरालाल शर्मा, एम० ए०, काशी] ४६३

(१७) आलोचना और विचार—

(५) [लेखक—श्री पंड्या बैजनाथ] ५०१

(६) [लेखक—श्री रघुनंदनप्रसादसिंह] ... ५१०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

अर्थात्

प्राचीन शोधसंबंधी त्रैमासिक पत्रिका

[नवीन संस्करण]

भाग ११—अंक १

ना० प्र० प०
२२(१)

संपादक
महामहोपाध्याय रा० ब० गौरीशंकर हीराचंद ओझा

—:❁:—

काशी-नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

वैशाख संवत् १९८७] [मूल्य प्रति संख्या २॥) रुपया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-सूची

विषय पृष्ठ

१–कौटिलीय अर्थशास्त्र में राजा का स्वरूप [ले०—श्री सत्यकेतु विद्यालंकार, काँगड़ी] १

२–पैशाची भाषा [ले०—श्री सत्यजीवन वर्म्मा, एम० ए०, प्रयाग] ३५

३–जैन काल-गणना-विषयक एक तीसरी प्राचीन परंपरा [लेखक—श्री मुनि कल्याणविजय] ७५

४–बौद्ध धर्म के रूपांतर [लेखक—श्रीमथुराल शर्मा, एम० ए०] १०५

५–आलोचना—

(१) महाकवि बिहारीदास जी की जीवनी [लेखक—श्री मयाशंकर याज्ञिक, भरतपुर] १२५

(२) मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था [लेखक—श्री नंददुलारे वाजपेयी]... ... १३०

सूचना

निम्नलिखित नई पुस्तकें छपकर प्रकाशित हो गईं—

१—मैथिल कवि विद्यापति ठक्कर कृत कीर्तिलता [संपादक—बाबूराम सकसेना, एम० ए०]

२—अकबरी दर्बार (दूसरा भाग) [अनुवादक—रामचंद्र वर्म्मा]

३—कर्मवाद और जन्मांतर [अनुवादक—लल्लीप्रसाद पांडेय]

४—हिंदी-साहित्य का इतिहास [ले०—रामचंद्र शुक्ल]

५—हिंदी-रसगंगाधर [ले०—पुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदी]

छप रही हैं

१—मुँहणोत नैणसी की ख्यात (दूसरा भाग)।

२—बाँकीदास ग्रंथावली (दूसरा भाग)।

प्रकाशन-मंत्री

नागरीप्रचारिणी सभा,

काशी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

ग्यारहवाँ भाग

(१) कौटिलीय अर्थशास्त्र में राजा का स्वरूप

[ले०—श्री सत्यकेतु विद्यालंकार, काँगड़ी]

भारतीय राजशास्त्र के इतिहास में इस बात की विवेचना सुगमता के साथ नहीं की जा सकती कि विविध राजशास्त्र-प्रणेताओं के विचारों पर उनके समय का—उनकी परिस्थितियों का किस हद तक असर पड़ा है। कारण यह है कि भारतीय इतिहास में तिथि-क्रम का विषय अभी बहुत विवादग्रस्त है। साथ ही, विविध राजशास्त्र-प्रणेताओं का काल भी अभी पूरी तरह निश्चित नहीं किया जा सका है। आचार्य कौटिल्य के काल के संबंध में ही ऐतिहासिकों में मत-भेद है। अनेक विद्वान् जहाँ इस अर्थशास्त्र को चौथी सदी ई० पू० का बना मानते हैं, वहाँ ऐसे विद्वानों की भी कमी नहीं, जो इसे तीसरी सदी ई० प० या इसके भी बाद का स्वीकार करते हैं।[1] फिर भी कौटि-

---

(१) अर्थशास्त्र के समय के संबंध में निम्नलिखित विद्वानों ने विचार किया है।

R. K. Mukerji—Introduction to the N. N. Law's work on.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लीय अर्थशास्त्र में ऐसी अंतःसाक्षियों की कमी नहीं है, जिनसे हम उन परिस्थितियों का कुछ पता लगा सकें, जिनका कि आचार्य चाणक्य के विचारों पर प्रभाव पड़ा था। यह अर्थशास्त्र अपने अंतिम स्वरूप में चाहे किसी समय आया हो, पर इसमें संदेह नहीं कि इसका मुख्य ढाँचा उस समय की अवस्थाओं पर आश्रित है, जब कि भारत में मगध का साम्राज्यवाद विकसित हो रहा था, जब कि अनेक छोटे छोटे राज्य अपनी सत्ता को नष्ट कर एक विशाल साम्राज्य में विलीन हो रहे थे। आचार्य चाणक्य के राजनीतिक विचारों को ठीक ठीक समझने के लिये यह जरूरी है कि हम उन परिस्थितियों का संक्षेप से वर्णन करें जो कि इस अर्थशास्त्र के निर्माण-काल में विद्यमान थीं और जिन्होंने अनिवार्य रूप से इसके विचारों पर प्रभाव डाला था।

प्रो० राधाकुमुद मुकर्जी के अनुसार चाणक्य का समय चौथी सदी इ० पू० में है और तभी यह ग्रंथ बनाया गया है।

प्रो० जॉली के अनुसार अर्थशास्त्र का समय तीसरी सदी इ० प० है। (Jolly—Arthashastra, Preface, p. 29)

प्रो० जॉली की युक्तियों का उत्तर काशीप्रसाद जायसवाल ने दिया है। (K. P. Jayaswal—Hindu Polity, App. c, Pt. I, pp. 203-219) डा० भंडारकर ने भी इस प्रश्न पर विचार किया है। (Carmæcal Lectures, p. 110) डा० विन्टरनिट्ज ने भी अर्थशास्त्र को तीसरी सदी इ० प० के बाद का माना है। (Winternitz—Kautaliya Arthashastra in "Calcutta Review" for 1924) इनका उत्तर डा० गणपतिशास्त्री ने दिया है। (Ganpatishastri—Arthashastra, vol. iii, Introduction, pp. 2-6.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आचार्य चाणक्य का समय राजनीतिक साम्राज्यवाद के विकास का समय था। उससे पहले का भारत अनेक छोटे छोटे राज्यों में विभक्त था, जिनमें कि अनेक राज्य राजतंत्र थे और अनेकों में गणतंत्र या संघतंत्र-शासनप्रणालियाँ विद्यमान थीं। ये सभी राज्य प्रायः किसी एक कुल या जाति (Tribe) पर आश्रित थे, इनके आधार कुल थे, इन्हें हम कुलतंत्र राज्य (Tribal states) भी कह सकते हैं।[1] इनमें अनेकविध शासन-प्रणालियाँ विद्यमान थीं और एक ही राज्य में भिन्न भिन्न समयों में शासन-प्रणाली में परिवर्तन भी होते रहते थे।[2] इनमें परस्पर संघर्ष भी जारी रहते थे और किसी एक राज्य को अपने में सर्व-प्रधान, सार्वभौम या चक्रवर्ती समझने की प्रवृत्ति भी विद्यमान थी। पर इस प्रवृत्ति से विविध राज्यों की सत्ता का अंत न हो जाता था। मगध में साम्राज्यवाद के विकास के साथ साथ इन विविध राज्यों को एकदम नष्ट किया जाना शुरू हुआ। कुलतंत्र राज्यों (Tribal states) का स्थान प्रादेशिक राज्य (Territorial states) लेने लगे। इस संपूर्ण प्रक्रिया को प्रदर्शित करने में बहुत समय लगेगा, उसकी यहाँ आवश्यकता भी नहीं है। जब कौटिलीय अर्थशास्त्र का निर्माण हुआ, उस समय अपनी अपनी जातियों या कुलों की दृष्टि को

(१) पुराने राज्य कुल-तंत्र थे। यथा—यादवाः, कौरवाः, पौरवाः, पांचालाः, मद्राः आदि।

(२) महाभारत के समय में पांचाल में राजतंत्र शासन था, पर कौटिलीय अर्थशास्त्र में उसका परिगणन राजशब्दोपजीवी संघों में किया गया है। विदेह में रामायण और महाभारत के समय राजतंत्र शासन था, पर बौद्ध साहित्य में उसे गणतंत्र बताया गया है। इसी तरह अन्य अनेक राज्यों के भी उदाहरण दिए जा सकते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छोड़कर एक विशाल दृष्टि उत्पन्न हो चुकी थी, जिसके द्वारा संपूर्ण भारत में एक राज्य स्थापित करने की कल्पना की जा रही थी। कौटिल्य ने लिखा है—"हिमालय से लेकर समुद्र पर्यंत यदि एक सीधी रेखा खींची जाय, तो एक हजार योजन लंबा जो देश है, जो भूमि है, वह एक चक्रवर्त्ति-क्षेत्र है।[1]" चाणक्य के सम्मुख यह एक हजार योजन तक विस्तृत देश एक आदर्श के रूप में विद्यमान था, जिसमें कि एक चक्रवर्ती राज्य की स्थापना होनी चाहिए थी। आचार्य चाणक्य का 'विजिगीषु' इसी विशाल देश में एक साम्राज्य स्थापित करने का प्रयत्न कर रहा था। पर अभी यह स्वप्न क्रियारूप में परिणत न हुआ था। कौटिलीय अर्थशास्त्र के अध्ययन से मालूम होता है कि अभी भारत में—इस चक्रवर्त्ति-क्षेत्र में—अनेक गणतंत्र या संघतंत्र तथा अन्य प्रकार के राज्य विद्यमान थे। इन राज्यों के नाम भी अर्थशास्त्र द्वारा ज्ञात होते हैं।[2] कौटिल्य का प्रयत्न यह था कि इन सब राज्यों को नष्ट कर 'एक-राज' की स्थापना की जाय[3] और यदि यह संभव न हो, तो कम से कम इन राज्यों को अधीन तो अवश्य कर लिया जाय।[4]

---

(१) "देशः पृथिवी। तस्यां हिमवत्समुद्रांतरमुदीचीनं योजनसहस्रपरिमाणं तिर्यक् चक्रवर्त्तिक्षेत्रम्।" (कौ० अर्थ० ६।१)

(२) "काम्बोजसुराष्ट्रक्षत्रियश्रेण्यादयो वार्त्ताशास्त्रोपजीविनः। लिच्छविकव्रजिकमल्लकमद्रककुकुरकुरुपांचालादयो राजशब्दोपजीविनः।" (कौ० अर्थ० ११।१)

(३) "सङ्घेष्वेवमेकराजो वर्तेत।" (कौ० अर्थ० ११।१)

(४) "संघलाभो दण्डमित्रलाभानामुत्तमः।" (कौ० अर्थ० ११।१) इस अधिकरण में प्रदर्शित नीति को ध्यान से पढ़िए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार कौटिल्य के समय में पुराने छोटे छोटे राज्यों—नगर-राज्यों—का युग समाप्त हो चुका था। इन नगर-राज्यों के अवशेष पर कौटिल्य जिस विशाल राज्य के निर्माण का स्वप्न देख रहा था, उसका आधार कोई एक कुल या जाति न हो सकती थी, उसका आधार एक विस्तृत देश था, जो कि हिमालय से समुद्र तक एक हजार योजन विस्तीर्ण था। यह परिवर्तन बहुत ध्यान देने योग्य है। पुराने कुलतंत्र नगर राज्यों में शासन-प्रणाली चाहे एकतंत्र हो, श्रेणितंत्र हो या गणतंत्र हो, पर राज्य का आधार कुल या जाति (Tribe) होने से जनता के अधिकार अनेक अंशों में सुरक्षित थे। राज्य में भूमि की अपेक्षा जनता का तत्त्व अधिक महत्त्व रखता था। इसी लिये इस जनता, कुल या जाति के परंपरागत अधिकारों को राज्य में ऐसा स्थान प्राप्त था, जिन्हें उल्लंघन करने का किसी श्रेणि या राजा को साहस न हो सकता था। ये परंपरागत अधिकार चाहे वर्तमान अर्थों में राजनीतिक अधिकार न हों, पर इनकी सत्ता अवश्य थी और ये राज्य में विशेष प्रभाव रखते थे। पर अब राज्य का आधार इस जनता, कुल या जाति के स्थान पर देश या भूमि बन रही थी। इस देश या भूमि में एक जनता नहीं, पर अनेक जनताएँ, अनेक जातियाँ और अनेक कुल बसते थे। इसी लिये इस नवीन राज्य में परंपरागत अधिकारों को वह स्थान प्राप्त नहीं हो सकता था, जो पुराने राज्यों में प्राप्त था। राज्य के आधार में परिवर्तन के साथ साथ राज्य के स्वरूप में—राजसंस्थाओं में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन हो रहे थे। कौटिलीय अर्थशास्त्र में इन परिवर्त्तनों की सत्ता स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुशीलन से जो परिस्थिति हमें प्राप्त होती है, उसमें छोटे छोटे राज्य नष्ट हो चुके हैं या नष्ट हो रहे हैं, पर अभी एक विशाल साम्राज्य का विकास भी पूर्णता तक नहीं पहुँचा है। इसके साथ ही, भिन्न भिन्न स्थानों और भिन्न भिन्न क्षेत्रों के परंपरागत अधिकारों में भी भारी परिवर्त्तन हो रहा है, कुछ पुरातन अधिकारों को बिलकुल नष्ट कर दिया गया है, कुछ को स्वीकार कर लिया गया है और कुछ में हस्तक्षेप की नीति का प्रारंभ किया गया है। हम यथास्थान अपने इस कथन को विशद रूप से स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।

आचार्य चाणक्य के राज्य संबंधी सिद्धांतों का केंद्र राजा है। यद्यपि अर्थशास्त्र में प्राचीन परंपरा के अनुसार राज्य के सात तत्त्व या प्रकृतियाँ स्वीकृत की गई हैं, तथापि चाणक्य ने मुख्यता दो तत्त्वों को ही दी है।[१] राजा और राज्य—इस प्रकार दो तत्त्वों द्वारा ही चाणक्य के मत में कार्य चल सकता है।[२] पुराने आचार्य राज्य में राजा को इतना महत्त्व न देते थे। उनकी सम्मति में स्वामी (राजा), अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश, दंड और मित्र—इन सात तत्त्वों में पिछले पिछले तत्त्व की प्रधानता थी।[३] स्वामी और अमात्य में अमात्य अधिक महत्त्वपूर्ण था।[४] अमात्य और जनपद में जनपद अधिक महत्त्व-

---

(१) 'स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोशदण्डमित्राणि प्रकृतयः।'
(कौ० अर्थ० ६।१)

(२) 'राजा राज्यमिति प्रकृति संक्षेपः।' (कौ० अर्थ० ८।२)

(३) कौ० अर्थ० ८।१।

(४) 'स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोशदण्डमित्रव्यसनानां पूर्वं पूर्वं गरीय इत्याचार्याः। नेति भारद्वाजः। स्वाम्यमात्यव्यसनयोरमात्यव्यसनं गरीय इति।' (कौ० अर्थ० ८।१)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्ण था।[1] और इसी प्रकार पिछले पिछले तत्त्व अधिक अधिक महत्त्व रखते थे। इस तरह पुराने आचार्यों के मत में राज्य में राजा का महत्त्व सबसे कम था। यह होना बहुत स्वाभाविक भी है, क्योंकि पुराने कुलतंत्र नगर-राज्यों में राज्य का आधार संपूर्ण जनता होती थी, उनमें राजा का बहुत महत्त्व न हो सकता था। पर अब जो नए विशाल राज्य बन रहे थे, उनका आधार प्रदेश था, वह एक 'विजिगीषु' राजा की कृति थी। यद्यपि परिस्थितियाँ और ऐतिहासिक प्रवाह इस प्रक्रिया में सहायक थे, तथापि इन साम्राज्यों का निर्माण एक 'विजिगीषु' राजा की प्रतिभा पर आश्रित था। इसी लिये आचार्य चाणक्य के मत में राज्य के सब तत्त्वों में राजा सर्वप्रधान था।[2] यदि राजा ठीक हो, तो अन्य सब तत्त्व सँभल सकते थे। पर यदि राजा ही ठीक न हो, तो राज्य का चल सकना संभव न था। इसी लिये आचार्य चाणक्य ने राजा को सुमार्ग-गामी बनाए रखने के लिये तथा 'राज्य' जैसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व का एक क्षण भर के लिये भी अभाव न होने देने के लिये इतना जोर दिया है। कौटिलीय अर्थशास्त्र के सब राज्य संबंधी सिद्धांत इस 'राजा' के चारों ओर ही घूमते हैं। कौटिल्य का राज्य

(१) 'अमात्यजनपदव्यसनयोर्जनपदव्यसनं गरीय'। इति विशालाक्षः। (कौ० अर्थ० ८।१.)

(२) कौ० अर्थ० ८। १।

कौटिल्य ने इस अध्याय में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि राज्य के सातों तत्त्वों में राजा सर्वप्रधान है, राजा की आपत्ति अन्य सब तत्त्वों की आपत्ति की अपेक्षा अधिक भयानक है। दो दो तत्त्वों की तुलना कर पहले पहले तत्त्व की महत्ता प्रदर्शित की गई है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संबंधी आदर्श यही है, कि 'एक-राजत्व' या 'एकैश्वर्य'[1] की स्थापना की जाय। राजा के अभाव में कौटिल्य के राज्य का आदर्श तो दूर रहा, राज्य का ढाँचा भी कायम नहीं रह सकता। कौटिल्य के सभी राज्यसंबंधी विचारों के मूल में राजा का यह ऊँचा महत्त्वपूर्ण स्थान कार्य करता हुआ दृष्टिगोचर होता है।

'राजा' की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, इस विषय में अपने सिद्धांत का आचार्य चाणक्य ने कहीं स्पष्ट रूप से वर्णन नहीं किया। परंतु सर्व साधारण जनता में राजा की उत्पत्ति के उसी सिद्धांत को प्रचारित करने का निर्देश किया गया है, जो कि प्राचीन भारतीय राजशास्त्रों में अनेक स्थानों पर उपलब्ध होता है।[2]

जिस प्रकरण में यह सिद्धांत उपलब्ध होता है, उसमें आचार्य चाणक्य ने उन उपायों का उल्लेख किया है, जिनके द्वारा अपने देश में राजा के प्रति जनता की अनुकूलता स्थापित की जा सकती है। "गुप्तचरों को चाहिए कि परस्पर विरोधी दल बनाकर तीर्थ, सभाशाला, पूग और जन-समवाय में जाकर आपस में इस प्रकार विवाद करें। एक दल कहे—'सुना तो यह जाता है कि यह राजा सर्व-गुण-संपन्न है; पर हमें तो इसमें कोई गुण नजर नहीं आता। यह तो खाली पौरों और जानपदों को दंड और कर द्वारा सताता ही है।' उन स्थानों पर जो लोग इस बात का समर्थन करें, उन्हें तथा

(१) कौ० अर्थ० ४।६।

(२) समयवाद तथा अन्य सिद्धांतों के लिये देखिए 'भारतीय राजशास्त्र' अध्याय २।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उस गुप्तचर को इस प्रकार दूसरा दल समझावे—'पहले मात्स्य-न्याय प्रचलित था। उससे दिक आकर जनता ने वैवस्वत मनु को राजा बनाया था। अपनी उपज में से, धान्य का छठा भाग, व्यापारीय वस्तुओं का दसवाँ भाग तथा सुवर्ण उस राजा के लिये भाग निश्चित किया गया। इस भाग को भृति या वेतनरूप में पाकर राजा जनता के योग और क्षेम का संपादन करने में समर्थ हुए। जो राजा ठीक प्रकार से दंड की व्यवस्था नहीं करता और कर वसूल नहीं करता, वह जनता का योग और क्षेम संपादन नहीं कर सकता। जनता का सब पाप ऐसे राजा को लग जाता है। यही कारण है कि जंगल में रहनेवाले तपस्वी लोग भी अपने संचित अन्न (उंछ) का छठा भाग राजा को यह सोचकर प्रदान करते हैं कि 'यह उसका हिस्सा है, जो हमारी रक्षा करता है।' राजा का वह स्थान है, जो कि इंद्र और यम का है। इनका कोप और प्रसन्नता तो प्रत्यक्ष ही होते हैं। जो राजाओं का अपमान करते हैं, उन्हें तो ईश्वर की ओर से भी दंड मिलता है। अतः राजाओं का अपमान नहीं करना चाहिए।' इस प्रकार गुप्तचर लोग मामूली जनता को समझाकर राजा के अनुकूल करें।"[1]

आचार्य चाणक्य के राजा की उत्पत्ति संबंधी इस मत को स्पष्ट करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह पर्याप्त स्पष्ट है। पर इसमें एक बात ध्यान देने योग्य है। चाणक्य यह अनुभव करते हैं कि इस सिद्धांत द्वारा केवल मामूली आदमियों को—इनके लिये चाणक्य ने स्वयं 'क्षुद्रक' शब्द

(१) कौ० अर्थ० १। १३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का प्रयोग किया है—ही समझाया जा सकता है। भारतीय राज-शास्त्र-प्रणेताओं का यह प्राचीन प्रचलित मत पुराने कुल-तंत्र राज्यों के लिये तो ठीक समझा जा सकता था। वस्तुतः पहले कभी जनता में मात्स्य-न्याय प्रचलित था या नहीं, वस्तुतः लोगों ने मिलकर किसी एक व्यक्ति को राजा बनाया था या नहीं—इस बात पर विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं। इस समयवाद के सिद्धांत का मूल तत्त्व तो यह है कि राजा की सत्ता प्रजा या जनता की अनुमति तथा स्वीकृति पर आश्रित है। जनता राजा को यदि स्वयं नहीं चुनती, तो उसे स्वीकृत अवश्य करती है। पुराने कुल-तंत्र राज्यों में वस्तुतः यही सिद्धांत विद्यमान था। वैदिक काल में जनता राजा को स्वीकार किया करती थी, उसके चुनाव में अनुमति दिया करती थी।[१] ब्राह्मणकाल में भी यही प्रथा विद्यमान थी।[२] रामायण के समय में भी जनता राजा को स्वीकृत किया करती थी।[३] यही परंपरा किसी न किसी रूप में भारत के उन सभी राज्यों में विद्यमान रही, जिनका आधार कुल, श्रेणि या जनता होती थी।[४] पर कौटिल्य के जिस 'विजिगीषु' राजा ने समुद्र से लेकर हिमालय तक एक हजार योजन विस्तृत प्रदेश पर अपना 'एकराज' या 'एकैश्वर्य' शासन स्थापित करते

(१) ऋग्वेद १० । १७८; १० । १७३ । ६ ।
अथर्ववेद ८ । ८७—८८; ३ । ५; ३ । ४; ४ । ८ ।

(२) K. P. Jayaswal—Hindu Polity, Part II, pp 14-41.

(३) वाल्मीकीय रामायण २,१४ ।

(४) K. P. Jayaswal—Hindu Polity, Part II, pp. 42-59.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का प्रयत्न किया था, उसके लिये क्या यह सिद्धांत किसी भी तरह लागू हो सकता था? उसके सिंहासनारूढ़ होने में जनता की अनुमति या स्वीकृति को किसी भी प्रकार से स्थान प्राप्त नहीं था। उसकी सत्ता का आधार तो उसकी अपनी शक्ति के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं था। इसलिये आचार्य चाणक्य यह खूब समझते थे कि प्राचीन समयवाद का सिद्धांत उनके 'राजा' पर नहीं लग सकता। पर यदि मामूली आदमियों को—क्षुद्रकों को—बहकाया जा सके, उन्हें राजभक्त बनाया जा सके, तो इसमें हानि भी क्या है? गुप्तचरों द्वारा इसी लिये यह कार्य करने का आदेश किया गया है।

एक अन्य स्थान पर भी आचार्य चाणक्य ने राजशास्त्र-वेत्ताओं के इसी ढंग के उदात्त सिद्धांत का अपने उद्देश्य के लिये प्रयोग किया है। "संग्राम शुरू होने से पूर्व राजा को चाहिए कि अपने सैनिकों को एकत्र कर उनके सम्मुख इस प्रकार भाषण दे—'जैसे आप लोगों को वेतन मिलता है, वैसे ही मुझे भी मिलता है। इस राज्य का उपभोग मुझे आप लोगों के साथ मिलकर ही करना है। इसलिये जैसे मैं कहूँ, उसके अनुसार ही शत्रुओं पर आक्रमण करो'।"[1] चाणक्य को सभी उपायों से अपने विजिगीषु राजा का हित-संपादन करना था। वह जहाँ जनता के अंध विश्वासों का राजा के

(१) "संहत्य दण्डं ब्रूयात्—'तुल्यवेतनोऽस्मि; भवद्भिस्सह भोग्य-मिदं राज्यं मयाऽभिहितः परोऽभिहन्तव्यः।' इति"

(कौ० अर्थ० १०।३)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हितों के लिये उपयोग कर रहा था[1], वहाँ यदि जनता में पुराने प्रचलित उदात्त विचारों का भी उपयोग करे, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है। पर ये चाणक्य के अपने सिद्धांत नहीं हैं। वह अपने विजिगीषु राजा को जनता का नौकर, भागहर या भृत्य नहीं बनाना चाहता था। वह तो अपने राजा में एक ऐसे व्यक्ति की कल्पना करता था, जो 'एकराज' हो, जिसका 'एकैश्वर्य' स्थापित हो।

तो फिर आचार्य चाणक्य की दृष्टि में राजा का क्या स्वरूप था? आचार्य चाणक्य की दृष्टि में राज्य में राजा का स्थान सबसे ऊपर था, क्योंकि वह "राजा ही है, जो मंत्री पुरोहित आदि राजकर्मचारियों को नियत करता है, जो राज्य के भिन्न भिन्न विभागों के अध्यक्ष नियत करता है, और जो उन सब आपत्तियों को दूर करता है जो कि जनता पर या देश पर आती हैं। राज्य की वृद्धि के सब उपाय राजा द्वारा ही तो किए जाते हैं। जब अमात्य आपत्ति में फँस जाते हैं या कार्य-समर्थ नहीं रहते, तब राजा ही दूसरे अमात्य नियत करता है। वह राजा ही है, जो सम्मान योग्य मनुष्यों का सम्मान करता है और दोषयुक्त मनुष्यों का नियंत्रण करता है।"[2] इतना ही नहीं, "यदि राजा संपन्न है, तो वह जनता को या राज्य के अन्य

(१) उदाहरण के लिये—"ज्योतिषी तथा शकुन विचारनेवाले यह फैलाकर सैनिकों को उत्साहित करें कि, 'राजा तो सर्वज्ञ है। दैव राजा के अनुकूल है।' इसी तरह की बातों से शत्रुओं में आतंक फैलावें"। इसी तरह—सूत और मागध लोग योधाओं की जाति, कुल आदि की खूब प्रशंसा कर, ताकि उनमें उत्साह आवे। पुरोहित के आदमी कहें, हमने जो अभिचार क्रियाएँ की थीं, वे सफल हो गई हैं। मुहूर्त बतानेवाले लोग भी इसी ढंग से प्रचार करें। (कौ० अर्थ० १० । ३)

(२) कौ० अर्थ० ८ । १ ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सब तत्त्वों को भी संपत्ति से युक्त कर देता है। राजा का जो शील होता है, वही शील प्रजा का भी हो जाता है, क्योंकि जनता का उत्थान और पतन तो पूरी तरह राजा पर ही आश्रित है।"[1] अतः निष्कर्ष यह निकला कि "राज्य में राजा ही कूटस्थानीय है।"[2] अन्य सब प्रकृतियाँ या राज्य के तत्त्व तो गौण हैं, मुख्य प्रकृति या मुख्य राजकीय तत्त्व राजा ही है।

इसी सिद्धांत को आचार्य चाणक्य ने अनेक स्थानों पर स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है—"यदि राजा जनता के योग और क्षेम में प्रमाद करे, आलस्य करे, तो जनता में लोभ की प्रवृत्ति होने लगती है, जनता में वैराग्य या उपेक्षा का भाव आने लगता है—जनता का विनाश हो जाता है।"[3]

"यदि राजा आत्मवान् हो, समर्थ हो, तो राज्य के अन्य तत्त्वों—प्रकृतियों को चाहे वे असंपन्न क्यों न हों, संपन्न कर देता है। पर यदि राजा ही अनात्मवान्—असमर्थ हो, तो चाहे अन्य तत्त्व कितने ही उन्नत हों, प्रकृति कितनी ही राजा में अनुरक्त हो, पर उनका विनाश हो जाता है।"[4]

ये उद्धरण स्पष्ट करते हैं कि आचार्य चाणक्य के मत में संपूर्ण राज्य में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व राजा ही है। अन्य सब तत्त्व उस पर आश्रित हैं। यदि राजा समर्थ नहीं,

---

(१) 'स्वामी च संपन्नः स्वसंपद्भिः प्रकृतिः संपादयति। स्वयं यच्छीलस्तच्छीलाः प्रकृतयो भवंति। उत्थाने प्रमादे च तदायत्तत्वात्।
(कौ० अर्थ० ८। १)

(२) 'तत्कूटस्थानीयो हि स्वामीति।' (कौ० अर्थ० ८। १)

(३) 'राज्ञः प्रमादालस्याभ्यां योगक्षेमविधावपि।
प्रकृतीनां क्षयो लाभो वैराग्यं चोपजायते॥' (कौ० अर्थ० ७।५)

(४) 'सम्पादयत्यसम्पन्नाः प्रकृतीरात्मवान् नृपः।
विवृद्धाश्चानुरक्तांश्च प्रकृती हन्त्यनात्मवान्॥' (कौ० अर्थ० ६।१)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो अन्य तत्त्व कितने ही उन्नत क्यों न हों, व्यर्थ हैं, उनका विनाश अवश्यंभावी है। पर यदि राजा समर्थ है, तो इस बात की कोई चिंता नहीं, कि अन्य तत्त्व उन्नत नहीं हैं। राजा के कारण ही वे स्वयं उन्नत हो जायँगे। इस प्रकार आचार्य चाणक्य ने अपने 'चातुरन्त' साम्राज्य का आधार राजा को बनाने का प्रयत्न किया है। यही कारण है कि इस राजा को पूर्ण मनुष्य बनाने के लिये अनेकविध उपायों का उपदेश किया गया है। आचार्य चाणक्य का 'राजा' कोई मामूली आदमी नहीं हो सकता था, उसके लिये असाधारण शक्ति, अद्वितीय विनय (training) और आदर्श शिक्षा की आवश्यकता थी। चाणक्य अपने चातुरन्त साम्राज्य के स्वप्न को पूर्ण करने की आशा किसी साधारण व्यक्ति से नहीं रख सकता था। उसके लिये जो 'एकराज' अभीष्ट था, वह असाधारण मनुष्य होना चाहिए था। कौटिल्य ने स्वयं अपने आदर्श 'राजा' का वर्णन किया है। वह कहता है—

राजा के गुण निम्नलिखित होने चाहिएँ—"वह बहुत ऊँचे कुल का हो, सौभाग्यशाली हो, अत्यंत बुद्धिमान् हो, विशाल दृष्टि से युक्त हो, धार्मिक हो, सत्य बोलनेवाला हो, वाणी और काम में एक हो, कृतज्ञ हो, सदा ऊँचे लक्ष्य को सम्मुख रखनेवाला हो, अत्यंत उत्साहसंपन्न हो, दीर्घसूत्री न हो (शीघ्र काम करनेवाला हो), सामंतों को वश में रखने में समर्थ हो, अपने निश्चय में दृढ़ रहनेवाला हो, उसकी परिषद् छोटी न हो, वह विनय (नियंत्रण) में रहने की इच्छावाला हो।"[1]

---

(१) कौ० अर्थ० ६।१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इनके अतिरिक्त आठ गुण और हैं, जो राजा में होने चाहिएँ। जिस राजा की प्रज्ञा या बुद्धि इन गुणों से युक्त होगी, वही आदर्श राजा होगा—शुश्रूषा—जानने की इच्छा, श्रवण—दूसरों के विचारों को सुनना, ग्रहण—लेने योग्य बात को ले लेना, धारण—ग्रहण की हुई बात को भुला न देना, विज्ञान—प्रत्येक बात को ठीक तरह समझ लेना, ऊह—समझी हुई बात के गुणदोषों पर सम्यक् विचार, अपोह—जो बात दोषयुक्त मालूम पड़े उसका परित्याग कर देना, तत्त्वाभिनिवेश—जो बात ठीक मालूम पड़े उस सारभूत बात को स्वीकार कर लेना।[1]

कौटिल्य को अपने आदर्श राजा का इस प्रकार स्वरूपवर्णन करने से ही संतुष्टि नहीं हुई, जिस व्यक्ति को चातुरन्त साम्राज्य पर शासन करना हो, जिसके समर्थ होने से अन्य सब राजकीय तत्त्वों का स्वयं समर्थन हो जाता हो, उसके स्वरूप को और अधिक विस्तार से स्पष्ट करना चाहिए—

"राजा को वाग्मी होना चाहिए। उसकी बुद्धि बहुत उन्नत होनी चाहिए। उसकी स्मृति बहुत तेज होनी चाहिए। उसका मन अत्यंत दृढ़ होना चाहिए। उसे बलवान्, उन्नतचेता और संयमी होना चाहिए। उसे सब शिल्पों में निपुण होना चाहिए। शत्रु पर जब कोई दैवी या मानुषी आपत्ति आवे, तब उसे अपनी सेना द्वारा आक्रमण के लिये तैयार होना चाहिए और जब अपने राज्य पर आपत्ति आवे तब उसकी रक्षा में समर्थ होना चाहिए। उसे उपकार के बदले में उपकार और अपकार के बदले में अपकार करनेवाला

(१) कौ० अर्थ० ६।१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होना चाहिए। उसे लज्जावान् होना चाहिए। उसे आपत्ति के प्रतीकार में समर्थ और उत्तम दशा का लाभ उठानेवाला होना चाहिए। उसे दूरदर्शी तथा विशाल दृष्टिवाला होना चाहिए। उसे देश और काल से लाभ उठानेवाला, पुरुषार्थी और कर्मवीर होना चाहिए। उसे संधि के प्रयोग में कुशल, युद्धनीति में निपुण, देश काल और व्यक्ति के अनुसार दान में समर्थ, संयमी और शत्रु के दोषों से लाभ उठा सकनेवाला होना चाहिए। उसका मंत्र (सलाह) बिलकुल गुप्त रहना चाहिए। उसकी हँसी तथा भ्रूभंगी आदि में गंभीरता होनी चाहिए। उसे काम, क्रोध, लोभ, जिद्द, चपलता, जल्दबाजी और चुगली से रहित होना चाहिए। उसे दूसरों से मुसकराकर बोलना चाहिए तथा पुरानी चली आई परंपराओं और रीति रिवाजों को जानकर उनके अनुसार कार्य करनेवाला होना चाहिए।"[1]

इस प्रकार आचार्य चाणक्य ने अपने विजिगीषु चातुरन्त राजा का आदर्श चित्र खींचने का प्रयत्न किया है। निस्संदेह, जिस राज्य का आधार एक राजा हो, उसमें उस राजा के व्यक्तित्व की महत्ता बहुत अधिक है। उसी को संपूर्ण राज्य का संचालन करना है, राज्य के विविध अंग उसी के अधीन

(१) 'वाग्मी प्रज्ञाप्रगल्भः स्मृतिमतिबलवानुदग्रः कृतशिल्पो व्यसने दण्डनाद्युपकारापकारयोर्दृष्टप्रतिकारी ह्रीमान् आपत्प्रकृत्योर्विनियोक्ता दीर्घदूरदर्शी देशकालपुरुषकारकार्यप्रधानः सन्धिविक्रमत्यागसंयमपणपरच्छिद्रविभागी संवृतादीनाभिहास्यजिह्मभ्रुकुटीक्षणः कामक्रोधलोभस्तम्भचापलोपतापपैशुन्यहीनः शक्यस्मितोदग्राभिभाषी वृद्धोपदेशाचार इति।'

(कौ० अर्थ० ६।१)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं, अतः उसका पूर्ण मनुष्य होना अवश्यंभावी है। पर यह 'पूर्णता' किस प्रकार प्राप्त की जाय? कौटिलीय अर्थशास्त्र में इसका प्रतिपादन भी विस्तार से किया गया है।

राजा को ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए, जिससे वह पूर्ण मनुष्य बन सके। विनय या शिक्षण दो प्रकार का होता है, स्वाभाविक और कृतक।[1] अपने प्रयत्न से भी मनुष्य को सिखाया जा सकता है, पर प्रयत्न भी वही सफल होता है, जहाँ पहले से मनुष्य में कुछ क्षमता भी हो। क्रिया पात्र में ही सफल होती है, अपात्र में नहीं।[2] अतः आदर्श राज्य के लिये प्रयत्न द्वारा उसी मनुष्य को तैयार किया जा सकता है, जो स्वयं भी कुछ सामर्थ्य रखता हो, जो वस्तुतः पात्र हो। इसलिये स्वाभाविक रूप से ही होनहार आदमी को उत्तम से उत्तम शिक्षा दी जानी चाहिए। त्रयी और आन्वीक्षकी का अध्ययन इनके पारंगत विद्वानों द्वारा कराया जाय। वार्ता (कृषि, पशुपालन और वाणिज्य[3]) भिन्न भिन्न राजकीय विभागों के अध्यक्षों द्वारा सीखी जाय। और दंडनीति का अध्ययन ऐसे व्यक्तियों द्वारा कराया जाय, जो वक्ता और प्रयोक्ता—दोनों प्रकार के हों।[4] अभिप्राय यह है कि भिन्न भिन्न विद्याओं के प्रामाणिक विद्वानों द्वारा उनका विचारात्मक और क्रियात्मक—उभयविध ज्ञान प्राप्त कराया जाय। अपनी शिक्षा के लिये प्रतिदिन ऐसे विद्वानों का संग किया जाय,

(१) 'कृतकस्स्वाभाविकश्च विनयः॥' (कौ० अर्थ० १।५)
(२) 'क्रिया हि द्रव्यं विनयति नाद्रव्यम्।' (कौ० अर्थ० १।५)
(३) 'कृषिपशुपाल्ये वणिज्या च वार्ता।' (कौ० अर्थ० १।४)
(४) 'त्रयीमान्वीक्षकीं च शिष्टेभ्यः, वार्तामध्यक्षेभ्यः, दण्डनीतिं वक्तृप्रयोक्तृभ्यः।' (कौ० अर्थ० १।५)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो विद्यावृद्ध हों, क्योंकि विनय या शिक्षण विद्वानों के संग से ही हो सकता है।[1] इस प्रकार विद्या-प्राप्ति १६ वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए की जाय।[2]

परंतु केवल विद्या-प्राप्ति से शिक्षा पूर्ण नहीं हो सकती। कौटिल्य के आदर्शपूर्ण मनुष्य के लिये यह आवश्यक है कि उसने काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष का त्याग कर इंद्रियों पर पूर्णतया विजय प्राप्त की हुई है। विद्या-प्राप्ति के लिये भी इस इंद्रिय-जय की अनिवार्य रूप से आवश्यकता है।[3] सब के सब शास्त्र ही इस बात का प्रतिपादन नहीं करते। अपितु इतिहास का अनुभव भी यही बताता है कि इंद्रियों पर विजय प्राप्त किए बिना किसी भी तरह सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। राजा चाहे कितना ही शक्तिशाली और विद्वान् क्यों न हो, उसका राज्य कितना भी विस्तृत क्यों न हो, पर यदि इंद्रियाँ उसके वश में नहीं हैं, तो वह नष्ट होने से बच नहीं सकता।[4] आचार्य चाणक्य ने अपने इस पक्ष को पुष्ट करने के लिये बहुत से प्राचीन उदाहरण दिए हैं और अंत में परिणाम निकाला है कि "ये तथा अन्य बहुत से राजा काम क्रोधादि ६ शत्रुओं के वशीभूत होने के कारण इंद्रियों को

(१) 'अस्य नित्यश्च विद्यावृद्धसंयोगो विनयवृध्यर्थम्, तन्मूलत्वाद्विनयस्य।' (कौ० अर्थ० १।५)

(२) 'ब्रह्मचर्यं चाषोडशाद्वर्षात्।' (कौ० अर्थ० १।५)

(३) 'विद्याविनयहेतुरिन्द्रियजयः कामक्रोधलोभमानमदहर्षत्यागात्कार्यः।' (कौ० अर्थ० १।६)

(४) 'कृत्स्नं हि शास्त्रमिदमिन्द्रियजयः। तद्विरुद्धवृत्तिरवश्येन्द्रियश्चातुरन्तोऽपि राजा सद्यो विनश्यति।' (कौ० अर्थ० १।६)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने वश में न कर सकने के कारण अपने बंधुओं तथा राष्ट्र के साथ विनष्ट हो गए''।[1]

इस प्रकार पूर्ण मनुष्य बनने के लिये विद्याओं का अध्ययन करना, विद्या-विनीत होना और इंद्रियों पर पूरा अधिकार रखना नितांत आवश्यक है। पर राजा के लिये इतने से भी काम नहीं चल सकता। उसे जिस महत्त्वपूर्ण कार्य का संपादन करना है, उसके लिये अधिक क्षमता तथा प्रयत्न की आवश्यकता है। आदर्श राजा अपना कार्य किस ढंग से चलायगा, किस प्रकार अपना जीवन व्यतीत करेगा, इसे कौटिल्य के शब्दों में ही उद्धृत करना अधिक उत्तम रहेगा—"काम, क्रोध आदि छओं शत्रुओं को परास्त कर इंद्रियों पर विजय प्राप्त करे। वृद्ध लोगों के संग द्वारा बुद्धि का विकास करे। गुप्तचरों द्वारा संपूर्ण विषयों पर दृष्टि रखे। कार्य-शील होकर निरंतर प्रयत्नशील रहकर योग और क्षेम का संपादन करे। जनता को 'स्वधर्म' में कायम रखे। विद्या के उपदेश श्रवण करके अपना शिक्षण निरंतर करता रहे। देश की संपत्ति तथा समृद्धि बढ़ाकर लोक-प्रिय बनने का प्रयत्न करे। दूसरों का हित करने में ही अपनी वृत्ति रखे।''[2]

इसी प्रकार "दूसरों की स्त्रियों तथा संपत्ति को कोई भी क्षति न पहुँचावे। स्वप्न में भी भोग विलास का खयाल न करे। झूठ से बचे। अपने वेष में—रहन सहन में—उद्धत

(१) 'एते चान्ये च बहवः शत्रुषड्वर्गमाश्रिताः।
सबंधुराष्ट्रा राजानो विनेशुरजितेन्द्रियाः॥'
(कौ० अर्थ० १।६)

(२) कौ० अर्थ० १।७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न हो। अनर्थकारी कामों से बचे। ऐसे कोई व्यवहार न करे, जो धर्मविरुद्ध हों या जिनमें अनर्थ की संभावना हो। अपनी 'उन्हीं कामनाओं को पूर्ण करने का प्रयत्न करे, जो धर्म और अर्थ के विरुद्ध न हों''।[1] पर इसका यह अभिप्राय नहीं कि कष्ट में अपने जीवन को व्यतीत करे। कष्ट से सदा बचे, कभी दुखी न हो। अपने को सदा सुखी रखे। धर्म, अर्थ और काम—तीनों को समान रूप से सेवन करे, तीनों में समतुलन रखे। इन तीनों में से यदि किसी एक का भी अधिक सेवन किया जाता है, तो केवल शेष दोनों को ही नुकसान नहीं पहुँचता पर अपने को भी हानि पहुँचती है। कारण यह कि धर्म, अर्थ और काम—ये तीनों ही आपस में एक दूसरे पर आश्रित हैं, स्वतंत्र नहीं हैं।[2]

इसमें कोई संदेह नहीं कि यदि कोई मनुष्य आचार्य चाणक्य द्वारा उपदिष्ट उपर्युक्त मार्ग का अवलंबन कर सके, तो वह पूर्णता प्राप्त कर सकता है। आचार्य चाणक्य यही चाहता था कि उसका आदर्श विजिगीषु राजा जीवन में इतनी उच्चता और पूर्णता प्राप्त कर सके। पर साथ ही, वह यह भी अनुभव करता था कि क्रियात्मक दृष्टि से कोई भी व्यक्ति संभवतः इतनी पूर्णता प्राप्त न कर सकेगा। इसी लिये उसने आवश्यकता समझी थी कि मर्यादा स्थापित करने का कोई दूसरा उपाय भी अवश्यंभावी है। जहाँ एक तरफ राजा को पूर्ण आदर्श मनुष्य बनाने का प्रयत्न किया जाय, वहाँ

(१) कौ॰ अर्थ॰ १।७।

(२) 'धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत। न निःसुखः स्यात्। समं वा त्रिवर्गमन्योन्यानुबन्धम्। एको ह्यत्यासेवितो धर्मार्थकामानामात्मनिमितरौ च पीडयति। (कौ॰ अर्थ॰ १।७)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरी तरफ इस बात का भी विधान किया जाय कि यदि राजा भूल करे, तो उसे सावधान किया जा सके; यदि वह मार्ग-च्युत होने लगे, तो उसे सन्मार्ग पर लाया जा सके। यह कार्य या तो आचार्य कर सकता था और या अमात्य-वर्ग।[1]

राजा को सन्मार्ग पर कायम रखने में आचार्य या पुरोहित का बहुत महत्त्व है। राजा चाहे कितना ही पूर्ण और आदर्श मनुष्य क्यों न हो, पर उससे भूल हो सकती है। अतः राजा की सहायता के लिये एक ऐसा व्यक्ति अवश्य होना चाहिए, जो उसे भूलों से सावधान करता रहे। यह महत्त्वपूर्ण कार्य पुरोहित द्वारा किया जा सकता है। इसलिये चाणक्य ने विधान किया है कि एक ऐसे व्यक्ति को पुरोहित के पद पर नियत किया जाय, जो उच्च कुल का हो, उन्नत आचारवाला हो, षडङ्ग वेद, दैव-विद्या, निमित्त-विद्या और दंडनीति में पारंगत हो, दैव और मनुष्य-कृत विपत्तियों का प्रतिकार आथर्वण उपायों से करने में समर्थ हो।[2] "जैसे आचार्य के पीछे शिष्य, पिता के पीछे पुत्र और स्वामी के पीछे भृत्य चलता है, उसी प्रकार इस पुरोहित के कहने के पीछे राजा चले।"[3]

चाणक्य के इन वाक्यों का यह अभिप्राय समझा जा सकता है कि उसके विचारों पर प्राचीन ब्राह्मण-प्रभुता का प्रभाव विद्यमान था। प्राचीनतम काल के बहुत-से नगर-राज्यों

(१) कौ० अर्थ० १ । ७ ।
(२) कौ० अर्थ० १ । ६ ।
(३) 'तमाचार्य्यं शिष्यः पितरं पुत्रो भृत्यस्स्वामिनमिव चानुवर्तेत।' (कौ० अर्थ० १ । ६)

110765
पुस्तकालय गुरुकुल कांगड़ी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में ब्राह्मण जाति या पुरोहितश्रेणी प्रधान थी। ब्राह्मण राज्य के सब नियमों या विधानों से ऊपर थे। इन राज्यों में राजा के अतिरिक्त पुरोहित की बहुत मुख्यता थी और राज्य का रक्षक पुरोहित को ही समझा जाता था।[1] पर कौटिल्य के विचार में पुरोहित को यह प्रमुख स्थान प्राप्त नहीं था। उसे दंड भी दिया जा सकता था। वह दंड से ऊपर नहीं था। अर्थशास्त्र में लिखा है कि "यदि कोई पुरोहित आज्ञा देने पर अछूत को वेद न पढ़ाय या अछूत का यज्ञ कराने से इन्कार करे, तो उसको पद-च्युत कर दे।"[2] यदि पुरोहित को इस प्रकार आज्ञा दी जा सकती थी या इस ढंग से वह पदच्युत किया जा सकता था, तो निस्संदेह वह राजा के ऊपर नहीं था। कौटिल्य ने पुरोहित की यह महिमा या तो प्राचीन परंपरा के प्रवाह में आकर लिख दी है और या सम्राट् चंद्रगुप्त और अपनी स्थिति को सम्मुख रखकर ही यह बात लिखी गई है। चाणक्य चंद्रगुप्त का प्रधान मंत्री और पुरोहित दोनों था। विशाखदत्त के शब्दों में सम्राट् चंद्रगुप्त 'सचिवायत्तसिद्धि' था।[3] इसमें संदेह नहीं कि चंद्रगुप्त चाणक्य द्वारा निर्दिष्ट पथ का उसी प्रकार अनुसरण करता था, जैसे शिष्य आचार्य का, भृत्य स्वामी का या पुत्र पिता का करता है। पर चाणक्य के राजनीतिक विचारों में राजा की स्थिति पुरोहित के इस तरह अधीन न थी। अन्यथा, पुरोहित

---

(१) ऐतरेय ब्राह्मण ८। २५।

(२) 'पुरोहितमयाज्ययाजनाध्यापने नियुक्तममृष्यमाणं राजा अवक्षिपेत्।' (कौ० अर्थ० १। १०)

(३) विशाखदत्त—मुद्राराक्षस, अंक ३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को दंड देने का कुछ अभिप्राय नहीं हो सकता है। फिर, पुरोहित अष्टादश तीर्थों में अन्यतम है और राजा को इन तीर्थों पर अपने गुप्तचरों द्वारा कड़ी निगाह रखनी है।[1] राजा ही इन तीर्थों को नियत करता है।[2] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि चाणक्य के राजशास्त्र में पुरोहित की स्थिति राजा से ऊपर नहीं है। राज्य के संपूर्ण शासन-सूत्र राजा के अधीन हैं। राजा ही राज्य का वास्तविक स्वामी तथा संचालक है और इस महत्वपूर्ण कार्य के संपादन के लिये यह आवश्यक है कि वह पूर्ण तथा आदर्श मनुष्य हो। पर फिर भी उससे भूलें हो सकती हैं। अतः किसी ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता है, जो उसे इन भूलों से सावधान करता रहे। यह व्यक्ति पुरोहित है।

पुरोहित के अतिरिक्त शासन में राजा की सहायता के लिये अमात्य भी होने चाहिएँ। अमात्य राजा को सलाह भी देंगे और शासन-कार्य में उसका हाथ भी बटायँगे। राजकीय कार्य या राजवृत्ति तीन प्रकार की होती है—प्रत्यक्ष, परोक्ष और अनुमेय। राजा जिन बातों को स्वयं देखे, वे प्रत्यक्ष हैं। दूसरों से पूछकर जिन बातों को किया जाय, वे परोक्ष हैं। किए हुए कार्य से न किए हुए कार्य का अनुमान करके जिन कार्यों को किया जाय, वे अनुमेय हैं। अब इस त्रिविध राजवृत्ति में 'परोक्ष' अमात्यों द्वारा संपन्न होता है। ये परोक्ष कार्य क्यों होते हैं और अमात्यों द्वारा इन्हें कराने की क्यों आवश्यकता होती है, इस बात को चाणक्य ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—"सब काम एक साथ तो होते नहीं, फिर

(१) कौ० अर्थ० १। १२।
(२) कौ० अर्थ० ८। १।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्म होते भी अनेक हैं और वे अनेक स्थानों पर होते हैं, अतः यदि राजा स्वयं ही सब कार्यों को करने लगे तो उचित समय और उपयुक्त स्थान का उल्लंघन (अत्यय) हो जायगा, अतः इन परोक्ष कार्यों को अमात्यों द्वारा कराया जाय।"[1] अब यदि वस्तुतः कोई ऐसा उपाय हो, जिससे राजा एक साथ बहुत से काम कर सके और एक समय में अनेक स्थानों पर कार्य कर सके; या राजकीय कार्य ही एक समय में अनेक न हों या एक समय में अनेक स्थानों पर न हों, तो अमात्यों की कोई आवश्यकता न होगी, क्योंकि अमात्यों की आवश्यकता तो 'परोक्ष राजवृत्ति' के लिये ही है। राजवृत्ति का स्वरूप ही ऐसा है कि वह एक व्यक्ति द्वारा संपन्न नहीं हो सकती। उसके लिये सहायक चाहिएँ। "जैसे एक पहिए की गाड़ी नहीं चलती, वैसे ही सहायता के बिना राजा का कार्य नहीं चल सकता।"[2] पर यहाँ ध्यान में रखना चाहिए कि अमात्यों और पुरोहित की आवश्यकता इसलिये नहीं है कि राज्य में उनकी राजा से व्यतिरिक्त कोई पृथक् सत्ता या अधिकार है। उनकी आवश्यकता इसलिये है कि राजा पूर्ण नहीं है, उसमें कुछ आंतरिक त्रुटियाँ हैं, कुछ स्वाभाविक न्यूनताएँ हैं। राजा की इस असर्वशक्तिमत्ता से ही पुरोहित या अमात्यों की आवश्यकता की जाती है।

---

(१) 'अयौगपद्यात्तु कर्मणामनेकत्वात् अनेकस्थत्वाच्च देशकालात्ययो मा भूत् इति परोक्षम् अमात्यैः कारयेत् इति।'

(कौ० अर्थ० १। ६)

(२) 'सहायसाध्यं राजत्वं चक्रमेकं न वर्तते।'

(कौ० अर्थ० १। ७)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कौटिल्य का यही अभिप्राय अर्थशास्त्र के एक अन्य प्रकरण द्वारा भी स्पष्ट होता है। कौटिल्य के अनुसार राजा की शक्तियाँ तीन होती हैं—प्रभाव-शक्ति, उत्साह-शक्ति और मंत्र-शक्ति।[1] इनमें प्रभाव-शक्ति का अभिप्राय है, कोश और सेना की शक्ति। उत्साह-शक्ति से राजा के अपने शौर्य, स्वास्थ्य, शिक्षा, पराक्रम आदि द्वारा उत्पन्न आंतरिक उत्साह का ग्रहण होता है। मंत्र-शक्ति का अभिप्राय उस परामर्श और सलाह से है, जिसे प्राप्त करने में राजा समर्थ होता है। पर ध्यान में रखने की बात यह है कि ये सब शक्तियाँ राजा में निहित हैं। यदि किसी राजा के मंत्री उत्तम हैं, उसकी परामर्श-सभा बड़ी है, तो यह उसकी अपनी शक्ति है, जिसका कि वह अपनी वस्तु की तरह उपयोग कर सकता है। यही कारण है कि इन तीनों शक्तियों में किसका अधिक महत्त्व है, इस बात पर कौटिल्य ने विस्तृत रूप से विचार किया है और उत्साह-शक्ति, प्रभाव-शक्ति तथा मंत्र-शक्ति में पिछली पिछली शक्ति अधिक महत्त्व-पूर्ण है, यह परिणाम निकाला है। कोश, सेना और मंत्री सब राजा के सहायक हैं। जिस प्रकार राजा के लिये उसका अपना उत्साह उपयोगी है, उसी तरह ये भी। ये सब राजा की दृष्टि से एक ढंग की वस्तुएँ हैं।

कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुसार राजा जिन मंत्रियों से सलाह लेता है, जिनके द्वारा उसकी मंत्रिपरिषद् का निर्माण होता है, वे मंत्रिपद पर अपने किसी अधिकार से आरूढ़ नहीं होते। न वे जनता के प्रतिनिधि या स्वाभाविक नेता होने के कारण या जनता के प्रति उत्तरदायी होने के कारण ही

(१) कौ० अर्थ० ६। १।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मंत्रिपद प्राप्त करते हैं। कौटिल्य के अनुसार मंत्री किसे बनाया जाय और किसे नहीं, यह पूर्णतया राजा की इच्छा पर निर्भर है। क्योंकि राजा पूर्ण नहीं है, अतः उसे सहायक की—सलाहकार की—आवश्यकता है, इसी के लिये मंत्री बनाए जाने चाहिएँ और ये मंत्री ऐसे होने चाहिएँ, जिनसे राजा का हित संपादित हो। मंत्रणा के विषय पर अर्थशास्त्र में विस्तार से विचार किया गया है। मंत्रणा के लिये राजा को एक ऐसा भवन बनवाना चाहिए जहाँ से कोई भी खबर बाहर न जा सके, जो गुप्त स्थान पर हो और पक्षी तक जिसे न देख सकते हों।[1] जब तक इस बात का पूरा प्रबंध न कर लिया जाय कि बात-चीत बाहर न निकल जायगी, तब तक मंत्रगृह में प्रवेश नहीं करना चाहिए।[2] जो कोई बात-चीत को खोल दे, उसे मृत्यु-दंड दिया जाय।[3]

पुराने राजतंत्र राज्यों में यह बहुत आवश्यक समझा जाता था कि मंत्रणा गुप्त रहे, इसी लिये आचार्य भारद्वाज का मत था कि सदा अकेला ही राजा आवश्यक कार्यों पर विचार करे, क्योंकि मंत्रियों के भी मंत्री होते हैं और उनके भी अपने। इस प्रकार मंत्रियों की परंपरा मंत्रणा को गुप्त नहीं रहने देती। पर आचार्य विशालाक्ष के ख़याल में अकेले ठीक मंत्रणा नहीं हो सकती। राजवृत्ति या राजकीय कार्य ही ऐसे हैं कि वे प्रत्यक्ष होने के अतिरिक्त परोक्ष और अनुमेय

(१) 'तदुद्देशः संवृतः कथानामनिस्रावी पक्षिभिरप्यनालोक्यः स्यात्।'
(कौ० अर्थ० १। १५)

(२) 'तस्मान्मंत्रोद्देशमनायुक्तो नोपगच्छेत्।'
(कौ० अर्थ० १। १५)

(३) 'उच्छिद्येत मंत्रभेदी।' (कौ० अर्थ० १। १५)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी हैं। अतः परोक्ष तथा अनुमेय राजवृत्ति के लिये मंत्रियों की आवश्यकता है। इसलिये राजा को चाहिए कि बुद्धिमान् व्यक्तियों से मंत्रणा किया करे। किसी को भी नीची निगाह से न देखे, सबकी सलाह सुने। यदि बालक भी कोई काम की बात कहे, तो समझदार आदमी उसे ग्रहण कर ले। पराशर आचार्य इससे भी सहमत नहीं हैं। उनकी सम्मति में इस तरह मंत्रणा तो हो जायगी, पर वह गुप्त न रह सकेगी। इसलिये राजा को जो काम करना हो, उससे उलटा मंत्रियों से पूछे। पर आचार्य पिशुन का खयाल है कि जब इस ढंग से सलाह की जाती है, तब मंत्री लोग विशेष परवाह नहीं करते। इसलिये जिन लोगों से जिन कामों का संबंध हो, उनके विषय में उन्हीं से सलाह ले। ऐसा करने से उचित सलाह भी मिल जाती है और मंत्र की रक्षा भी हो सकती है।[1] इन पुरातन आचार्यों के मत उद्धृत कर अंत में कौटिल्य ने अपनी सलाह दी है। कौटिल्य के मत में राजा को तीन या चार मंत्रियों से सलाह करनी चाहिए। यदि राजा एक मंत्री के साथ परामर्श करे, तो गहन विषयों में किसी परिणाम पर न पहुँच सकेगा। साथ ही, एक मंत्री होने से उसकी महत्ता बहुत बढ़ जायगी, वह यथेष्ट काम करेगा, बेलगाम हो जायगा। यदि दो मंत्री हों, तो मुश्किल यह है कि यदि वे मिल जायँ, तब तो राजा को दबा लेंगे और यदि परस्पर झगड़ें तो काम बिगाड़ देंगे। यदि तीन और चार मंत्री हों तो ये दोष न आवेंगे और सब काम ठीक तरह हो जायगा। यदि मंत्री इनसे अधिक हों, तो किसी एक निर्णय

(१) कौ० अर्थ० १।१४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर पहुँचना कठिन हो जायगा और मंत्र को गुप्त रखना भी संभव न होगा।[१]

कौटिलीय अर्थशास्त्र के इस संदर्भ से स्पष्ट है कि राजा को मंत्रणा की आवश्यकता है, इसी लिये मंत्री चाहिएँ। अन्यथा, मंत्रियों की कोई जरूरत नहीं। मंत्रिपरिषद् का विधान चाणक्य ने अवश्य किया है, पर उसका हेतु केवलमात्र राजा की अपूर्णता है। यदि राजा को पूर्ण बनाया जा सके, तो न उसे पुरोहित की आवश्यकता होगी, न मंत्रियों की और न अमात्यों की। इन सबकी आवश्यकता इसी लिये होती है, क्योंकि राजा पूर्ण नहीं है, सर्वशक्तिमान् नहीं है और राज-वृत्ति पूरी तरह से प्रत्यक्ष नहीं है। वह परोक्ष और अनुमेय भी है।

यदि राजा अपना शासन-कार्य ठीक प्रकार से करता रहे, तब तो कोई समस्या उत्पन्न नहीं हो सकती। जनता उससे संतुष्ट रहेगी, प्रजा उसकी भक्त बनी रहेगी। पर यदि राजा अपने काम में ढील करेगा, तो प्रजा असंतुष्ट होगी, जनता में उपेक्षा का भाव उत्पन्न हो जायगा। "यदि राजा जो न करना चाहिए, उसे करे और जो करना चाहिए उसे न करे, जो नहीं देना चाहिए उसे दे, और जो देना चाहिए उसे न दे, जिसे दंड देना चाहिए उसे दंड न दे और जिसे दंड नहीं देना चाहिए उसे दंड दे, जनता के योगक्षेम में प्रमाद और आलस्य करे, तो जनता का विनाश हो जायगा, उसमें लोभ उत्पन्न हो जायगा और राजा के प्रति उपेक्षा का भाव पैदा

(१) कौ० अर्थ० १। १४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो जायगा।"[1] इसलिये राजा को चाहिए कि वह अपने कार्य में खूब उत्साह रखे, उत्साहपूर्वक अपने कार्य का संपादन करे। "जब राजा कर्मण्य होता है, तब राजकर्मचारी भी कर्मण्य रहते हैं, जब राजा प्रमाद करने लगता है, तब राज-कर्मचारी भी प्रमादी हो जाते हैं अतः राजा को सदा कर्मशील और उत्थानशील होना चाहिए।"[2] कौटिल्य के राजशास्त्र में राजा को मशीन की तरह से काम करना चाहिए। वह क्षण भर के लिये भी ढीला नहीं पड़ सकता। उसके एक एक क्षण का समय-विभाग बना हुआ है। उसमें वह ठीक समय पर काम करता है। सब कार्यों के लिये समय निश्चित है और प्रत्येक कार्य अपने समय पर किया जाता है। उसको सोने के लिये कुल तीन घंटे दिए गए हैं। मौज करने के लिये डेढ़ घंटे का समय दिया गया है, पर आवश्यकता पड़ने पर इस समय में भी मंत्रणा की व्यवस्था की गई है। दिन-रात का शेष संपूर्ण भाग राजकार्यों में व्यग्र होकर ही उसे व्यतीत करना चाहिए।[3] यह सर्वथा उपयुक्त भी है, क्योंकि "कर्मण्यता या उत्थान ही राजा का व्रत है, राज्यकार्य का संपादन ही

---

(१) 'अकार्याणां च करणैः कार्याणां च प्रणाशनैः।
अप्रदानैश्च देयानां अदेयानां च साधनैः॥
अदण्डनैश्च दंड्यानां अदंड्यानां च दंडनैः।
राज्ञः प्रमादालस्याभ्यां योगक्षेमविधावपि।
प्रकृतीनां चयो लाभो वैराग्यं चोपजायते॥'
(कौ० अर्थ० ७। ५)

(२) 'राजानामुत्तिष्ठमानमनूत्तिष्ठंते भृत्याः। प्रमाद्यंतमनुप्रमाद्यंति।'
(कौ० अर्थ० १। १९)

(३) कौ० अर्थ० १। १९।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजा का यज्ञ है, सबके साथ समवृत्ति ही राजा की दक्षिणा है।"[१] और "यदि राजा कर्मण्य नहीं होगा, तो उसका विनाश निश्चित है, जो कुछ प्राप्त है या प्राप्त होना है वह सब अकर्मण्य होने से नष्ट हो जायगा।"[२] इसलिये राजा को चाहिए कि वह सदा कर्मण्य बना रहे, प्रजा का हित-संपादन करता रहे, अन्यथा उसका तथा राज्य का विनाश हो जायगा।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आचार्य चाणक्य के मत में राज्य में राजा का बहुत महत्त्व है। राजा ही वस्तुतः राज्य का संचालक और कर्ता-धर्ता है। यदि राजा न हो, तो राज्य का ठीक प्रकार से संचालन न हो सकेगा। राजा का न होना राज्य के लिये बहुत बड़ी विपत्ति है। इसी लिये यदि कभी राजा पर कोई संकट उपस्थित हो, तो उसका राज्य पर भी बड़ा असर पड़ेगा। समझ लीजिए, राजा भयंकर रूप से बीमार पड़ा है, उसके मरने की पूरी संभावना है, अब क्या किया जाय? या, अन्य किसी कारण से राजा कार्य करने में असमर्थ हो, तो किस ढंग से कार्य को सँभाला जाय? चाणक्य ने इस प्रश्न पर विस्तार से विचार किया है। ऐसे समय में प्रधान अमात्य को विशेष सचेष्टता के साथ कार्य करना चाहिए। राजा की मृत्यु होने की संभावना होते ही प्रधान

---

(१) 'राज्ञो हि व्रतमुत्थानं यज्ञः कर्मानुशासनम्।
दक्षिणा वृत्तिसाम्यं च दीक्षितस्याभिषेचनम्॥'
(कौ० अर्थ० १। १९)

(२) "अनुत्थाने ध्रुवो नाशः प्राप्तस्यानागतस्य च।"
(कौ० अर्थ० १। १९)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अमात्य को चाहिए कि वह जनता को राजा के दर्शन महीने में या दो महीनों में एक बार से अधिक न करवाए। वह लोगों से कहे—"आजकल राजा देश की पीड़ा को दूर करनेवाले, शत्रुओं का विनाश करनेवाले, आयु बढ़ानेवाले या पुत्र देनेवाले कर्मों में लगा हुआ है।" इस बहाने से वह लोगों को यह न मालूम होने दे कि राजा बीमार है या किसी संकट में है। जब बहुत समय गुजर जाय और यह आवश्यक हो कि राजा को जनता के सम्मुख लाया जाय, तब किसी दूसरे आदमी को राजा का वेश पहनाकर उसका दर्शन करा दे। मित्र, शत्रु तथा दूतों के साथ भी यही चाल चली जाय। ऐसे समय में प्रधान अमात्य ही राज्य का संपूर्ण कार्य करता रहे। जो आज्ञाएँ जारी करनी जरूरी हों, उन्हें दौवारिक और आंतर्वंशिक द्वारा राजा के नाम पर प्रकाशित करे। विदेशी इन आदमियों से राजा की तरफ से स्वयं बात करें। इस बीच में धीरे धीरे संपूर्ण शासनभार युवराज पर डालता रहे और जब युवराज पूरी तरह शासनकार्य को सँभाल ले, तब जनता के सम्मुख राजा की मृत्यु के समाचार को प्रगट होने दिया जाय।[1] राजा पर आए संकट को इस प्रकार छिपाने का कारण यही है कि जनता में यह बात मालूम होते ही उथल पुथल मच जाने की संभावना रहती थी। अपने राज्य में विविध सामंत विद्रोह करने की तैयारी शुरू कर देते थे, पुराने संघराज्यों में स्वाधीनता की भावनाएँ क्रिया में परिणत होने की आशा करने लगती थीं, आटविक लोग अव्यवस्था मचाना शुरू कर देते थे। सीमावर्त्ती दुर्गों में षड्यंत्र शुरू हो जाते थे, भिन्न भिन्न राज-

(१) कौ० अर्थ० ५।६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुमार स्वयं राजा होने की फिक्र प्रारंभ कर देते थे। दूसरे राज्यों में—शत्रुदेशों में राजा के संकट से लाभ उठाने के लिये तैयारी प्रारंभ हो जाती थी। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में तूफान आ जाता था। साम्राज्यवादियों में अपनी आकांक्षाओं की पूर्त्ति की संभावना प्रबल हो उठती थी। लोग सोचते थे, मौका आया है, कुछ कर देखो। मौके बार बार नहीं आया करते। "मौके की ताक में बैठे हुए मनुष्य को एक बार ही मौका मिला करता है। यदि वह दुबारा मौका ढूँढ़े, तो मौका उसके हाथ नहीं लगता।"[1] ऐसे समय में प्रधान अमात्य को कैसी विकट परिस्थिति का सामना करना पड़ता होगा, इसकी कल्पना कर सकना कठिन नहीं है। कौटिल्य ने इन सब विपत्तियों की कल्पना कर उनके प्रत्युदाय के साधनों का बड़ा विशद रूप से वर्णन किया है।[2] पुराने ढंग के कुलतंत्र राज्यों (Tribal States) में राजा के बीमार पड़ने या मरते पर इस ढंग से किसी भारी आपत्ति की संभावना न हो सकती थी, क्योंकि इन राज्यों में राज्य का आधार एक व्यक्ति न था। तब शासन श्रेणी, जाति या जनता का होता था। पर अब इन प्रादेशिक राज्यों और साम्राज्यों में राज्य का आधार एक व्यक्ति बन गया था। पुराने छोटे छोटे राज्यों की स्मृति अब भी पूरी तरह नष्ट न हुई थी। गणराज्यों में स्वतंत्रता की भावनाएँ तो अभी काफी प्रबल रूप में विद्यमान थीं। राजतंत्र राज्यों के पुराने राजवंशों के लोग अभी तक अपने अतीत गौरव

(१) 'कालश्च सकृदभ्येति यं नरं कालकांक्षिणम्।
दुर्लभस्स पुनस्तस्य कालः कर्म चिकीर्षतः॥'
(कौ० अर्थ० ५। ६)

(२) कौ० अर्थ० ५। ६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की स्मृति रखते थे। इसी लिये राजा को विपत्ति-ग्रस्त देखते ही वे फिर से अपने अतीत गौरव को पुनः स्थापित करने का स्वप्न देखने लगते थे। सब ओर विद्रोह और अव्यवस्था के चिह्न प्रगट होने लगते थे। आचार्य चाणक्य—जो भारतीय इतिहास में सबसे बड़ा साम्राज्यवादी हुआ है—इस समस्या को खूब समझता था। इसी लिये उसने इस बात की इतनी चिंता की है। निस्संदेह, कौटिल्य के राजशास्त्र में राजा का बहुत ही ऊँचा स्थान है। वह राज्य का आधार है, वह 'एक-राज' और 'एकेश्वर' है। उसके बिना उसके 'चातुरत' साम्राज्य की स्थापना संभव ही नहीं है।

इस प्रकार का 'एकराज' स्वाभाविक रूप से असाधारणतया कर्मण्य होकर, उत्साह तथा उत्थान की शक्ति से संपन्न होकर शासन-सूत्र का संचालन कर सकता था। यदि वह जरा भी ढील करे, गलती करे तो परिणाम क्या होगा? जनता या तो शत्रु से मिल जायगी या विद्रोह कर देगी।[1] जनता की ऐसे राजा में भक्ति इसी कारण तो हो सकती है, क्योंकि वह सम्यक् प्रकार से शासन करता है। अन्यथा जनता उसके पक्ष में क्यों कर हो? कौटिल्य ने इस बात को अपने विजिगीषु राजा को समझाने का खूब प्रयत्न किया है। जनता विद्रोह कर सकती है, शत्रु का पक्ष ग्रहण कर सकती है, किसी समिति को सहायता देकर उसे राजा बना सकती है। यदि राजा प्रमाद करेगा, तो जनता में ये सब प्रवृत्तियाँ जागृत

(१) 'क्षीणाः प्रकृतयो लोभं लुब्धा यांति विरागताम्।
विरक्ता यांत्यमित्रं वा भर्त्तारं घ्नन्ति वा स्वयम्॥'
(कौ० अर्थ० ७।५)

५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो सकेंगी। कौटिल्य ने अपने विजिगीषु को इस बात का भी उपदेश किया है कि जिन शत्रु-देशों में राजा प्रजा के प्रति कल्याणकारी न हो, उनमें जनता को अपने पक्ष में मिलाने का प्रयत्न करे, जनता के वैराग्य या उपेक्षा भाव से लाभ उठावे, गुप्तचरों द्वारा शत्रु-देशों की जनता में राजा के प्रति विरोध-भाव को बढ़ावे।[1] इन उपदेशों का वर्णन करता हुआ चाणक्य यह खूब समझता था कि राजतंत्र राज्यों में राजा की सत्ता और शक्ति राजा के अपने गुणों पर आश्रित है। इसी लिये वह अपने राजतंत्र में राजा को सर्वगुणसंपन्न आदर्शपूर्ण मनुष्य बनाने का प्रयत्न करता था और फिर भी मनुष्य की निर्बलताओं को दृष्टि में रखकर उनके लिये उपायों का उपदेश करता था। राजा के लिये उसका अंतिम सुवर्णीय आदर्श यह है—"प्रजा के सुख में ही राजा का सुख है। प्रजा के हित में ही राजा का हित है। अपने स्वार्थों को पूर्ण करने में राजा का हित नहीं है, उसका हित तो प्रजा के स्वार्थों को पूर्ण करने में ही है।[2]"

---

(१) कौ० अर्थ० १। १४; ७। ५।

(२) 'प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां तु हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्॥'
(कौ० अर्थ० १। १६)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) पैशाची भाषा

[लेखक—श्री सत्यजीवन वर्म्मा, एम० ए०, प्रयाग]

वैयाकरण वररुचि ने अपने 'प्राकृतप्रकाश' के १०वें परिच्छेद में पैशाची प्राकृत के लक्षण लिखे हैं। वररुचि का काल ५वीं शताब्दी ईसवी माना जाता है।

नामकरण

प्राकृतप्रकाश में महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी और शौरसेनी—४ प्राकृतों का उल्लेख है। प्राकृतप्रकाश से प्राचीन अन्य प्राकृत व्याकरण का अभी तक पता नहीं चला है। वररुचि की अन्य तीन प्राकृतें देश-विशेष की प्राकृतें हैं पर पैशाची किस देश की भाषा है इसका कहना कठिन है। रुद्रट (९वीं शताब्दी) ने अपने काव्यालंकार में साहित्य के षट् विभाग करते समय 'पिशाच-भाषा' है उल्लेख किया है। इससे अनुमान होता है कि पैशाची किसी देश-विशेष की भाषा न होकर किसी विशिष्ट जन-समुदाय की भाषा थी जिसे 'पिशाच' कहते थे। राजशेखर (८८०-९२० ई०) ने अपने काव्यमीमांसा में 'भूतभाषा' और 'पैशाच' दोनों का समान अर्थ में प्रयोग किया है। इससे पता चलता है कि भूत या पिशाचों की भाषा को पैशाची कहते थे और इसे कभी कभी 'भूतभाषा' भी कहते थे। दंडी ने (जिसका समय रुद्रट से भी पूर्व माना जाता है) भाषाओं के चार भेद किए हैं—संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्र। इसने प्राकृतों के नाम नहीं गिनाए हैं। साहित्यिक दृष्टि से केवल उनका उल्लेख किया है। इसके अनुसार 'भूतभाषा' में भी काव्य हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकता है और बृहत्कथा नामक अद्भुत ग्रंथ इसी भाषा में है। 'भूतभाषा' से दंडी का क्या तात्पर्य है—यह राजशेखर के उल्लेख से स्पष्ट हो जाता है। 'पैशाची' और 'भूतभाषा' एक ही भाषाएँ थीं। पिशाच, भूत नामक जातियाँ नीच श्रेणी की जातियाँ थीं, यह धनंजय (१०वीं शताब्दी) के दशरूपक से स्पष्ट होता है। धनंजय लिखता है—उसी भाँति पिशाच, नीच आदि लोग तथा अन्य इसी श्रेणी की पैशाची और मागधी का प्रयोग करें।[1]

वात्स्यायन कृत कामसूत्र में (३री शताब्दी ई० पू०) संस्कृत के अतिरिक्त देशभाषा के प्रयोग का उल्लेख आता है।[2]

पैशाची का उल्लेख

ये देश-भाषाएँ कौन कौन थीं इसका पता नहीं है। वात्स्यायन के पूर्व पतंजलि (२री शताब्दी ई० पू०) के 'व्याकरण' महाभाष्य से यह पता चलता है कि उस समय संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृतों का भी प्रचार था। पतंजलि ने संस्कृत से निकले हुए शब्दों को 'अपभ्रंश' का नाम दिया है[3]—आजकल इसी अर्थ में हम 'तद्भव' का प्रयोग करते हैं। पतंजलि के दिए हुए उदाहरणों से हमें इसका प्रमाण मिलता है कि उस समय में अनेक प्राकृतें वर्तमान थीं, पर केवल बोलचाल में।

---

(१) पिशाचात्यन्तनीचादौ पैशाचं मागधं तथा।
यद्देशं नीचपात्रं यत् तद्देशं तस्य भाषितम्॥
(दशरूपक २। ६६)

(२) नात्यंतं संस्कृतेनैव नात्यंतं देशभाषया।
कथां गोष्ठीषु कथयन् लोके बहुमतो भवेत्॥
(कामसूत्र १। ४। ३५)

(३) एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। गौरित्य शब्दस्य गावी, गोणी, गोता गोपोतालिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भरत मुनि ने (दूसरी शताब्दी ई०) अपने नाट्यशास्त्र में संस्कृत के अतिरिक्त सात भाषाओं और अनेक विभाषाओं का उल्लेख किया है। जैसे

भाषा—मागधी, अवंतिका, प्राच्या, शूरसेनी, अर्धमागधी, बाह्लीका और दाक्षिणात्य।[1]

विभाषा—शबर, आभीर, चंडाल, सचर, द्रविड़, उड्र और अन्य वनचर जातियों की भाषाएँ।[2]

भरत के अनुसार प्राकृत तीन प्रकार की हैं—समान-शब्द, विभ्रष्ट और देशी। इनसे तात्पर्य्य तत्सम, तद्भव और देशज से है।[3] आगे चलकर भरत ने भाषा और विभाषा दो भेद किए हैं। विभाषा को वह प्राकृत से भिन्न समझते हैं। वे लिखते हैं[4]—

शबराणां शकादीनां तत्स्वभावश्च यो गुणः।
सकारभाषा योक्तव्या चंडाली पुक्कसादिषु॥ ५३॥

यहाँ यह स्पष्ट है कि चंडाली नाम की कोई भाषा थी जो विभाषाओं में गिनी जाती थी।

---

(१) मागध्यवन्तिजा प्राच्या शूरसेन्यर्धमागधी।
बाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्तभाषाः प्रकीर्तिताः॥
(४८ अध्याय १७)

(२) शबराभीरचंडालसचरद्रविडोद्रजाः।
हीना वनेचराणां च विभाषा नाटके स्मृताः॥
(४९ " ")

(३) त्रिविधं तच्च विज्ञेयं नाट्ययोगे समासतः।
समानशब्दैर्विभ्रष्टं देशीमतमथापि वा॥
(३ " ")

(४) देखो नाट्यशास्त्र अध्याय १७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वररुचि (५ वीं शताब्दी ई०) ने अपने प्राकृतप्रकाश के १० वें परिच्छेद में पैशाची का व्याकरण दिया है। वररुचि ने चार प्राकृतों का उल्लेख किया है—महाराष्ट्री, मगधी, शौरसेनी और पैशाची। पैशाची के विषय में वररुचि लिखते हैं—इसकी प्रकृति शौरसेनी है।[1]

भामह (छठी शताब्दी का अंत) लिखता है—शब्द और अर्थ से काव्य होता है। यह गद्य और पद्य दो प्रकार का होता है। इसके तीन भेद हैं—संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश।[2] भामह के अपभ्रंश के अंतर्गत पैशाची भी आती है। दंडी के अनुसार साहित्य चार भाषाओं में होता है—संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्रभाषा में।[3] संस्कृत दैवी भाषा है, तत्सम, तद्भव तथा देशी अनेक प्राकृतें हैं।[4] आभीर आदि जातियों की भाषा अप्रभ्रंश कहलाती है। संस्कृत काव्य में सर्ग होते हैं, प्राकृत में स्कंध, अपभ्रंश में आसार, नाटक दोनों (मिश्र) में होते हैं।[5] कथा सब भाषाओं में होती

(१) पैशाची ॥ १ ॥ प्रकृतिः शौरसेनी ॥ २ ॥
(परिच्छेद १०)

(२) शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद्द्विधा
संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा ॥
(काव्यालंकार १ । ३६)

(३) तदेतद्वाङ्मयं भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा ।
अपभ्रंशश्च मिश्रञ्चेत्याहुरार्य्याश्चतुर्विधम् ॥
(काव्यादर्श १ । ३२)

(४) संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः ।
तद्भवस्तत्समो देशीत्यनेकः प्राकृतक्रमः ॥
(” ” १ । ३३)

(५) संस्कृतं सर्गबन्धादि प्राकृतं स्कन्धकादिकम् ।
आसारादीन्यपभ्रंशो नाटकादिषु मिश्रकम् ॥
(” ” १ । ३७)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं—अद्भुत अर्थवाली 'बृहत्कथा' भूतभाषा में है।[1] दंडी ने कई प्राकृतों के नाम गिनाए हैं—महाराष्ट्र की भाषा शौरसेनी, गौड़ी, लाटी तथा अन्य इसी भाँति।[2] दंडी ने पैशाची में भी साहित्य का होना लिखा है, यह तो स्पष्ट है। पैशाची को दंडी प्राकृतों में स्थान देते हैं वा नहीं यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। पर पैशाची का प्रयोग बृहत्कथा जैसे अपूर्व ग्रंथ में हो चुका था यह निश्चय है। हम आगे चलकर देखेंगे कि बृहत्कथा से पैशाची वा भूतभाषा के प्रयोग की समाप्ति सी हो गई है।

रुद्रट ने, जिसका समय ९ वीं शताब्दी माना जाता है, अपने काव्यालंकार में लिखा है—भाषा के अनुसार काव्य के छः भेद संभव हैं—संस्कृत, प्राकृत, मागध, पिशाचभाषा, शौरसेनी और अपभ्रंश।[3] रुद्रट ने पैशाची को भी साहित्यिक दृष्टि से एक भाषा माना है। इसका संबंध प्राकृतों से जान पड़ता है।

राजशेखर ने, जिसका समय १० वीं शताब्दी का प्रारंभ है, अपनी काव्यमीमांसा में कई स्थानों पर पैशाची वा भूतभाषा का उल्लेख किया है। राजशेखर के मतानुसार

---

(१) कथादिसर्वभाषाभिः संस्कृतेन च बध्यते।
भूतभाषामयीं प्राहुरद्भुतार्थां बृहत्कथाम् ॥ ३८ ॥

(२) महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।......१, ३४ ॥
शौरसेनी च गौड़ी च लाटी चान्या च तादृशी।
याति प्राकृतमित्येवं व्यवहारेषु सन्निधिम् ॥ १, ३५ ॥

(३) भाषाभेदनिमित्तः षोढा भेदोऽस्य संभवति ॥ २, ११ ॥
प्राकृत संस्कृत मागध, पिशाचभाषाश्च शौरसेनी च ॥२, १२॥
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः ॥ २, १२ ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पैशाची—काव्यपुरुष का 'पद' है।[1] इससे स्पष्ट है कि राजशेखर ने पैशाची को अन्य भाषाओं में सबसे नीचा स्थान दिया है। दूसरी बात यह है कि 'पैशाची' को राजशेखर ने प्राकृत और अपभ्रंश से पृथक् भाषा माना है, क्योंकि काव्यपुरुष के अंगों को यह संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, पैशाची और मिश्र भाषाओं से अभिव्यक्त करता है।[2] आगे वह लिखता है—एक ही अर्थ एक कवि द्वारा संस्कृत में अच्छी तरह व्यक्त किया जा सकता है, दूसरे से प्राकृत में, तीसरे द्वारा अपभ्रंश में और अन्य से भूतभाषा में।[3] सुकवि, जिसकी बुद्धि सबमें प्रपन्न है, अपनी कीर्त्ति से जगत् को भर देता है।[4]

राजशेखर को भूगोल का अच्छा ज्ञान था। उसमें रुचि भी थी। उसने पैशाची का देशनिर्णय भी किया है। वह लिखता है—गौड़ के लोग संस्कृत का प्रयोग करते हैं, लाट देशवाले प्राकृत में अभिरुचि रखते हैं, मरु (मारवाड़), टक्क (पूर्व पंजाब) और भदानक (?) के लोग अपभ्रंश का प्रयोग करते हैं। अवंति, पारियात्र और दशपुर के लोग भूतभाषा का प्रयोग करते हैं।[5] इससे स्पष्ट है कि राजशेखर के समय में अवंति

(१) शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुखं, प्राकृतं बाहुः, जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ उरो मिश्रम्। (काव्यमीमांसा पृ० ६)

(२) देखो वही।

(३) एकोऽर्थः संस्कृतोक्त्या स सुकविरचनः प्राकृतेनापरोऽस्मिन्।
अन्योऽपभ्रंशगीर्भिः किमपरमपरे भूतभाषाक्रमेण ॥
(काव्यमीमांसा पृ० ४८,)

(४) यस्येत्थं धीः प्रपन्ना स्नपयति सुकवेस्तस्य कीर्तिर्जगन्ति ॥

(५) गौडाद्याः संस्कृतस्थाः परिचितरुचयः प्राकृते लाटदेश्याः।
सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च ॥
आवन्त्याः पारियात्राः सह दशपुरजैर्भूतभाषां भजन्ते।
(काव्यमीमांसा पृ० ५१।)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(मध्यमालव), पारियात्र (पश्चिम विंध्यदेश), दशपुर (उत्तर-मालव) में भूतभाषा वा पैशाची का प्रचार था।

राजशेखर ने पैशाची को अपभ्रंश के बाद स्थान दिया है। ऐसा ही वाग्भट्ट का भी मत है। वाग्भट्ट का समय ई० १०९३-११४३ माना गया है। उसने काव्य के चार विभाग संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और भूतभाषा के अनुसार किए हैं।[1]

धनंजय के पूर्व के लेखकों के अनुसार 'पैशाची' अथवा 'भूतभाषा' नीच लोगों की भाषा जान पड़ती है, चाहे ये लोग किसी स्थान में बसे हों। धनंजय के कथन से पता चलता है कि वह पैशाची को एक देश-विशेष की भाषा मानता है। वह लिखता है—'इसी प्रकार पिशाच, अत्यंत नीच लोग और अन्य उसी श्रेणी के पैशाची और मागधी का प्रयोग करें। **जिस देश का नीच पात्र हो उसी देश की भाषा का वह प्रयोग करे।**' इससे यही मानना पड़ेगा कि प्रत्येक देश में नीच श्रेणी के लोग वहाँ की पैशाची का व्यवहार करते थे। अर्थात् प्रत्येक देश की अलग अलग पैशाची थी—यह कहना पड़ेगा। मागधी का भी प्रयोग ऐसे ही लोग करते थे।[2] राजशेखर के अनुसार अवंति, दशपुर

पिशाच देश

(१) इसके अनुसार भूतभाषा यह है—

यद् भूतैरुच्यते किंचित् तद् भौतिकम् इति स्मृतम्।

(वाग्भटालंकार—२, १—३)

(२) "In like manner Pisacas, very low persons and the like are to speak Paishachi and Magadhi. Of whatever region an inferior character may be of that region his language is to be"—(Dashrupaka—translation by Hass. 2. 99)

६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और पारियात्र के लोग भूतभाषा का अधिक प्रयोग करते थे।[1] अतः राजशेखर के समय में उज्जैन, मालवा, पश्चिम विंध्यदेश में पैशाची का अधिक प्रयोग था। राजशेखर लिखता है "दक्षिणतो भूतभाषाकवयः"—दक्षिण में भूतभाषा के कवि हैं। राजशेखर के 'दक्षिण' से भारत का दक्षिण न समझना चाहिए। वह कन्नौज को केंद्र मानता है और उसका दक्षिण मालव देश होता है। पैशाची का स्थान वही प्रांत होता है जो हमारी पश्चिमीय हिंदी का है।[2] लक्ष्मीधर, जिनका समय १६ वीं शताब्दी ईसवी होता है, 'षट्भाषा-चंद्रिका' में लिखते हैं—पांड्य, केकय, वाह्लीक, सिंहल, नेपाल, कुंतल, सुदेष्ण, भोट, गंधार, हैव और कन्नौजन देश पिशाच देश हैं।[3] मार्कंडेय (१७ वीं शताब्दी ई०) ने तीन देशों में पैशाची का प्रयोग बतलाया है; उनके अनुसार उसने उसका भेद इस प्रकार किया है—कैकेय, शौरसेन, पांचाल।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि उपर्युक्त देशों का भौगोलिक नाम पिशाच नहीं था वरन् भाषा की प्रयोगदृष्टि से वे पिशाच देश माने गए हैं।

(१) देखो पृ० ४०

(२) देखो नागरीप्रचारिणी पत्रिका भाग २
(पुरानी हिंदी—गुलेरी)

(३) एते पिशाचदेशाः—
पाण्ड्यकेकयवाह्लीकसिंहनेपालकुन्तलाः।
सुदेष्णभोजगान्धारहैवकन्नौजनास्तथा ॥ २६ ॥
एते पिशाचदेशाः स्युस्तद्देश्यस्तद्गुणो भवेत्।
पिशाचजातमथवा, पैशाचीद्वयमुच्यते ॥ ३० ॥
(षट्भाषाचंद्रिका पृ० ४)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डाकृर ग्रियर्सन ने यह प्रमाणित करने की बड़ी चेष्टा की है कि पिशाच मानव जाति के लोग थे। उनका कथन है—पैशाची वा भूतभाषा पिशाच वा भूतों की भाषा थी इसमें संदेह नहीं। उनका निवास पहले किसी देश-विशेष में था। क्रमशः उनके आगे बढ़ने और अन्य स्थानों में बस जाने पर उनके स्थान भी भिन्न भिन्न हुए। ऐसा मानना युक्तिसंगत जान पड़ता है। अब प्रश्न यह है कि पिशाच थे कौन?

पिशाच कौन थे ?

पिशाच का संस्कृत रूप 'पिश्शासिन्' और प्राकृत पिसाजा (हेमचंद्र १,१७७) पिसास वा पिसला (हेमचंद्र १,१९३) होता है। परवर्त्ती संस्कृत लेखकों के अनुसार 'पिशाच' लोग राक्षस थे जो कच्चा मांस खाते थे। इन्हें भूत भी कहा है।[1] यह नाम वेदों में अनेक स्थल पर आया है—इसी अर्थ में—राक्षस तथा असुर शब्दों का भी प्रयोग हुआ है।[2] राक्षसों और असुरों के भी यही लक्षण माने गए हैं जो भूतों के। यद्यपि ये कल्पित व्यक्ति हैं पर इनकी कल्पना तथ्य पर स्थित है। महाभारत में 'नर-भक्षियों' के अर्थ में इनका अनेक स्थलों पर उल्लेख है। उदाहरणार्थ—

(१) उनकी विवाहपद्धति की निंदा। [१,२९६५;१३,२४१२]

(१) देखो Lacote, Essays on Brihat-katha, p. 49, 51.

(२) देखो Paisaci, Pisacas and modern Pisaca by Dr. Griesson page 19 (Reprint Z. D. M. G. Vol LXVI)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) उनकी व्यूह-रचना विशेष प्रकार की होती है। [६,५००६]

(३) वे पूर्व पंचनद में स्थित खांडव वन में रहते हैं। [१,८२६३]

(४) उनकी स्त्रियों के एक गीत का उल्लेख। [३,१०५२०]

(५) पांडवों की सेना में उनका होना। [६,२०८३]

(६) पार्वतीयों, दाशेरकों, काशमीरकों, आसुरकों, समुद्रलों के साथ साथ उनका (पिशाचों का) कृष्ण द्वारा नाश किया जाना। [७,३६८]

(७) शाक, काम्बोज, बाह्लोक, यवन, पारद, कुलिंग, तंगन, अंबष्ठ, बर्बर तथा अन्य पार्वतीय जातियों की सेना के साथ साथ उनका भी दुर्योधन द्वारा नियंत्रण किया जाना। [७,४८१६]

(८) राक्षस और पिशाच हिमवान् की रक्षा करते हैं। [८,२१०४]

(६) सरस्वती के तट पर धार्मिक पिशाचों का रहना। [६,२१४०-४६]

(१०) उनका क्षत्रियों की भाँति यज्ञ करना। [१२,६५५,६६६०]

(११) जब युद्ध में मरे अन्य योद्धाओं की आत्माएँ अपने अपने स्थान को जाती हैं तब पिशाचों की आत्मा 'उत्तर कुरु' को लौटती है। [१५,६०४]

(१२) पश्चिम पंचनद के वासी वाह्लीक लोग पिपासा तट पर रहनेवाले पिशाचों के वंशज हैं। [८,२०६४]

(१३) पिशाचों के अनेक भेद। [१३,१३६७]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१४) उत्तर पश्चिम प्रांतों के रहनेवाले—दरद, खस, शक्, यवन, आदि के साथ उनका उल्लेख। [७,३६८]

महाभारत में उल्लिखित 'पिशाच' से जातिविशेष का आभास मिलता है। अनेक स्थलों पर जैसे उदाहरण नं० १४ में पिशाचों की गिनती दरद, खस आदि जातियों के साथ की गई है। दरद आदि जातियाँ कल्पित नहीं थीं। अतः क्या यह संभव नहीं है कि पिशाच नामक जाति भी कल्पित न हो वरन् उन्हीं उल्लिखित जाति की भाँति वह भी उसी प्रदेश (उत्तर-पश्चिम हिमालय प्रदेश) की रहनेवाली हो ? डाक्टर ग्रियर्सन का कहना है—

"I consider myself justified in maintaining that the Mahabharat does on several occasions refer to people whom it calls "Pisacas"........as well as the names of the tribes together with whom they are listed, invariably indicates that Pisacas inhabited North-Western India or the Himalayan mountains immediately adjoining"[1]

अर्थात् महाभारत में पिशाचों से अनेक स्थलों पर मनुष्य-जाति से तात्पर्य्य है तथा जहाँ उनका उल्लेख जिन जातियों के साथ हुआ है उससे यह पता चलता है कि ये लोग उत्तर-पश्चिम हिमालय प्रदेश में वा उसके पास बसते थे।

इसके विरुद्ध अध्यापक फेलिक्स लाकोते (Prof. Felix Lacote) लिखते हैं—

(१) देखो Grierson—Paisaci, Pisacas and modern "Pisaca," page 68. Z. D. M. G. Vol. LXVI.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"To believe that at any time peoples more or less savage have really been called Pisacas is an illusion ; the word in Saushkrit was always synonymous with 'Bhuta' The Pisacas mentioned in the Mahabbarata [VII, 121, 14] belong to an imaginary geography : The Yavanas, Paradas, Kalingas, Tanganas, Ambasthas, but just before the more vague classes of the barbarians and hill men. In that text the word Paisaca simply means' savages' in general.[१]

सारांश यह कि—यह विश्वास कि अधिक या कम असभ्य लोग कभी 'पिशाच' नाम के थे भ्रमात्मक है। संस्कृत में यह शब्द 'भूत' का पर्यायवाचा था। महाभारत में उल्लिखित 'पिशाच' लोग कल्पित प्रदेशों के रहनेवाले थे। जहाँ कहीं उनका उल्लेख वास्तविक जातियों के साथ आया है (जैसे यवन आदि) वहीं उनका उल्लेख अनिश्चित असभ्य और पहाड़ी जातियों के साथ हुआ है। महाभारत में इस शब्द का अर्थ साधारणतः 'असभ्य' है। आगे चलकर लाकोते (Lacote) महोदय लिखते हैं—

"I am willing to admit that sometimes man-eaters have been called Pisacas, but that the

(१) देखो Essays or Gunadhya and the Brihat Katha by Prof. Felix Lacote—translated by Rev. A. M. Tabbard, Page 39—Published by the Mythic Society, Bangalore.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

generic term, used as a proper name is meant to designate some special tribe of the North-West, is less probable.[१]

ग्रियर्सन महोदय यह प्रमाणित करना चाहते हैं कि पिशाच लोग कल्पित व्यक्ति नहीं थे, वे किसी समय मध्य एशिया में रहते थे और पीछे चलकर उनका स्थान उत्तर-पश्चिम हिमालय प्रदेश हुआ। इसकी पुष्टि में वे कई बातों पर जोर देते हैं।[२] उनका कहना है कि महाभारत में 'पिशाच' शब्द कई स्थलों पर 'यक्षों' के साथ प्रयुक्त हुआ है। जातकों में 'पिशाच' नाम तो नहीं आया है पर उनके संबंध में वे ही बातें कही गई हैं जो पिशाचों के विषय में औरों ने लिखी हैं। कल्हण ने राजतरंगिणी में 'यक्ष' शब्द का प्रयोग पिशाच के अर्थ में किया है।[३] आजकल भी 'दरद प्रदेश' में 'भूतों' के लिये 'यक्ष' शब्द का व्यवहार मिलता है।[४] विष्णुपुराण के अनुसार पिशाच, यक्ष और राक्षस सभी कश्यप के पुत्र थे। कश्यप काश्मीर के विधाता माने गए हैं। पिशाच की माता का नाम 'क्रोठा', तथा यक्ष और राक्षस की माता का नाम 'खसा' था।[५] डाक्टर

(१) देखो "Essays on Gunadhya by Felix Lacote," Page 39.

(२) देखो Dr. Grierson Pisaca, etc., p. 67—70,

(३) राजतरंगिणी—

आद्येन चन्द्रदेवेन शमितो यक्षविप्लवः।
द्वितीयेन तु देशेस्मिन्दुःसहो भिक्षुविप्लवः॥

१४८ प्रथमतरंग॥

(४) देखो Leitner Dardistan Pt., III,

(५) देखो ग्रियर्सन Pisaca ete., Page 70.,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रियर्सन का कहना है कि 'खस्' से हम 'खस्' जाति का संबंध स्थापित कर सकते हैं—यह जाति अभी तक काश्मीर और कमायूँ के बीच के हिमालय प्रदेशों में बसती है।[1]

नीलमत पुराण का समय ११ वीं शताब्दी ई० माना जा सकता है, इस पुराण में लिखा है—

नाग लोग सतीसार में रहते थे। शिव ने इस झील का पानी सुखा दिया और काशमीर को उत्पन्न किया। नील के पिता कश्यप तब उसे बसाने लगे। उन्होंने उसमें देवताओं, देवियों और नागों को बसाया। उनकी इच्छा वहाँ मनुष्यों को भी बसाने की थी परंतु नागों ने इसका विरोध किया। इस पर कश्यप ने उन्हें शाप दे दिया और उन्हें पिशाचों के साथ रहने पर विवश किया। नील ने अपने पिता को मनाया तब कश्यप ने कहा—[2]

एवं उक्तः स नीलेन ऋषिः परमधार्मिकः।
उवाच वचनं चारु कश्यपोऽथ प्रजापतिः ॥ २६२ ॥
वालुकार्णवमध्ये तु द्वीपः षट्योजनायतः।
तत्र सन्ति पिशाचा ये दैत्ययक्षाः सुदारुणाः ॥ २६३ ॥
तेषां तु निग्रहार्थाय पिशाचाधिपतिर्बली।
निकुम्भनामा धर्मात्मा कुवेरेण तु योजितः ॥ २६४ ॥
चैत्र्यां याति सदा योद्धुं पिशाचैर्बहुभिः सह।
पंचकोट्यः पिशाचानां निकुंभस्यानुयायिनाम् ॥२६५॥

---

(१) देखो ग्रियर्सन Pisaca, etc., पृ० ७०

(२) यह अवतरण ग्रियर्सन ने अपने लेख Pisaca पृ० ७१ पर उद्धृत किया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गत्वा निकुंभस्तैस्सार्धं षट्मासान् युद्ध्यते सदा ।
तत्र कोट्यश्च पंचैव पिशाचानां दुरात्मनाम् ॥ २६६ ॥
येऽधिकाः कोटिदशकान्नाशमायांति ते सदा ।
पक्षयोरुभयोर्नील षट्भिर्मासैः सदैव तु ॥ २६७ ॥
निकुंभः पुनरायाति पंचकोटिवृतो बली ।
शुक्लाश्वायुक् पंचदश्यां नित्यं देवप्रसादतः ॥ २६८ ॥
हिमाचले तु षट्मासान् वसत्येष सदा सुखी ।
अद्यप्रभृति षण्मासाँस्तस्येह वसतिर्मया ॥ २६९ ॥
दत्तेति सहितास्तेन ससैन्येनेह वत्स्यथ ।
षण्मासान् मानवैः सार्धं निकुंभे निर्गते सदा ॥ २७० ॥
एवं उक्तस्तदा नीलः पितरं चाह धार्मिकः ।
नित्यमेव हि वत्स्यामो मनुष्यैः सहिता वयम् ॥ २७१ ॥
न पिशाचैस्तु वत्स्यामो दारुणैर्दारुणप्रियैः ।
एवं ब्रुवति नागेन्द्रे नीलं विष्णुरभाषत ॥ २७२ ॥
विष्णुः—मुनिवाक्यं तु भविता नीलैवं तु चतुर्युगम् ।
ततः परं तु सुखिनो मनुष्यैः सह वत्स्यथ ॥ २७३ ॥
अल्पवीर्याः पिशाचाश्च भविष्यन्तीह सर्वदा ।
वीर्योपेता गमिष्यन्ति षण्मासान् बालुकार्णवम् ॥ २७४ ॥
नागस्य यस्य ये स्थाने निवसिष्यन्ति मानवाः ।
ते तं सम्पूजयिष्यन्ति पुष्पधूपानुलेपनैः ॥ २७५ ॥
नैवेद्यैर्विविधैर्गव्यैः प्रेक्षादानैश्च शोभनैः ।
त्वयोक्तं च सदाचारं पालयिष्यन्ति ये जनाः ॥ २७६ ॥
तत्र देशे धान्यपुत्रपशुपौत्रसमन्विताः ॥

[इति नीलमते विष्णुवरदान-नागपूजाविधानवर्णनम् । अध्याय २३]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऊपर के उद्धरणों से पता चलता है—

(१) निकुंभ पिशाचों का राजा था।

(२) बालुकार्णव में एक द्वीप में वे रहते थे। बालुकार्णव (बालू के समुद्र) से नीलमत का आशय किसी मरुभूमि से है। संभव है, उनका आशय मध्य एशिया के बालुकामय प्रदेश से हो। बालुकार्णव द्वीप से तात्पर्य्य किसी रसा (oasis) से है।

ग्रियर्सन साहब पिशाचों और यक्षों को एक मानते हैं और उनका कथन है कि वे भी नरमांसभोजी थे। उत्तर-पश्चिम पहाड़ी प्रांतों में प्रचलित नरमांसभोजियों की दंत-कथाओं के आधार पर वे कहते हैं कि यही प्रदेश उनका निवासस्थान था।[1] उनका अनुमान है कि पिशाच नितांत कल्पित व्यक्ति नहीं थे। वरन् आर्यों ने अनार्यों वा विदेशी आर्यों के लिये इस शब्द का प्रयोग किया है—

ग्रियर्सन महोदय के विचारों का सारांश यह है—

(१) पिशाच लोग वास्तविक व्यक्ति थे। वे कच्चा मांस खाते थे।

(२) यह नाम ऐसी अन्य जातियों के लिये भी प्रयुक्त किया गया जिनमें अनार्यों के लक्षण दिखाई पड़े।

(३) महाभारत से प्रमाण मिलता है कि ये लोग उत्तर-पश्चिम पहाड़ी प्रदेशों में रहते थे।

(४) पिशाच लोग किसी समय मध्य एशिया की मरुभूमि में रहते थे। क्रमशः वे काफीरिस्तान में आ बसे।

---

(१) देखो ग्रियर्सन Pisacá, etc. पृ०, ७३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(क) हार्नली महोदय का मत है कि पैशाची निम्नश्रेणी की प्राकृत है जो द्रविड़ जातियों के द्वारा बोली जाती थी। वास्तव में यह आर्य भाषा है पर अनार्यों द्वारा व्यवहृत होने से यह विकृत हो गई और इसका नाम पैशाची पड़ा।

पैशाची पर भिन्न भिन्न मत

(Hoernle Gaudian Grammar XI)

(ख) सेनार्ट का मत है कि पैशाची उस समय की प्रचलित भारतीय भाषा थी। वररुचि के समय में उसका वही रूप था जो अपभ्रंश का था। पीछे के वैयाकरणों ने उसमें विभेद किया है।

(Inscription de Piyadasi II, 501 note)

(ग) पिशल् का मत है कि पैशाची स्वतंत्र प्राकृत थी जिसका प्रचार भारत के उत्तर-पश्चिम प्रदेशों में था।

(Grammatik der Prakrit Sprachen, 28)

(घ) अध्यापक लाकोते (Lacote) का मत है कि गुणाढ्य की पैशाची किसी आर्यभाषा से निकली थी जिसका प्रचार उत्तर-पश्चिम वा पश्चिम में था परंतु यह अनार्यों के व्यवहार में थी।

(Essays on Gunadhya Brihat Katha).

(ङ) कोनो (Konow) का विचार है कि पैशाची आर्यभाषा है पर इसका व्यवहार द्रविड़ (अनार्य) लोग करते थे।

(The Home of Paisaci Z. D. M. G. LXIV, 112)

(च) ग्रियर्सन महोदय का मत ऊपर दिया जा चुका है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पैशाची भाषा में कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। संभवतः पैशाची भाषा में साहित्य-रचना ही कम हुई। पैशाची में ही गुणाढ्य ने 'बृहत्कथा' की रचना की थी ऐसा दंडी के लिखने से पता चलता है; पर इस 'कथा' का अब केवल संस्कृत अनुवाद उपलब्ध है। इस कथा को छोड़ इस भाषा का किसी अन्य ग्रंथ में प्रयोग हुआ था या नहीं इसका कहीं उल्लेख भी नहीं मिलता है।

पैशाची साहित्य

तिब्बतियों का कथन है कि उनके यहाँ 'स्थविर' लोग अपने धर्मग्रंथों को पैशाची भाषा में लिखते थे।[1] वास्तव में पैशाची भाषा में इनके धर्मग्रंथ थे इसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है। लाकोते महोदय का मत है कि पैशाची से तात्पर्य सबसे निम्न श्रेणी की भाषा से है। तिब्बतियों के अन्य तीनों संप्रदायों में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश का प्रयोग था—'स्थविर' लोग सबसे नीची श्रेणी के माने जाते थे, अतः उनका 'पैशाची' भाषा में धर्मग्रंथों का लिखना कहा गया।[2]

हेमचंद्र ने भी अपने व्याकरण में तीन प्रकार की पैशाची का उल्लेख किया है—पैशाची और चूलिका पैशाचिका के दो भेद। चूलिका पैशाची का केवल एक ही उदाहरण हेमचंद्र ने दिया है।[3] और कहीं कोई प्रमाण नहीं है जिससे यह कहा जा सके कि पैशाची भी साहित्य की भाषा थी। इसमें संदेह नहीं कि यह बोलचाल में अवश्य प्रयुक्त होती थी।

(१) देखो लाकोते Essay on Brihat Katha, p. 37.
(२) देखो वही पृष्ठ ३७।
(३) देखो Grammatik der Prakrit Sprachen Pischal IV 326

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सेनार्ट महोदय का कहना है कि संभवतः पैशाची से तात्पर्य अपभ्रंश से था। वररुचि ने अपभ्रंश का उल्लेख न कर केवल पैशाची का उल्लेख किया है—संभव है, उस समय अपभ्रंश के ही अर्थ में वररुचि ने 'पैशाची' का प्रयोग किया हो—आगे चलकर अपभ्रंश नाम पड़ने पर उसका उल्लेख अन्य वैयाकरणों ने किया है।[1]

पैशाची और वैयाकरण

प्राचीनतम वैयाकरण वररुचि ने अपने प्राकृतप्रकाश के १० वें अध्याय में पैशाची के नियम दिए हैं। वररुचि ने पैशाची का केवल एक रूप दिया है। उनके पश्चात् हेमचंद्र ने तीन प्रकार की पैशाची का उल्लेख किया है। आगे चलकर मार्कंडेय ने तीन प्रकार की नागर वा शिष्ट पैशाची का उल्लेख किया है—कैकेय, शौरसेन और पांचाल। उनके मत से कैकेय की उत्पत्ति संस्कृत से है। शौरसेन और पांचाल—शौरसेनी प्राकृत से हैं। इनके अतिरिक्त मार्कंडेय ने अनेक असाहित्यिक अपभ्रंशों (पैशाची) का उल्लेख किया है—कांची देशीय, पांड्य, मागध, गौड़, व्राचड़, दाक्षिणात्य, शबर और द्रविड़।

पैशाची के लक्षण

वररुचि ने पैशाची के कुल १४ सूत्र दिए हैं। उनके सूत्रों पर 'भामह' ने वृत्ति लिखी है। उन नियमों का सारांश नीचे दिया जाता है[2] —

(१) देखो ग्रियर्सन Pisaca, page 75.

(२) प्राकृतप्रकाश—कोवेल संपादित अध्याय १०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१) पैशाची—पिशाचों की भाषा पैशाची है।

(२) उसकी प्रकृति शौरसेनी है।

(३) वर्ग के तीसरे और चौथे वर्ण के स्थान में पहला और दूसरा हो जाता है। जैसे—

गगनम् = गकनम्; मेघः = मेखो; राजा = राचा; निर्झर-णिच्छरो; वडिश = वटिसं; दशवदनो = दसवतनो; माधवो-माथवो; गोविंदो = गोपिंतो; केशव = केसयो; सरभस = सर-फस; शलभ = सलफो।

यदि संयुक्त वर्ण हो तो नहीं, जैसे—

संग्राम = संगाम; व्याघ्र = वग्घो।

(४) 'इव' शब्द का 'पिव' होता है।

कमलमिव मुखम् = कमलं पिव मुखं।

(५) 'ण' का 'न' होता है। जैसे—

तरुणी = तलुनी।

(६) 'ष्ट' का 'अट' होता है। जैसे—

कष्टं = कसटं।

(७) 'स्न' का 'सन' होता है। जैसे—

स्नानं = सनानं; स्नेहो = सनेहो।

(८) 'र्य' का 'रिअ' होता है। जैसे—

भार्या = भरिआ।

(९) 'ज्ञ' का 'ञ्ज' होता है। जैसे—

विज्ञात = विञ्जातो; सर्वज्ञ = सव्वञ्जो।

(१०) 'कन्या' शब्द में 'न्य' का 'ञ्ज' होता है। जैसे—

कन्या = कञ्जा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(११) 'ज्ज' का 'च्च' होता है। जैसे—

कार्यम् (सं०)—कज्जम् (शौर०) = कच्चम् (पैशा०)

(१२) राजन् शब्द तृतीया, पंचमी, षष्ठी और सप्तमी में विभक्ति (एकवचन) लगने के पूर्व 'राचि' होता है। जैसे—राचिना, रञ्जा, रचिनो, रञ्जा; राचिनि, रञ्जि।

(१३) 'क्त्वा' प्रत्यय के स्थान में 'तून' होता है। जैसे—

हातूनं, कातूनं, घेतूनं।

(१४) 'हृदयं' का हितअकं होता है।

विचारणीय बातें

अब हमें विचार करना है कि वास्तव में (१) पैशाची कौन सी भाषा थी, (२) इसका संबंध क्या पिशाच जाति से है, (३) इसमें साहित्य न होने का क्या कारण है, और (४) प्राचीन समय में इसका प्रचार कहाँ था, इत्यादि।

'पैशाची' से तात्पर्य

राजशेखर ने पैशाची को भाषाओं में सबसे नीचा स्थान दिया है। राजशेखर की इस व्यवस्था से मुझे विश्वास होता है कि उसका तात्पर्य भूतभाषा वा पैशाची से असंस्कृत असाहित्यिक देशभाषा से है। राजशेखर के समय में शिष्ट समाज की तीन साहित्यिक भाषाएँ थीं—संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश। 'भूत-भाषा' वा बोल चाल की गँवारू भाषा में भी कुछ ग्राम्य कवि कविता करते रहे होंगे, इसी से राजशेखर ने भूतभाषा को भी काव्य की चौथी भाषा माना है। राजशेखर ने काव्य-पुरुष के चरण को पैशाची माना है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूतभाषा निम्नश्रेणी के लोगों की भाषा थी, इसकी पुष्टि में हमें राजशेखर से पुनः सहायता मिलती है। काव्यमीमांसा में राजा के कवि-समाज की व्यवस्था कैसी होनी चाहिए, इस पर इस प्रकार लिखा है।[1]

राजा का कर्तव्य है कि 'कवि-समाज' का आयोजन करे। इसके अधिवेशन के लिये एक भवन बनना चाहिए जिसमें सोलह खंभे, चार द्वार और आठ मत्तवारणी (अटारियाँ) हों। इसी में लगा हुआ राजा का क्रीड़ा-गृह रहेगा। सभा के बीच में चार खंभों को छोड़कर एक हाथ ऊँचा एक चबूतरा होगा। उसके ऊपर एक मणि-जटित वेदिका हो। इसी वेदिका पर राजा का आसन होगा। इसके उत्तर की ओर संस्कृत भाषा के कवि बैठेंगे। यदि एक ही आदमी कई भाषा में कविता करता हो तो जिस भाषा में उसकी अधिक प्रवीणता होगी वह उसी भाषा का कवि समझा जायगा। जो कई भाषाओं में बराबर प्रवीण है वह, उठ उठकर, जहाँ चाहे बैठ सकता है। इन (संस्कृत कवियों) के पीछे वैदिक, दार्शनिक, पौराणिक, स्मृतिशास्त्री, वैद्य, ज्योतिषी, इत्यादि हों। पूरब की ओर प्राकृत भाषा के कवि—इनके पीछे नट, नर्तक, गायन, वादक, वाग्जीवन ('वाक्' किंवा 'बोलने' से जिनकी जीविका हो Professional Lecturer, आजकल के उपदेशक), कुशीलव, तालावचर (ताल देनेवाला—तबला या मृदंगवाला) इत्यादि हों। पश्चिम की ओर अपभ्रंश भाषा के कवि हों—इनके पीछे चित्रकार, लेपकार, मणि जड़नेवाले, जौहरी, सोनार, बढ़ई, लोहार इत्यादि हों। दक्षिण की ओर पैशाची भाषा के

(१) देखो काव्यमीमांसा पृ० ५४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवि—इनके पीछे वेश्या-लंपट, वेश्या, रस्सों पर नाचनेवाले, जादूगर, जंभक (?) पहलवान, सिपाही इत्यादि।[1]

राजशेखर ने सभा-भवन का ऐसा विधान किया है कि प्रत्येक भाषा के कवि के पीछे उस भाषा के जाननेवाले लोग बैठें। इसी के अनुसार पैशाची भाषा के कवियों के पीछे वेश्या-लंपट, वेश्या, रस्सों पर नाचनेवाले आदि बैठते थे। इससे स्पष्ट है कि ये निम्न श्रेणी के लोग थे। इनमें प्रायः सभी अशिक्षित होंगे।

भूतभाषा निम्न श्रेणी के लोगों की भाषा थी। इसका अनुमोदन 'वाग्भट्ट' ने भी किया है। उसने भूतभाषा को संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश के पश्चात् स्थान दिया है। रुद्रट ने 'पिशाचभाषा' को भी साहित्य की एक भाषा माना है। दंडी ने साहित्य की तीन भाषाएँ बताई हैं—संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश। वह लिखता है—संस्कृत देववाणी है। प्राकृतों के कई भेद हैं। तद्भव, तत्सम और देशी अनेक प्राकृतें हैं। आभीर आदि की बोली अपभ्रंश है। आगे चलकर दंडी लिखते हैं—"कथा सब भाषाओं में होती है, संस्कृत में भी होती है। अद्‌भुत अर्थवाली बृहत्कथा भूतभाषा में है।" यहाँ ऊपर दंडी ने भाषाओं में कहीं भूतभाषा का उल्लेख न कर एकाएक भूतभाषा का उल्लेख क्यों किया? इस पर विचार करने से यही कहना पड़ता है कि कदाचित् दंडी का तात्पर्य प्राकृतों के अंतर्गत 'देशी' से हो। और उस समय देशो' प्राकृत को लोग 'भूतभाषा' समझते रहे हों। तो क्या दंडी के समय भूतभाषा से तात्पर्य 'देशी' (वा निम्न श्रेणी की गँवारू ?) प्राकृत से था ?

(१) देखो 'कविरहस्य'—डाक्टर गंगानाथ झा पृ० ७३—७२। (हि० एकेडेमी)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ पर एक बात ध्यान देने की यह है कि दंडी ने आभीर आदि की भाषा को पृथक् अपभ्रंश नाम दिया है अतः 'देशी प्राकृत' वा भूतभाषा से तात्पर्य निम्न श्रेणी के लोगों की स्थानीय देशज भाषा से हो सकता है जिसे गँवारू कह सकते हैं। पर यह प्राकृत ही थी।

दंडी के पूर्व भामह ने भूतभाषा या पैशाची की साहित्यिक भाषाओं में गणना नहीं की है। इसका कारण यही हो सकता है कि उस समय उसका साहित्य न होगा। भामह ने केवल काव्य में प्रचलित भाषा के अनुसार संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश का उल्लेख किया है। वररुचि ने प्राकृतों का व्याकरण रचते समय 'पैशाची' को प्राकृतों में स्थान दिया है। उसमें 'अपभ्रंश' का उल्लेख नहीं किया है। जान पड़ता है, वररुचि इसे प्राकृत नहीं मानता। ऐसा करना उचित भी है; क्योंकि अपभ्रंश की गणना प्राकृतों में नहीं हो सकती—उसे उनसे भिन्न भाषा मानना पड़ेगा। दंडी ने इसी से उसे आभीरों आदि की वाणी कहा है।

वररुचि ने मागधी और पैशाची दोनों प्राकृतों की प्रकृति शौरसेनी मानी है; और शौरसेनी की प्रकृति वह संस्कृत मानता है। वररुचि और दंडी दोनों ने महाराष्ट्री को प्रधान प्राकृत माना है जिससे स्पष्ट है कि उस समय महाराष्ट्री साहित्य की शिष्ट भाषा रही होगी। यह निश्चय है कि शौरसेनी आदि भाषाओं का प्रचार साहित्य में उतना नहीं था जितना महाराष्ट्री का। दंडी का कहना है—

शौरसेनी च गौडी च लाटी चान्या च तादृशी।
याति प्राकृतमित्येवं व्यवहारेषु सन्निधिम्॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि दंडी इन भाषाओं की साहित्यिक प्रधानता पर उतना जोर नहीं देता। इसके 'तादृशो' प्राकृतों में 'भूतभाषा' को भी स्थान मिल सकता है। स्मरण रहे, अपभ्रंश को दंडी स्वयं प्राकृतों से भिन्न भाषा मानता है।[1] रुद्रट ने भी पैशाची को प्राकृतों ही में स्थान दिया है[2] और अपभ्रंश के अनेक भेद गिनाए हैं—जैसे—नागर, उपनागर, द्राविड़, टक्क, मालवी, पंचाली, कालिंदी, गुर्जरी, वैतालिकी, कांची, आभीरी, शबरी इत्यादि। रुद्रट दंडी के पीछे हुए हैं। चंड ने प्राकृत लक्षण में आर्ष प्राकृत के नियम दिए हैं। चंड ने प्राकृत तीन प्रकार की मानी है—संस्कृतयोनि संस्कृतसमं, और देशी प्रसिद्धम्। पैशाची और मागधी का भी उल्लेख उसमें आया है। चंड का समय ६ठीं शताब्दी के आसपास माना जा सकता है।[3] चंड ने अपने व्याकरण में आर्ष प्राकृत के नियम दिए हैं। 'आर्ष' से चंड का वही तात्पर्य जान पड़ता है जो हेमचंद्र का 'पुराण' से है।[4] इसके विश्लेषण से यह पता चलता है कि चंड ने अपने व्याकरण में—प्राकृत, मागधी, पैशाची और अपभ्रंश के नियम दिए हैं। प्राकृत से तात्पर्य्य महाराष्ट्री, शौरसेनी और अर्धमागधी से है।[4]

---

(१) दंडी ने लिखा है—आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः।

(२) देखो पीछे पृष्ठ ३९ का ३ और षट्भाषाचंद्रिका p. 289 (Notes)

(३) देखो Introduction to भाविसत्तकहा by Dalal, p. 63. (G. O. S.)

(४) Introduction—Prakrit Lakshan, by Hoernle.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पीछे के वैयाकरणों ने 'महाराष्ट्री' का अर्थ लिखा है। लक्ष्मीधर षड्भाषाचंद्रिका में लिखते हैं—

षड्विधा सा प्राकृतं च शौरसेनी च मागधी।
पैशाचीचूलिका पैशाच्यपभ्रंश इति क्रमात् ॥ २६ ॥
तत्र तु प्राकृतं नाम महाराष्ट्रोद्भवं विदुः।
शूरसेनोद्भवा भाषा शौरसेनीति गीयते ॥ २७ ॥

दंडी ने भी लिखा है—

'महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।'

रुद्रट ने भी भाषा का उल्लेख करते समय 'प्राकृत, संस्कृत, मागध, पिशाचभाषाश्च शौरसेनी च' लिखा है। यहाँ भी प्राकृत से तात्पर्य महाराष्ट्री से है।

आधुनिक व्याकरण-लेखकों में (१) हेमचंद्र ने भाषा के भेद बतलाते हुए पैशाची को प्राकृतों में स्थान दिया है—

जैसे—महाराष्ट्री, मागधी, शौरसेनी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश। यहाँ पर पैशाची के दो भेद किए गए हैं—एक पैशाची जो शिष्ट भाषा है, दूसरी बोलचाल की।

(२) शेषकृष्ण ने अपनी प्राकृतचंद्रिका में पाँच प्राकृतों का उल्लेख किया है—प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची। भाषा-भेद में छठा नंबर उसने अपभ्रंश का रखा है जिसके अनेक भेद हैं और उसका नाटकों में प्रचार भी नहीं है।[1]

---

(१) अपभ्रंशस्तु यो भेदः षष्ठः सोत्र न लक्ष्यते।
देशभाषादितुल्यत्वान्नाटकावदर्शनात् ॥
अनत्यन्तोपयोगाच्चातिप्रसंगभयादपि ॥
(प्राकृतचंद्रिका)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३) मार्कंडेय ने प्राकृतसर्वस्व में भाषाओं के निम्न-लिखित भेद किए हैं—

(क)

प्राकृत [तीन प्रकार की]

- तत्सम, तद्भव, देश्य
  - भाषा
  - विभाषा
  - अपभ्रंश
  - पैशाच

(ख)

भाषा [पाँच प्रकार की]

- महाराष्ट्री
- शौरसेनी
- प्राच्या
- आवंतिका
- मागधी

(ग)

विभाषा [पाँच प्रकार की]

- शावरी
- चांडाली
- शाकारी
- आभीरिका
- टाक्की

(घ)

अपभ्रंश [तीन प्रकार की]

- नागर
- व्राचड़
- उपनागर

(ङ)

पैशाच [तीन प्रकार की]

- कैकेय
- शौरसेन
- पांचाल

यहाँ कुछ बातों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१) पैशाची को मार्कंडेय ने तद्भव प्राकृत का भेद माना है—अर्थात् पैशाची तद्भव प्राकृत है जो देशी से भिन्न है।

(२) पैशाची के देशानुसार तीन भेद हैं—कैकेय, शौरसेन, पांचाल।

(३) मार्कंडेय ने पैशाची को भाषा (प्राकृत) का भेद नहीं माना वरन् विभाषा और अपभ्रंश से स्वतंत्र एक तद्भव प्राकृत माना है। किसी अंश में यह भी मानना पड़ेगा कि उसने पैशाची को अपभ्रंश के पश्चात् स्थान दिया है। यहाँ यह स्पष्ट है कि चांडाली का पैशाची से कुछ भी संबंध नहीं है, वरन् वह विभाषा का एक भेद है।

अब हमें भरत मुनि के मत को लेकर देखना चाहिए कि सब से प्राचीन और नूतन मत में पैशाची के विषय में कितना सामंजस्य है।

भरत मुनि अपने नाट्यशास्त्र के १७वें अध्याय में नाटक में प्रयोज्य भाषाओं पर विचार करते हैं, उसका सारांश यह है[1]। भरत मुनि लिखते हैं—

संस्कृत के विषय में मैं कह चुका, अब प्राकृत के विषय में कहता हूँ—(१) संस्कृत से भिन्न संस्कार-गुण-रहित कई प्रकार की प्राकृतें हैं। (२) नाटक में तीन प्रकार की होती हैं—समान शब्दवाली, विभ्रष्ट, और देशी। (३) इसके पश्चात् उन्होंने उन नियमों का उल्लेख किया है जिनसे संस्कृत से प्राकृत में परिवर्तन होता है। इन नियमों में सभी प्राकृतों के नियम हैं, पैशाची के भी नियम वर्तमान हैं।[2]

(१) नीचे सारांश में कोष्ठक के भीतर मूल श्लोक की संख्या दी है।
(२) उदाहरणार्थ—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब देशभाषा के विषय में कहते हैं (२४) संस्कृत और प्राकृत भाषा भी चार प्रकार की होती है जिसका प्रयोग नाटक में होता है (२५) अभिभाषा (अतिभाषा ?), आर्यभाषा (अर्धभाषा ?), जातिभाषा और जात्यंतरी भाषा। (२६) अभिभाषा[1] देवों की भाषा है, आर्यभाषा राजाओं की, यह संस्कार किए हुए शब्दों से युक्त होती है और प्राम्य में प्रतिष्ठित होती है (२७) **जातिभाषा के अनेक भेद हैं।** इसका प्रयोग दिखाया जा चुका है, इसमें म्लेच्छों के शब्दों का भी व्यवहार होता है जो भारत में रहते हैं (२८)—जो जात्यंतरी भाषा[2] है वह ग्राम, अरण्य के पशुओं से उत्पन्न है।

चारों वर्णों के प्रयोग में आनेवाली जाति भाषा दो प्रकार की कही है—संस्कृत और प्राकृत (३०)।

इसके आगे भरत मुनि ने यह बतलाया है कि कौन प्राकृत का प्रयोग करे कौन संस्कृत का—(३१—४३)। मनुष्य की सब जातियों के लोगों के लिये भी नाटक में भाषा का प्रयोग होवे पर बर्बर, किरात, आंध्र, द्रविड़ आदि जातियों के लिये नहीं

श्लोक ११ में जो 'शषोःसः' से मिलता है। } देखो षट्भाषा-
,, १३ में जो 'नो णनोः' से मिलता है। } चंद्रिका पैशाची पृष्ठ २५७

(१) अतिभाषा और अभिभाषा दोनों पाठ है—यथा (१) अतिभाषार्थभाषा च (२) अभिभाषा तु देवानाम्।

(नाट्यशास्त्र १७—२६)

(२) मूल यह है—अथ या जात्यन्तरी भाषा ग्रामारण्यपशूद्भवा।
नाना विहंगजा चैव नाट्यधर्मी प्रयोगजा ॥ २९ ॥
(नाट्यशास्त्र अध्याय १७)

पाठ भ्रमात्मक होने से अर्थ स्पष्ट नहीं है।—लेखक।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४४)। इन सब उच्च जातियों के लिये नाटक में 'भाषा' का प्रयोग होना चाहिए। (४५) शौरसेनी का आश्रय लेकर नाटक में भाषा की रचना हो अथवा प्रयोग करनेवाले (कवि) के इच्छानुसार किसी भी 'देशभाषा' का प्रयोग हो (४६) क्योंकि नाटक में सब देशों से संबंध रखनेवाली कविता होती है। (४७)

मागध, अवंतिका, प्राच्या, शूरसेनी, अर्धमागधी, बाह्लीका, दक्षिणात्या—ये सात **भाषाएँ** हैं। (४८) शबर, आभीर, चंडाल, सचर, द्रविड़, ओड्र तथा अन्य नीच वनचर जातियों की वाणी—नाटक में **विभाषा** मानी गई हैं। (४९)

नरेंद्र, अंत:पुरवासी लोग मागधी का प्रयोग करें—श्रेष्ठ, राजपुत्र तथा नौकर लोग अर्धमागधी का (५०), विदूषक प्राच्या का; धूर्त अवंतिका का; नायिकाएँ तथा उनकी सखियाँ शूरसेनी का प्रयोग करें (५१), योधा, नागर लोग दक्षिणात्य का, बाह्लीका—उदीच्य (उत्तर के रहनेवाले) खस लोगों की अपनी भाषा है। (५२)

शबर, शक आदि तथा उसी स्वभाव के अन्य 'सकार' भाषा का प्रयोग करें; पुक्वस (?) आदि चांडाली का। (५३) कोयला फूँकनेवाले, व्याध, लकड़ी का काम करनेवाले, तथा यंत्र बनानेवाले और वन में रहनेवालों के लिये 'शबर भाषा' का प्रयोग हो। (५४) गाय, भेड़, घोड़ा, ऊँट इत्यादि चरानेवाले के लिये 'आभीरी' वा 'शाबरी' का प्रयोग हो; द्रविड़ों के लिये द्राविड़ी का। (५६)

सुरंग, (?) खनक (?) आदि, शौंडिक (?), रचि (?), व्यसन में, नायकों द्वारा आत्मरक्षा में मागधी (५६) बर्बर,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किरात, आंध्र, द्रविड़ आदि जातियों के लिये भाषा का प्रयोग नाटक में न हो।[1] (५७)

ऊपर के सारे कथन का सारांश यह है :—

(१) संस्कारगुण-रहित, नाना देशों की भाषा प्राकृत है।

(२) उसके तीन भेद हैं—समान शब्द (तत्सम), विभ्रष्ट (तद्भव) और देशी।

(३) 'देशभाषा'[2] भाषाओं से मिलती जुलती देश की भाषा थी। 'भाषा' सात हैं। ये ही भिन्न भिन्न साहित्य की प्राकृतें थीं।

(४) विभाषा अनेक हैं। इनका संबंध अनेक जातियों से है जो प्रायः नीची श्रेणी की हैं।

भरत मुनि की भाषाओं में कहीं 'पैशाची' का नाम नहीं है। इसके दो कारण हो सकते हैं। या तो उसका संबंध विभाषाओं से है या 'देशभाषाओं' से। 'देशभाषा' से भरत मुनि का तात्पर्य देशी प्राकृतों से है जिनमें से साहित्य में प्रयुक्त होनेवाली कुछ प्राकृतों को उन्होंने सात भाषाओं में गिनाया है। भरत मुनि स्वयं लिखते हैं कि नाटक में शौरसेनी का आश्रय लेकर भाषा की रचना हो अथवा कवि स्वयं अपने इच्छानुसार

(१) नाट्य-शास्त्र का कोई अच्छा संस्करण उपलब्ध नहीं है। इसकी बड़ी आवश्यकता है। काव्यमाला सीरीज में प्रकाशित नाट्य-शास्त्र का पाठ कहीं कहीं अत्यंत अशुद्ध है। अतः 'अनुसंधान' के कार्य के योग्य नहीं है। परंतु अच्छे संस्करण की अनुपस्थिति में इसी से काम चलाना पड़ेगा। यह 'सारांश' उसी संस्करण के आधार पर है। (लेखक)

(२) 'देशभाषा' से वात्स्यायन का भी अभिप्राय प्राकृतों से है। देखो पृ० ३६ का नोट २। उस समय कथा आदि इसी भाषा में होती थीं।

६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देशभाषा का प्रयोग करे; क्योंकि नाटक में सब देश की भाषाएँ होती हैं।[1]

भरत मुनि के मत से भाषा वही है जो मार्कंडेय के मत से। विभाषा भी प्रायः वही हैं। केवल अपभ्रंश और पैशाची में अंतर है। यह स्वाभाविक है। मार्कंडेय के समय में आभीर भाषा विकसित होकर अपभ्रंश हो गई और उसके तीन भेद माने गए। पैशाची को इसके बाद स्थान मिला और मार्कंडेय ने कैकेय, शौरसेन और पांचाल देशों की अपभ्रंश से निम्नतर श्रेणी की भाषा को पैशाची कहा। राजशेखर की 'भूतभाषा' से मार्कंडेय की पैशाची का बहुत कुछ संबंध जान पड़ता है। क्या आश्चर्य्य है यदि यही भाषा पुरानी पश्चिमीय हिंदी का पूर्व रूप हो ?

पैशाची का पिशाचों से संबंध जोड़ने के हेतु ग्रियर्सन महोदय ने बड़ा परिश्रम किया है पर इसकी आवश्यकता सर्वथा प्रतीत नहीं होती। पैशाची किसी जाति-विशेष की भाषा नहीं थी वरन् वह सर्वसाधारण की अपरिष्कृत वाणी थी। जहाँ कहीं की भाषा साहित्य की प्रचलित भाषा के अतिरिक्त साहित्य की भाषा बनने की चेष्टा करती थी उसी को लेखकों ने पैशाची वा भूतभाषा कहा है। वास्तव में 'भूतभाषा' नाम उचित है—भूत, पिशाच पर्य्यायवाची[2] होने के कारण अज्ञानवश लोग उसे

पैशाची और पिशाच

(१) देखो ऊपर सारांश श्लोक नं० (४६)।

(२) भरत मुनि राक्षस, भूत, पिशाच तीनों को एक श्रेणी में रखते हैं। यथा—

रक्षोभूतपिशाचाश्च सर्वे हैमवताः स्मृताः।

(नाट्यशास्त्र १२—१८)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पैशाची भी कहने लगे। 'भूतभाषा' का नामकरण, जान पड़ता है, यों पड़ा कि संस्कृत को देववाणी कहते थे, प्राकृतों वा देशभाषा में साहित्य की भाषा को भाषा, नीच जातियों (जैसे आभीर आदि) की भाषा को विभाषा कहते थे और प्राकृतों में 'देशी' वा 'देश्य' प्राकृत को देववाणी तथा भाषा के विरुद्ध 'भूतभाषा' कहते थे। इसका तात्पर्य्य था निम्न श्रेणी की भाषा से।

पैशाची—प्राकृतों का ही एक भेद थी, यह सिद्ध है। वररुचि ने उसकी प्रकृति शौरसेनी मानी है। इसका प्रचार भी ऐसे ही देशों में था जहाँ 'प्राकृत' ही का प्रचार हो सकता था।

पिशाच सर्वथा कल्पित व्यक्ति थे—इसमें संदेह नहीं। चंडाल आदि मानव जातियाँ थीं; पर इनका संबंध चंडाली आदि विभाषाओं से था, पैशाची से नहीं। पिशाचों के विषय में भरत मुनि लिखते हैं—

रक्षोभूतपिशाचाश्च सर्वे हैमवताः स्मृताः।
हेमकूटे च गन्धर्वा विज्ञेयाः साप्सरोगणाः॥ १८॥

जहाँ इनका प्रसंग आता है वहाँ प्रायः सभी अमानुषी लोग हैं। एक दूसरे स्थान पर ऐसे ही अवसर पर भरत मुनि लिखते हैं—

दैत्याश्च दानवाश्चैव राक्षसा गुह्यका नगाः।
पिशाचा जलमाकाशमसिता वर्णतः स्मृताः॥ २१—८७॥

एक अन्य स्थान पर उनके शिरभूषा के विषय में कहते हैं—

पिशाचोन्मत्तभूतानां तापसानां तथैव च।
अनिस्तीर्णप्रतिज्ञानां लम्बकेशं भवेच्छिरः॥ २१—१२४॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पिशाच जाति अमानुषी थी इसे प्रमाणित करने के लिये अधिक परिश्रम की आवश्यकता नहीं है। यह स्वयं सिद्ध है। यदि भरत मुनि के समय में कोई पिशाच नामक मनुष्य-जाति होती तो उन्होंने उसकी भाषा का अवश्य उल्लेख किया होता। पिशाचों का उन्होंने कई स्थानों पर उल्लेख किया है पर सर्वत्र अमानुषी लोगों के साथ। उनकी कोई विशेष भाषा नहीं मानी है वरन् जिस प्रदेश के वे रहनेवाले माने जाते थे उस प्रदेश की भाषा का वे व्यवहार करते थे। उदाहरणार्थ—पिशाचों का वासस्थान हिमालय माना जाता है अतः उसी प्रदेश की भाषा का वे प्रयोग करेंगे (संभवतः बाह्लीका)।

वररुचि के समय में शौरसेन के आसपास की भाषा क्रमशः साहित्य की भाषा बनने का प्रयत्न कर रही थी, अतः उसने उसे 'पैशाची' कहा और उसे शौरसेनी से भिन्न उसी से संबंध रखनेवाली दूसरी भाषा वा प्राकृत माना। यदि पैशाची 'पिशाचों' की भाषा होती तो वररुचि को हिमालय की किसी भाषा का उल्लेख करना पड़ता क्योंकि पिशाचों का वही देश माना जाता था। पिशाच आकर शौरसेन में बस गए, इस कल्पना की आवश्यकता नहीं। वररुचि के समय में, जान पड़ता है, शौरसेन प्रदेश के आसपास पैशाची और अपभ्रंश दोनों भाषाओं का प्रचार था, क्योंकि आभीर जाति वहाँ आसपास बहुत पूर्व ही से बसती थी। कामसूत्र में वात्स्यायन ने आभीरों और मालवियों की स्त्रियों का उल्लेख किया है।[1] अतः निश्चय है कि उस समय आभीर जाति वहीं बसती थी।

(१) देखो—परिष्वङ्ग......प्रहणन साध्या मालव्य आभीर्यश्च॥
(कामसूत्र २। ५। ८५)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वररुचि के अपभ्रंश का उल्लेख न करने का यही कारण हो सकता है कि उस समय 'अपभ्रंश' भाषा कोई प्रधान भाषा नहीं मानी जा सकती थी। उसकी अपेक्षा 'पैशाची' गण्य थी।

देखने से पता चलता है मानो पैशाची और अपभ्रंश की होड़ चली आती है। कभी एक आगे कभी दूसरी। इसका एक ही कारण हो सकता है—पहले पैशाची प्राकृत क्रम में निम्न श्रेणी की भाषा थी और अपभ्रंश उसके पश्चात् अप्राकृतों में स्थान पाती थी। क्रमशः अपभ्रंश का साहित्य बढ़ा और वह पैशाची से ऊपर उठकर साहित्य की भाषा हो गई। अतः पैशाची अपने प्राचीन अर्थ (बोलचाल) में रही। क्रमशः अन्य प्रदेशों में जब वहाँ की 'भूतभाषा' (स्थानीय बोलचाल की भाषा) कुछ साहित्य की ओर बढ़ी तब लेखकों ने उसका उल्लेख किया। यही कारण है कि हम पैशाची का उल्लेख अनेक प्रदेशों की भाषा के स्थान में पाते हैं।

अपभ्रंश और पैशाची

धनंजय पिशाच और मागध को समान समझता है। राजशेखर अवंति, दशपुर और पारियात्र में भूतभाषा का व्यवहार बतलाते हैं। लक्ष्मीधर पांड्य, कैकय, बाह्लीक, सिंहल, नैपाल, कुंतल, सुदेष्ण, भोट, गंधार, हैव और कन्नौजन देश में इसका प्रचार मानते हैं। मार्कंडेय केवल पांचाल, कैकय और शौरसेन में पैशाची का प्रचार बतलाते हैं। वास्तव में जिस देश की भाषा परिष्कृत नहीं पाई गई और साहित्य में उसका काम पड़ा वा जिस देश की भाषा साहित्यिक नहीं थी उसे पैशाची कह मारा।

पैशाची और अपभ्रंश की होड़ कैसे चली यह देखने योग्य है। अपभ्रंश आभीरों की भाषा थी—धीरे धीरे वह साहित्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की भाषा बनी। जैसे जैसे यह होता गया, पैशाची उसके नीचे स्थान पाने लगी। यह उचित ही था। वररुचि के पश्चात् भामह ने पैशाची को उड़ा ही दिया है। वह केवल संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश मानता है, वास्तव में अपभ्रंश और पैशाची में उसे अधिक अंतर नहीं जान पड़ा। दंडी के समय में पैशाची वा भूतभाषा में गुणाढ्य की कथा वर्तमान थी अतः दंडी उसे भुला न सका पर उसने 'भूतभाषा' को 'तादृशी' प्राकृतों में रखकर अधिक समय नहीं नष्ट किया है। दंडी के समय में अपभ्रंश साहित्य की भाषा हो चली थी। रुद्रट ने पैशाची को भाषाओं में माना है पर उसने अपभ्रंश के अनेक भेद लिखे हैं—जिसे देखने से पता चलता है कि उसकी एक शाखा नागर हो चली थी और उसकी अन्य शाखाओं का प्रचार अनेक प्रांतों में था। विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि रुद्रट के अपभ्रंश के उपभेदों में अनेक तो अपभ्रंश हैं पर कुछ पैशाची भी कही जा सकती है—जैसे पांचाली आदि। भरत मुनि के शब्दों में इनमें प्रायः विभाषाएँ हैं। रुद्रट पैशाची और अपभ्रंश में ठीक ठीक भेद नहीं कर सके हैं। राजशेखर ने पैशाची को अपभ्रंश से नीचा स्थान दिया है। उसके समय में अपभ्रंश का साहित्य अच्छा था। वाग्भट्ट का भी यही मत है। उसने भी उसे अपभ्रंश के बाद स्थान दिया है।

पैशाची साहित्य की अनुपस्थिति

यह सिद्ध है कि पैशाची वा भूतभाषा का साहित्य प्राप्त नहीं है। इसका कारण क्या है? यदि पैशाची में किसी ग्रंथ का उल्लेख मिलता है तो वह गुणाढ्य की बृहत्कथा का, वह भी केवल दंडी के काव्यादर्श में। यदि पैशाची साहित्य की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषा होती तो उसका रूप कहीं न कहीं अवश्य दिखाई पड़ता और उसके व्याकरण भी मिलते। इने गिने वैयाकरणों ने पैशाची के नियम दिए हैं—यदि उसका साहित्य होता तो निश्चय उसका कुछ न कुछ अंश अवश्य प्रकट होता। जान पड़ता है कि पैशाची में कभी साहित्य की रचना हुई ही नहीं, न कभी इसे साहित्य में स्थान मिला। केवल गुणाढ्य ने अपनी बृहत्कथा इसमें रची। संभव है, उसने प्रचलित दंतकथाओं का संग्रह तथा संपादन किया हो, और उसकी भाषा प्रचलित गँवारू ही रखी हो। इसके पश्चात् किसी ने ऐसा नहीं किया। राजशेखर ने 'भूतभाषाकवि' का भी उल्लेख किया है पर कहीं भूतभाषा साहित्य का उल्लेख नहीं है। विचार करने पर यही मानना पड़ेगा कि राजशेखर का तात्पर्य भाषा के उन कवियों से है[1] जो बोलचाल की भाषा में तुकबंदी करते थे। पर वे पढ़े लिखे न थे और उनकी रचनाएँ मौखिक रह जाती थीं। राज दरबार में राजशेखर उन्हें ऐसे लोगों के पास बैठाता है जो इनकी कविता का आनंद उठा सकें; जैसे—वेश्या-लंपट, वेश्या, रस्सों पर नाचनेवाले, जादूगर आदि। यही अवस्था अन्य कालों में रही होगी—इसी कारण पैशाची के साहित्य का लोप है। यदि विचारपूर्वक देखें तो आज-कल भी ऐसी भाषा वर्तमान है जिसे हम 'भूतभाषा' के नाम से पुकार सकते हैं यद्यपि उसका रूप पुरानी पैशाची से भिन्न होगा पर वास्तव में वह 'पैशाची' वा भूतभाषा ही कहलायगी।

---

(१) संभव है, राजशेखर की भूतभाषा हमारी हिंदी का पूर्व रूप रही हो, जिसे पश्चिमी हिंदी कहते हैं। स्वर्गीय पंडित चंद्रधर गुलेरी का यही मत था। (देखो पत्रिका भाग २—पुरानी हिंदी)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसी भाषा में क्या लोग कविता नहीं करते (ग्राम्य गीत ही क्या !) पर उसका साहित्य कहाँ है ?

ऊपर के सारे कथन का सारांश यह है—

उपसंहार

(१) पैशाची का संबंध पिशाच जाति से कुछ नहीं जान पड़ता। पिशाच जाति अमानुषी जाति थी।

(२) पिशाची वा भूतभाषा से तात्पर्य बोलचाल की निम्न श्रेणी की भाषा से था जिसे आजकल की बोली में गँवारू कह सकते हैं।

(३) पिशाची नाम पीछे पड़ा—वास्तव में 'भूतभाषा' नाम था जिससे तात्पर्य उस भाषा से था जो देववाणी (संस्कृत) नहीं थी। इसे लोगों ने देशी, देश्य, विभाषा, देशभाषा आदि नाम से भी अभिहित किया है।

(४) 'पिशाची' अनेक प्रांतों में थी। इससे तात्पर्य वहाँ की असंस्कृत भाषा से है।

(५) अपभ्रंश के विकास तथा साहित्य में पहुँचने पर पिशाची वा पैशाची को नीचा स्थान मिला। अपभ्रंश और पैशाची में इतना कम अंतर था कि कभी कभी ग्रंथकारों को भ्रम भी हुआ है।

(६) जहाँ जहाँ अपभ्रंश की पहुँच नहीं हुई थी वहाँ पैशाची का होना पीछे के ग्रंथकारों ने भी माना है।

(७) पैशाची में साहित्य न होने का यही कारण था कि वह साहित्य की भाषा ही न थी। यदि उसमें कुछ साहित्य भी रहा होगा तो मौखिक, जिसका शेष अब नहीं रह गया। केवल गुणाढ्य की बृहत्कथा इस भाषा में थी। संभव है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह 'ग्राम्य कथाओं' का संग्रह रहा हो जिसमें भूत पिशाचों की कथाएँ रहती थीं। इसका अब केवल संस्कृत अनुवाद वर्तमान है। उसके लोप होने का भी यही कारण हो सकता है कि उस समय का शिक्षित समाज 'भूतभाषा' या गँवारू भाषा में साहित्य पसंद नहीं करता था। यदि ऐसा न होता तो उसके संस्कृत अनुवाद की आवश्यकता कदाचित् न प्रतीत होती।

(८) राजशेखर ने जिस 'भूतभाषा' का उल्लेख किया है उसकी प्रचारभूमि के विषय में यही मानना पड़ेगा कि कदाचित् वही पश्चिमीय हिंदी का प्राचीन रूप था।

(९) 'भूतभाषा' का आजकल भी हम उसी रूप में अपनी प्राचीन बोलियों के लिये प्रयोग कर सकते हैं।

नोट—ये सब बातें अनुसंधानीय तथा विचारणीय हैं। विद्वानों से आग्रह है कि वे इन पर अपना मत प्रकट करने की कृपा करें। इसके पश्चात् ही इस विषय पर कोई मत स्थिर हो सकेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३) जैन काल-गणना-विषयक एक तीसरी प्राचीन परंपरा*

[लेखक—श्री मुनि कल्याणविजय]

काल-गणना संबंधी दो प्राचीन परंपराओं का वर्णन हमने मूल लेख में कर दिया है और उनके विवेचन में उपलब्ध सामग्री का यथेच्छ उपयोग भी कर दिया है, पर मेटर प्रेस में भेजने के बाद हमें इस विषय की एक नई परंपरा उपलब्ध हुई है जिसका संक्षिप्त परिचय इस लेख में दिया जाता है।

कुछ दिन पहले मुझे मालूम हुआ कि कच्छ देश के किसी पुस्तकभांडार में आचार्य **हिमवत्**-कृत "थेरावली" विद्यमान है। मैंने इस प्राकृत भाषामयी मूल **थेरावली** की प्राप्ति के लिये उद्योग किया और कर रहा हूँ, पर अब तक मूल पुस्तक मेरे हस्तगत नहीं हुई, केवल उसका **जामनगर**-निवासी पं० **हीरालाल हंसराज**-कृत गुजराती भाषांतर प्राप्त हुआ है, प्रस्तुत लेख उसी भाषांतर के आधार पर लिखा जा रहा है।

आचार्य **हिमवान्** एक प्रसिद्ध स्थविर थे। प्रसिद्ध अनुयोग-प्रवर्तक **स्कंदिलाचार्य** और **नागार्जुन** वाचक का सत्ता-समय ही इन **हिमवान्** का सत्ता-समय था इसमें कोई संदेह नहीं है; क्योंकि **देवर्द्धिगणि** की **नंदी-थेरावली** में इनका **स्कंदिल** के बाद और **नागार्जुन** के पहले उल्लेख

* यह पूर्व-प्रकाशित लेख का परिशिष्ट है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है और प्रस्तुत **थेरावली** में इनको **स्कंदिल** का शिष्य लिखा है। पर यह निश्चय होना कठिन है कि यह थेरावली प्रस्तुत-हिमवत्कृत है या अन्य कर्तृक। इसमें कई प्राचीन और अश्रुतपूर्व बातें ऐसी हैं जिनका प्राचीन शिलालेखों से भी समर्थन होता है[1], और इन बातों का प्रतिपादन इसमें देखकर इसे प्राचीन मानने को जी चाहता है, पर कतिपय बातें ऐसी भी हैं जो इस **थेरावली** की **हिमवत्**-कर्तृकता में शंका उत्पन्न करती हैं[2], वस्तुतः यह **थेरावली हिमवत्**-कृत है या नहीं यह प्रश्न अभी अनिर्णीत है, इसका निर्णय किसी दूसरे लेख में किया जायगा। यहाँ पर तो इसमें दी हुई काल-गणना और मुख्य मुख्य अन्य घटनाओं का दिग्दर्शन कराना ही पर्याप्त होगा।

थेरावली की विशेष बातें

थेरावली की प्रथम गाथा में भगवान् **महावीर** और उनके मुख्य शिष्य **इंद्रभूति** गौतम को नमस्कार किया गया है और बाद में १० गाथाओं में प्रसिद्ध स्थविरावलियों के क्रम से **सुधर्मा, जंबू, प्रभव, शय्यंभव, यशोभद्र, संभूतिविजय, भद्रबाहु, स्थूलभद्र,** आर्य **महागिरि,**

---

१ राजा **खारवेल** का वंश—इसके बाप दादों के नाम, इसके पुत्र **वक्रराय** और पौत्र **विदुहराय** के नाम इत्यादि अनेक बातों का पता शिलालेखों से मिलता है, इसकी चर्चा उन स्थलों के टिप्पणों में यथास्थान की जायगी।

२ **रत्नप्रभसूरि** द्वारा **उपकेश वंश** की स्थापना का उल्लेख, **विक्रमार्क** और **गर्दभिल्ल** संबंधी घटना, दो तीन जगह **विक्रम संवत्** के प्रयोग वगैरह ऐसी बातें हैं जो इस थेरावली की आर्य्य **हिमवत्**-कर्तृकता में संशय उत्पन्न करती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आर्य्य सुहस्ती और सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध--इन स्थविरों की वंदना की है।

प्रारंभ की मूल गाथा इस प्रकार है—

"नमिऊण वद्धमाणं, तित्थयरं तं परं पयं पत्तं।
इंद्रभूइगणनाहं, कहेमि थेरावलिं कमसो॥ १॥"

गाथा ६ठी में एक महत्त्वपूर्ण बात की सूचना है। स्थविर यशोभद्र के वर्णन में लिखा है कि उनके समय में अतिलोभी आठवाँ नंद मगध का राजा था। देखो निम्नलिखित गाथा—

"जसभद्दो मुणि पवरो, तप्पयसोहंकरो परो जाओ।
अट्ठमणंदो मगहे, रज्जं कुणइ तया अइलोही॥ ६॥"

यशोभद्र का स्वर्गवास इस थेरावली में तथा दूसरी सब पट्टावलियों में वीर-निर्वाण से १४८ वर्ष बीतने पर होना लिखा है। इसी समय की सूचना आठवें नंद के होने की इस गाथा में की है। इस थेरावली में आगे जो निर्वाण से १५४ के बाद चंद्रगुप्त मौर्य का राज्यारोहण लिखा है तथा आचार्य हेमचंद्र ने परिशिष्ट पर्व में निर्वाण से १५५ वें वर्ष में चंद्रगुप्त का जो राजा होना लिखा है उसका इस उल्लेख से समर्थन होता है।

गाथा ७वीं में भद्रबाहु को अंतिम चतुर्दशपूर्वी और सूत्रनिर्युक्तिकार लिखा है।

गाथा ९वीं में आर्य महागिरि को जिनकल्पी और आर्य सुहस्ती को स्थविरकल्पी लिखा है।

गाथा १०वीं में आर्य सुहस्ती के शिष्य युगल सुस्थित सुप्रतिबुद्ध का वर्णन है; इसमें इन दोनों स्थविरों को कलिंगाधिप-भिक्षुराज-सम्मानित लिखा है। देखो आगे की गाथा—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"सुट्ठिय सुपडिवुद्धे, अज्जे दुन्ने वि ते नमंसामि।
भिक्खुराय-कलिंगा-हिवेण सम्माणिए जिट्ठे ॥ १० ॥"

इसके बाद इन्हीं गाथाओं में वर्णित आचार्यों की पट्ट-परंपरा का गद्य में वर्णन किया है, और कौन आचार्य निर्वाण पीछे कितने वर्षों के बाद स्वर्गप्राप्त हुए इसका स्पष्ट निर्देश किया गया है। इन संवत्सरों का उल्लेख हम आगे घटनावली में करेंगे।

यहाँ पर **भद्रबाहु** के स्वर्गवास के संबंध में एक नई बात देखने में आई है। श्रुतकेवली **भद्रबाहु** का स्वर्गवास किस स्थान पर हुआ, इसका वृत्तांत **मेरुतुंगीय अंचल-गच्छ पट्टावली** के अतिरिक्त किसी श्वेतांबर जैन ग्रंथ में मेरे देखने में नहीं आया था। दिगंबर जैन साहित्य में भी इस बात का निर्णय नहीं है। बहुतेरे दिगंबर लेखक इनका स्वर्गवास **मैसूर** राज्य के **हासन** जिले में **श्रवणबेल-गोल** के पास **चंद्रगिरि** नामक पहाड़ी पर हुआ बताते हैं, पर अन्य कतिपय ग्रंथकार इनका स्वर्गवास **अवंति** (मालवा) में हुआ ऐसा प्रतिपादन करते हैं; किंतु हमें इन उल्लेखों पर कोई विश्वास नहीं है; क्योंकि ये उल्लेख **वराहमिहिर** के भाई द्वितीय **भद्रबाहु** को श्रुतकेवली समझकर किए गए हैं, जैसा कि मूल लेख में प्रतिपादित किया गया है। श्रुतकेवली **भद्रबाहु** का स्वर्गवास किस स्थान पर हुआ, इसका वृत्तांत पूर्वोक्त **पट्टावली** के सिवा कहीं भी नहीं मिलने से हम सशंक थे, पर इस थेरावली में इस विषय का स्पष्ट उल्लेख मिल जाने से इस संबंध में अब हमें कोई शंका नहीं रही। इस थेरा-वली के लेखानुसार भी श्रुतकेवली **भद्रबाहु कलिंग** देश में **कुमार** पर्वत पर (आजकल का 'खंडगिरि' जो विक्रम की १०वीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा ११वीं शताब्दी तक **कुमार** पर्वत कहलाता था) ही स्वर्गवासी हुए थे।

थेरावली का शब्दानुवाद इस प्रकार है—

"अंतिम चतुर्दश पूर्वधर स्थविर श्री आर्य **भद्रबाहु** भी **शकटाल** मंत्री के पुत्र आर्य **श्रीस्थूलभद्र** को अपने पट्ट पर स्थापित करके **श्रीमहावीर** प्रभु के बाद १७० वर्ष व्यतीत होने पर पंद्रह दिन का निर्जल अनशन कर कलिंग देश के **कुमार** नामक पर्वत पर प्रतिमा (ध्यान) धारी होकर स्वर्गवासी हुए।"

इसके बाद आर्य **स्थूलभद्र, महागिरि** और **सुहस्ती** का जिक्र है। आर्य **महागिरि** की प्रशंसा में "वुच्छिन्ने जिणकप्पे०" तथा "जिणकप्पपरीकम्म" ये दो प्रसिद्ध गाथाए दी हैं, जिनमें दूसरी गाथा के तृतीय चरण में कुछ पाठांतर है। टीकाओं और दूसरी पट्टावलियों में इसका तृतीय चरण "सिट्ठिघरम्मि सुहत्थी" इस प्रकार है, तब यहाँ पर "कुमरगिरिम्मि सुहत्थी," यह पाठ है। चूर्णियों में जो आर्य **महागिरि** का वृत्तांत मिलता है उससे तो प्रथम प्रसिद्ध पाठ ही ठीक जँचता है, पर यहाँ तो साफ लिखा है कि आर्य **सुहस्ती** ने **कुमार** पर्वत पर आर्य **महागिरि** की स्तुति की थी, इसलिये यह भी एक स्पष्ट मतभेद ही समझना चाहिए।

मगध के राजवंश

आर्य **महागिरि** और **सुहस्ती** का प्रसंग छोड़कर आगे **बिंबिसार** (श्रेणिक) और **अजातशत्रु** (कोणिक) तथा **उदायी, नवनंद** और **मौर्य** राज्य-संबंधी कतिपय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घटनाओं का गद्य में वर्णन किया है जो अवश्य दर्शनीय होने से हम उसका शब्दानुवाद नीचे देते हैं—

"उस काल और समय में, जब कि श्रमण भगवान् महावीर विचरते थे, राजगृह नगर में **बिंबिसार** उपनाम श्रेणिक राजा भगवान् **महावीर** का श्रेष्ठ श्रमणोपासक था, **पार्श्वनाथ** आदि के चरण युगलों से पवित्रित तथा साधु-साध्वियों से सेवित **कलिंग** देश के भूषण समान और तीर्थ-स्वरूप **कुमार कुमारी** नामक दोनों पर्वतों पर उस श्रेणिक राजा ने भगवान् **ऋषभस्वामी** तीर्थंकर का अति मनोहर प्रासाद बनवाया और उसमें **श्री ऋषभदेव** प्रभु की सुवर्णमयी प्रतिमा **सुधर्मस्वामि** द्वारा प्रतिष्ठित कराकर स्थापित की थी। इसके अतिरिक्त **श्रेणिक** ने उन दोनों पर्वतों में निर्ग्रंथ निर्ग्रंथियों के चातुर्मास्य में रहने योग्य अनेक गुफाएँ खुदवाई थीं, जिनमें अनेक निर्ग्रंथ और निर्ग्रंथियाँ धर्म, जागरण, ध्यान, शास्त्राध्ययन और विविध तपस्या के साथ स्थिरतापूर्वक चातुर्मास्य करते हैं।

श्रेणिक का पुत्र **अजातशत्रु** अपर नाम **कोणिक** हुआ जिसने अपने बाप को पिंजड़े में कैदकर **चंपा** को **मगध** की राजधानी बनाया। **कोणिक** भी **श्रेणिक** की भाँति जैनधर्म का अनुयायी उत्कृष्ट श्रावक था। उसने भी **कलिंग** देश के **कुमार** तथा **कुमारी** पर्वत पर अपने नाम से अंकित पाँच गुफाएँ खुदवाईं। पर पिछले समय में **कोणिक** ने अति लोभ और अभिमान में आकर चक्रवर्ती बनने की इच्छा की, जिसके परिणाम स्वरूप उसे कृतमाल देव ने मार डाला।

भगवान् **महावीर** के निर्वाण से ७० वर्ष के बाद **पार्श्वनाथ** की परंपरा के छठे पट्टधर आचार्य **रत्नप्रभ**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने **उपकेश नगर** में १८०००० क्षत्रिय-पुत्रों को उपदेश देकर जैनधर्मी बनाया, वहाँ से **उपकेश** नामक वंश चला।

भगवान् **महावीर** के निर्वाण के बाद ३१ वर्ष बीतने पर **कोणिक**-पुत्र **उदायी** ने **पाटलिपुत्र** नगर बसाया और उसे **मगध** की राजधानी बनाकर वह राज्य का कारोबार वहाँ ले गया।

उस समय में **उदायी** को दृढ़ जैनश्रावक जानकर साधु-वेशधारी किसी दुश्मन ने धर्मकथा सुनाने के बहाने एकांत में ले जाकर मार डाला।

प्रभु **महावीर** के निर्वाण के अनंतर ६० वर्ष व्यतीत होने पर **नंद** नाम के नापितपुत्र को मंत्रियों ने **पाटलिपुत्र** नगर में राज्यासन पर बिठाया। उसके वंश में क्रमशः **नंद** नामक नव राजा हुए। उनमें का आठवाँ **नंद** अत्यंत लोभी था। मिथ्यात्व से अंधे बने हुए उस **नंद** ने **विरोचन** नामक अपने ब्राह्मण मंत्री की प्रेरणा से **कलिंग** देश का नाश किया और तीर्थस्वरूप **कुमार पर्वत** पर **श्रेणिक** राजा के बनवाए हुए **ऋषभदेव** प्रासाद का नाश कर वह उसमें से **ऋषभदेव** की सुवर्णमयी प्रतिमा को उठाकर **पाटलिपुत्र** में ले गया।

महावीर-निर्वाण से १५४ वर्ष बीतने के बाद चाणक्य से प्रेरित **मौर्यपुत्र चंद्रगुप्त** नवें **नंद** राजा को **पाटलिपुत्र** से निकालकर **मगध** का राजा हुआ। **चंद्रगुप्त** पहले जैन श्रमणों का द्वेषी बौद्ध धर्मी था पर पीछे से चाणक्य के समझाने पर वह जैन धर्म का दृढ़ श्रद्धावान् श्रावक हो गया था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अति पराक्रमी **चंद्रगुप्त** ने **सिलीक्कस** नामक यवन राजा के साथ मित्रता करके अपने राज्य का विस्तार किया और अपने राज्य में **मौर्य संवत्सर** स्थापित किया।

भगवान् **महावीर** से १८४ वर्ष व्यतीत होने पर **चंद्रगुप्त** का स्वर्गवास हुआ और उसका पुत्र **बिंदुसार पाटलिपुत्र** के राज्यासन पर बैठा। **बिंदुसार** भी जैनधर्म का आराधक परम श्रावक था। उसने २५ वर्ष तक राज्य किया और वीर निर्वाण से २०८ वर्ष के बाद वह धर्मी राजा स्वर्गवासी हुआ।

निर्वाण से २०९ वर्ष के अंत में **बिंदुसार** का पुत्र **अशोक पाटलिपुत्र** के राज्यासन पर बैठा। **अशोक** पहले जैनधर्म का अनुयायी था, पर राज्यप्राप्ति से ४ वर्ष के बाद उसने बौद्धधर्म का पक्ष किया,[1] और अपना नाम "प्रियदर्शी"[2] रखकर वह बौद्ध धर्म की आराधना में तत्पर हुआ।

अशोक बड़ा पराक्रमी राजा था। उसने अपने अतुल पराक्रम से पृथिवीमंडल को जीतकर **कलिंग, महाराष्ट्र, सौराष्ट्र** आदि देशों को अपने अधीन किया और वहाँ बौद्ध धर्म का विस्तार करके अनेक बौद्ध विहारों की स्थापना की। **पश्चिम पर्वत** तथा **विंध्याचल** आदि में बौद्ध श्रमणों

(१) **महावंश** आदि बौद्धग्रंथों से भी इस बात की पुष्टि होती है। वहाँ लिखा है कि ३ वर्ष तक **अशोक** अन्यान्य दर्शनों को मानता रहा और पीछे से वह बौद्धधर्मी हो गया।

(२) अशोक के प्रसिद्ध शिलालेखों में सर्वत्र इस "प्रियदर्शी" नाम का ही व्यवहार किया गया है। केवल 'मस्की' के एक शिलालेख में "देवानंपियस असोकस", इस प्रकार 'अशोक' नाम का व्यवहार किया गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रमणियों को चातुर्मास्य में रहने के लिये अनेक गुफाएँ खुदवाईं और विविध आसनोंवाली बुद्ध की मूर्तियाँ उनमें स्थापित कीं। **गिरनार** आदि अनेक स्थानों में **अशोक** ने अपने नाम से अंकित आज्ञालेख **स्तूप** तथा खडकों पर खुदवाए; **सिंहल द्वीप**, **चीन**, तथा **ब्रह्मदेश** आदि द्वीपों में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के विचार से **पाटलिपुत्र** में बौद्ध श्रमणों की सभा की और उस सभा की सम्मति के अनुसार राजा **अशोक** ने अनेक बौद्ध श्रमणों को वहाँ (सिंहलादि द्वीपों में) भेजा। **अशोक** जैनधर्म के निर्ग्रंथ-निर्ग्रंथियों का भी सम्मान करता, पर उनका द्वेष कभी नहीं करता था।

अशोक के अनेक पुत्र थे। उनमें **कुणाल** नामक पुत्र राज्य के योग्य था। वह भावी राजा होने की संभावना से अपनी सौतेली माताओं की आँखों का काँटा था, इसलिये **अशोक** ने उसको अपने मंत्रियों के साथ **उज्जयिनी** नगरी में रखा, पर वहाँ पर भी सौतेली माँ के षड्यंत्र से **कुणाल** अंधा हो गया। यह वृत्तांत सुनकर **अशोक** बहुत क्रुद्ध हुआ और उसने उस प्रपंची रानी तथा कतिपय नालायक राजकुँवरों को मरवा डाला और पीछे से **कुणाल** के पुत्र **संप्रति** को अपने राज्य का उत्तराधिकारी बनाया। **महावीर**-निर्वाण से २४४ वर्ष के बाद **अशोक** परलोकवासी हुआ।

संप्रति पाटलिपुत्र में राज्याभिषिक्त हुआ, पर वहाँ रहने में अपने विरोधियों की ओर से शंकित होकर उसने राजधानी **पाटलिपुत्र** का त्याग किया और अपने बाप को जागीर में मिली हुई **उज्जयिनी** में जाकर वह सुखपूर्वक राज्य करने लगा।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके बाद थेरावलीकार ने संप्रति का पूर्वभव-संबंधी वृत्तांत और आर्य सुहस्ती द्वारा उसके जैन धर्म स्वीकार करने का हाल लिखा है, जो अति प्रसिद्ध होने से यहाँ नहीं लिखा जाता है। संप्रति ने जैनधर्म के प्रचारार्थ जो काम किया उसका वर्णन थेरावली के ही शब्दों में नीचे दिया जाता है—

"आचार्यजी (आर्य सुहस्ती जी) ने कहा—हे राजन्! अब तुम प्रभावनापूर्वक फिर जैन धर्म का आराधन करो जिससे भविष्य में वह तुम्हें स्वर्ग और मोक्ष देने में समर्थ हो।

आचार्य का उपदेश सुनकर राजा ने उज्जयिनी में साधु-साध्वियों की बृहत् सभा की और अपने राज्य में जैन धर्म का प्रचार करने के निमित्त अनेक गाँव नगरों में उपदेशक साधुओं का विहार करवाया; यही नहीं, अनार्य देशों में भी उसने जैनधर्म का प्रचार करवाया और अनेक जिन-मंदिर तथा प्रतिमाओं से पृथिवी को अलंकृत कर दिया।

महावीर-निर्वाण से २९३ वर्ष पूरे हुए तब जैन धर्म का परम उपासक राजा संप्रति स्वर्गवासी हुआ।

महावीर-निर्वाण से २४६ वर्षों के बाद अशोक का पुत्र पुण्यरथ पाटलिपुत्र का राजा हुआ।[1] यह राजा बौद्ध धर्म का आराधक था।

(१) यह पुण्यरथ और पुराणों का दशरथ एक ही व्यक्ति है। दशरथ के नाम के तीन शिलालेख खलतिक पर्वत पर आजीविक साधुओं को गुफाओं का दान करने के संबंध में लिखे हुए मिले हैं उनसे भी यह मालूम होता है कि प्रियदर्शि (अशोक) के बाद पाटलिपुत्र में दशरथ का राज्याभिषेक हुआ था। (देखो आगे का लेख।)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजा **पुण्यरथ महावीर** निर्वाण से २८० व के बाद अपने पुत्र **वृद्धरथ**[1] को राज्य देकर परलोकवासी हुआ।

बौद्ध धर्म के अनुयायी राजा **वृद्धरथ** को मारकर उसका सेनापति **पुष्यमित्र महावीर**-निर्वाण से ३०४ वर्ष के बाद **पाटलिपुत्र** के राज्यासन पर बैठा।"

राजा खारवेल और उसका वंश

पाटलिपुत्रीय मौर्य्य राज्य-शाखा को पुष्यमित्र तक पहुँचाने के बाद थेरावलीकार ने **कलिंग देश** के राजवंश का वर्णन दिया है। **हाथीगुंफा** के लेख से **कलिंग** चक्रवर्ती **खारवेल** का तो थोड़ा बहुत परिचय विद्वानों को अवश्य है, पर उसके वंश और उसकी संतति के विषय में अभी तक कुछ भी प्रामाणिक निर्णय नहीं हुआ था। हाथीगुंफा के लेख के "चेतवसवधनस" इस उल्लेख से कोई कोई विद्वान् **खारवेल** को "चैत्रवंशीय" समझते थे, तब कोई उसे "चेदिवंश" का राजा कहते थे। हमारे प्रस्तुत थेरावलीकार ने इस विषय को बिलकुल स्पष्ट कर दिया है। थेरावली के लेखानुसार खारवेल न तो **चैत्रवंश्य** था और न **चेदिवंश्य**; वह तो "चेटवंश्य" था; क्योंकि वह **वैशाली** के प्रसिद्ध राजा **चेटक** के पुत्र **कलिंगराज शोभनराय** की वंश-परंपरा में जन्मा था।

अजातशत्रु के साथ की लड़ाई में **चेटक** के मरने पर उसका पुत्र **शोभनराय** वहाँ से भागकर किस प्रकार

"वहियका कुभा दपलथेन देवानं प्रियेना ानंतलियं अभिषितेना [आजीविकेहि] भदंतेहि वाष निषिदियाये निषिवे"।

(प्रियदर्शि प्रशस्तयः, टिप्पणविभाग, पृष्ठ ३८)

(१) पुराणों में इसका नाम "**बृहद्रथ**" मिलता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कलिंगराज के पास गया और **कलिंग** का राजा हुआ इत्यादि वृत्तांत थेरावली के शब्दों में ही नीचे लिख देते हैं। विद्वान् लोग देखेंगे कि कैसी अपूर्व घटना है।

"**वैशाली** का राजा **चेटक** तीर्थंकर **महावीर** का उत्कृष्ट श्रमणोपासक था। **चंपा नगरी** का अधिपति राजा **कोणिक**, जो कि **चेटक** का भानजा था, (अन्य श्वेतांबर जैन संप्रदाय के ग्रंथों में **कोणिक** को **चेटक** का दोहिता लिखा है) **वैशाली** पर चढ़ आया और उसने लड़ाई में **चेटक** को हरा दिया। लड़ाई में हारने के बाद अन्न-जल का त्याग कर राजा **चेटक** स्वर्गवासी हुआ। **चेटक** का **शोभनराय** नाम का एक पुत्र वहाँ से (वैशाली नगरी से) भागकर अपने श्वशुर **कलिंगाधिपति सुलोचन** की शरण में गया। **सुलोचन** के पुत्र नहीं था इसलिये अपने दामाद **शोभनराय** को **कलिंग देश** का राज्यासन देकर वह परलोकवासी हुआ।

भगवान् **महावीर** के निर्वाण के बाद १८ वर्ष बीतने पर **शोभनराय** का **कलिंग** की राजधानी **कनकपुर** में राज्याभिषेक हुआ। **शोभनराय** जैन धर्म का उपासक था। वह **कलिंग देश** में तीर्थस्वरूप **कुमारपर्वत** पर यात्रा करके उत्कृष्ट श्रावक बन गया।

शोभनराय के वंश में पाँचवीं पीढ़ी में **चंडराय** नामक राजा हुआ जो **महावीर** के निर्वाण से १४९ वर्ष बीतने पर **कलिंग** के राज्यासन पर बैठा था।

चंडराय के समय में **पाटलिपुत्र** नगर में आठवाँ नंद राजा राज्य करता था, जो मिथ्याधर्मी और अति लोभी था। वह **कलिंग** देश को नष्ट भ्रष्ट करके तीर्थ स्वरूप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुमारगिरि पर **श्रेणिक** के बनवाए हुए जिन-मंदिर को तोड़ उसमें रखी हुई **ऋषभदेव** की सुवर्णमयी प्रतिमा को उठाकर **पाटलिपुत्र** में ले आया। इसके बाद **शोभन-राय** की ८वीं पीढ़ी में **क्षेमराज**[1] नामक **कलिंग** का राजा हुआ। वीर निर्वाण के बाद जब २२७ वर्ष पूरे हुए तब **कलिंग** के राज्यासन पर **क्षेमराज** का अभिषेक हुआ और निर्वाण से २३९ वर्ष बीतने पर **मगधाधिपति अशोक** ने **कलिंग** पर चढ़ाई की[2] और वहाँ के राजा **क्षेमराज** को अपनी आज्ञा मनाकर वहाँ पर उसने अपना **गुप्त संवत्सर** चलाया।[3]

---

(१) हाथीगुंफावाले **खारवेल** के शिलालेख में भी पंक्ति १६ वीं में 'खेमराजा स" इस प्रकार **खारवेल** के पूर्वज के तौर से **क्षेम-राज** का नामोल्लेख किया है।

(२) कलिंग पर चढ़ाई करने का जिक्र **अशोक** के शिलालेख में भी है। पर वहाँ पर **अशोक** के राज्याभिषेक के आठवें वर्ष के बाद **कलिंग** विजय का उल्लेख है। राज्यप्राप्ति के बाद ३ अथवा ४ वर्ष पीछे अशोक का राज्याभिषेक हुआ मान लेने पर **कलिंग** का युद्ध **अशोक** के राज्य के १२–१३ वें वर्ष में आयगा। थेरावली में **अशोक** की राज्यप्राप्ति निर्वाण से २०९ वर्ष के बाद लिखी है। अर्थात् २१० में इसे राज्याधिकार मिला और २३९ में उसने **कलिंग** विजय किया। इस हिसाब से **कलिंग** विजयवाली घटना **अशोक** के राज्य के ३० वें वर्ष के अंत में आती है, जो कि शिलालेख से मेल नहीं खाती।

(३) **अशोक** के **गुप्त संवत्सर** चलाने की बात ठीक नहीं जँचती। मालूम होता है, थेरावली-लेखक ने अपने समय में प्रचलित गुप्त राजाओं के चलाए गुप्त संवत् को **अशोक** का चलाया हुआ मान लेने का धोखा खाया है। इसी उल्लेख से इसकी अति प्राचीनता के संबंध में भी शंका उत्पन्न होती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महावीर-निर्वाण से २७५ वर्ष के बाद **क्षेमराज** का पुत्र **वुड्ढराज**[1] **कलिंग** देश का राजा हुआ। वुड्ढराज जैनधर्म का परम उपासक था। उसने **कुमारगिरि** और **कुमारीगिरि** नामक दो पर्वतों पर श्रमण और निर्ग्रंथियों के चातुर्मास्य करने योग्य ११ गुफाएँ खुदवाई थीं।

भगवान् **महावीर** के निर्वाण को जब ३०० वर्ष पूरे हुए तब **वुड्ढराय** का पुत्र **भिक्खुराय कलिंग** का राजा हुआ।

भिक्खुराय के नीचे लिखे अनुसार तीन नाम कहे जाते हैं—

निर्ग्रंथ भिक्षुओं की भक्ति करनेवाला होने से उसका एक नाम "भिक्खुराय" था। पूर्वपरंपरागत "महामेघ" नामक हाथी उसका वाहन होने से उसका दूसरा नाम "**महामेघवाहन**" था। उसकी राजधानी समुद्र के किनारे पर होने से उसका तीसरा नाम "**खारवेलाधिपति**" था।[2]

भिक्षुराज अतिशय पराक्रमी और अपनी हाथी आदि की सेना से पृथिवी-मंडल का विजेता था। उसने मगध देश के राजा **पुष्यमित्र** को[3] पराजित करके अपनी आज्ञा मनवाई। पहले **नंदराजा ऋषभदेव** की जिन प्रतिमा को उठा ले गया था उसे वह **पाटलिपुत्र**

---

(१) '**वुड्ढराज**' का भी **खारवेल** के हाथीगुंफावाले लेख में "**वुड्ढराजा स**" इस प्रकार उल्लेख है।

(२) हाथीगुंफा के लेख में भी **भिक्षुराजा, महामेघवाहन** और **खारवेलसिरि** इन तीनों नामों का प्रयोग खारवेल के लिये हुआ है।

(३) **खारवेल** के शिलालेख में भी **मगध** के राजा **बृहस्पति**-मित्र (पुष्यमित्र का पर्याय) को जीतने का उल्लेख है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नगर से वापिस अपनी राजधानी में ले गया[1] और **कुमारगिरि** तीर्थ में **श्रेणिक** के बनवाए हुए जिन-मंदिर का पुनरुद्धार कराके आर्य **सुहस्ती** के शिष्य **सुप्रतिबुद्ध** नाम के स्थविरों के हाथ से उसे फिर प्रतिष्ठित कराकर उसमें स्थापित किया।

पहले जो बारह वर्ष तक दुष्काल पड़ा था उसमें आर्य **महागिरि** और आर्य **सुहस्तीजी** के अनेक शिष्य शुद्ध आहार न मिलने के कारण **कुमारगिरि** नामक तीर्थ में अनशन करके शरीर छोड़ चुके थे। उसी दुष्काल के प्रभाव से तीर्थंकरों के गणधरों द्वारा प्ररूपित बहुतेरे सिद्धांत भी नष्टप्राय हो गए थे, यह जानकर **भिक्खुराय** ने जैन-सिद्धांतों का संग्रह और जैन धर्म का विस्तार करने के लिये **संप्रति** राजा की नाईं श्रमण निर्ग्रंथ तथा निर्ग्रंथियों की एक सभा वहाँ **कुमारी पर्वत** नामक तीर्थ पर इकट्ठी की, जिसमें आर्य **महागिरिजी** की परंपरा के **बलिस्सह, बोधिलिंग, देवाचार्य, धर्मसेनाचार्य, नक्षत्राचार्य,** आदिक दो सौ जिनकल्प की तुलना करनेवाले जिनकल्पी साधु, तथा आर्य **सुस्थित**, आर्य **सुप्रतिबुद्ध**, **उमास्वाति**, **श्यामाचाय** प्रभृति तीन सौ स्थविरकल्पी निर्ग्रंथ आए। आर्या **पोइणी** आदिक तीन सौ निर्ग्रंथी साध्वियाँ भी वहाँ इकट्ठी हुई थीं। **भिक्खुराय**, सीवंद, **चूर्णक**,

(१) **नंदराज** द्वारा ले जाई गई जिन-मूर्ति को कलिंग में वापिस ले जाने का हाथीगुंफा में इस प्रकार स्पष्ट उल्लेख है—

"नंदराजनीतं च कालिंग जिनं संनिवेसं...गृह रतनान पडिहारे हि अंगमागध—वसुं च नेयाति [।]"

(हाथीगुंफा लेख पंक्ति १२, बिहार-ओरिसा जर्नल, वॉल्युम ४ भाग ४)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सेलक आदि सात सौ श्रमणोपासक और भिक्खुराय की जो पूर्णभिक्षा आदि सात सौ श्राविकाएँ, भी उस सभा में उपस्थित थीं।

पुत्र, पौत्र और रानियों के परिवार से सुशोभित भिक्खुराय ने सब निर्ग्रंथों और निर्ग्रंथियों को नमस्कार करके कहा—"हे महानुभावो! अब आप वर्धमान तीर्थंकर प्ररूपित जैन धर्म की उन्नति और विस्तार करने के लिये सर्व शक्ति से उद्यमवंत हो जायँ।"

भिक्खुराय के उपर्युक्त प्रस्ताव पर सर्व निर्ग्रंथ और निर्ग्रंथियों ने अपनी सम्मति प्रकट की और भिक्खुराय से पूजित सत्कृत और सम्मानित निर्ग्रंथ और निर्ग्रंथियाँ मगध, मथुरा, वंग आदि देशों में तीर्थंकर-प्रणीत धर्म की उन्नति के लिये निकल पड़े।

उसके बाद भिक्खुराय ने कुमारगिरि और कुमारीगिरि नामक पर्वतों पर जिन प्रतिमाओं से शोभित अनेक गुफाएं खुदवाईं, वहाँ जिनकल्प की तुलना करनेवाले निर्ग्रंथ वर्षाकाल में कुमारी पर्वत की गुफाओं में रहते और जो स्थविरकल्पी निर्ग्रंथ होते वे कुमार पर्वत की गुफाओं में वर्षाकाल में रहते। इस प्रकार भिक्खुराय ने निर्ग्रंथों के लिये विभिन्न व्यवस्था कर दी थी।

उपर्युक्त सर्व व्यवस्था से कृतार्थ हुए भिक्खुराय ने बलिस्सह, उमास्वाति, श्यामाचार्यादिक स्थविरों को नमस्कार करके जिनागमों में मुकुट-तुल्य दृष्टिवाद अंग का संग्रह करने के लिये प्रार्थना की।

भिक्खुराय की प्रेरणा से पूर्वोक्त स्थविर आचार्यों ने अवशिष्ट दृष्टिवाद को श्रमण-समुदाय से थोड़ा थोड़ा एकत्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर भोजपत्र, ताड़पत्र और वल्कल पर अक्षरों से लिपिबद्ध करके **भिक्खुराय** का मनोरथ पूर्ण किया और इस प्रकार वे आर्य **सुधर्म**-रचित **द्वादशांगी** के संरक्षक हुए।

उसी प्रसंग पर **श्यामाचार्य** ने निर्ग्रंथ साधु साध्वियों के सुख बोधार्थ 'पन्नवणा सूत्र' की रचना की।[1]

स्थविर श्री **उमास्वातिजी** ने उसी उद्देश से निर्युक्ति सहित '**तत्वार्थ सूत्र**' की रचना की।[2]

स्थविर आर्य **बलिस्सह** ने **विद्याप्रवाद** पूर्व में से 'अंगविद्या' आदि शास्त्रों की रचना की।[3]

इस प्रकार जिनशासन की उन्नति करनेवाला **भिक्खुराय** अनेकविध धर्म कार्य करके **महावीर**-निर्वाण से ३३० वर्षों के बाद स्वर्गवासी हुआ।

भिक्खुराय के बाद उसका पुत्र **वक्रराय कलिंग** का अधिपति हुआ।[4]

वक्रराय भी जैनधर्म का अनुयायी और उन्नति करने-

---

(१) **श्यामाचार्य** कृत 'पन्नवणा सूत्र' अब तक विद्यमान है।

(२) **उमास्वाति** कृत 'तत्वार्थ सूत्र' और इसका स्वोपज्ञ भाष्य अभी तक विद्यमान है। यहाँ पर उल्लिखित 'नियु क्ति' शब्द संभवतः इस भाष्य के ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है।

(३) **अंगविद्या** प्रकीर्णक भी हाल तक मौजूद है। कोई नौ हजार श्लोक प्रमाण का यह प्राकृत गद्य पद्य में लिखा हुआ 'सामुद्रिक विद्या' का ग्रंथ है।

(४) **कलिंग** देश के **उदयगिरि** पर्वत की **मानिकपुर गुफा** के एक द्वार पर खुदा हुआ **वक्रदेव** के नाम का शिलालेख मिला है जो इसी **वक्रराय** का है। लेख नीचे दिया जाता है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाला था। धर्माराधन और समाधि के साथ यह **वीर**-निर्वाण से तीन सौ बासठ वर्ष के बाद स्वर्गवासी हुआ।

वक्रराय के बाद उसका पुत्र **'विदुहराय'** **कलिंग** देश का अधिपति हुआ।[१]

विदुहराय ने भी एकाग्र चित्त से जैन धर्म की आराधना की। निर्ग्रंथ समूह से प्रशंसित यह राजा **महावीर**-निर्वाण से तीन सौ पंचानबे वर्ष के बाद स्वर्गवासी हुआ।"

उज्जयिनी की मौर्य राज्यशाखा

महान् राजा **अशोक** के बाद **मौर्य्य** राज्य के दो हिस्से हो जाने का विद्वानों का अनुमान है, इस अनुमान का इस थेरावली से भी समर्थन होता है। मगध के राजवंशों के निरूपण में **संप्रति** के प्रसंग में कहा गया है कि **संप्रति** अपने विरोधियों के भय से **पाटलिपुत्र** को छोड़कर **उज्जयिनी** में चला गया था। उसी प्रसंग में यह भी कहा गया है कि निर्वाण से २४४ वर्षों के ऊपर **अशोक** का स्वर्गवास हुआ था और २४६ में **पुण्यरथ** (पुराणों का दशरथ) **पाटलिपुत्र** के राज्यासन पर बैठा था। इसका अर्थ यह है कि **अशोक** के बाद **संप्रति** **पाटलिपुत्र** का राजा

"वेरस महाराजस कलिंगाधिपतिनो महामेघवाहन **वक्रदेव** सिरिनो लेणं"। (जिनविजय संपादित प्राचीन जैन लेखसंग्रह पृ० ४६।)

(१) **उदयगिरि** की **मंचपुरीगुफा** के सातवें कमरे में विदुराय के नाम का एक छोटा लेख है। उसमें लिखा है कि यह लयन [गुफा] **'कुमार विदुराय'** की है।

लेख के मूल शब्द नीचे दिए जाते हैं—

"कुमार वदुरवस लेनं"

(एपिग्राफिका इंडिका जिल्द १३)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ था पर विरोधियों से तंग आकर दो वर्ष के बाद उसके **उज्जयिनी** में चले जाने पर **पाटलिपुत्र** का सिंहासन **पुण्यरथ** (दशरथ) को मिला था।

संप्रति के स्वर्गवास पर्यंत का वृत्तांत पहले दिया जा चुका है, इसलिये यहाँ पर संप्रति के बाद के **मौर्य्य** राजाओं का जिक्र थेरावली के ही शब्दों में दिया जाता है—

"**उज्जयिनी** के राजा **संप्रति** के कोई पुत्र नहीं था। इसलिये उसके मरने पर वहाँ का राज्यासन **अशोक** के पुत्र **तिष्यगुप्त** के पुत्र **बलमित्र** और **भानुमित्र** नामक राजकुमारों को मिला।

ये दोनों भाई जैन धर्म के उपासक थे। ये **वीर**-निर्वाण से २९४ वर्ष के बाद **उज्जयिनी** के राज्य पर बैठे और निर्वाण से ३५४ व के बाद स्वर्गवासी हुए।

इसके बाद **बलमित्र** का पुत्र **नभोवाहन उज्जयिनी** में राज्याभिषिक्त हुआ। **नभोवाहन** भी जैन-धर्मी था। वह निर्वाण से तीन सौ चौरानवे वर्ष के बाद स्वर्गवासी हुआ।

उसके बाद **नभोवाहन** का पुत्र **गर्दभिल्ल**—जो गर्दभी विद्या जाननेवाला था—**उज्जयिनी** के राज्यासन पर बैठा।"

इसी प्रसंग में **कालकाचार्य्य** का वृत्तांत, उनकी बहन **सरस्वती** साध्वी का **गर्दभिल्ल** द्वारा अपहार और लड़ाई करके साध्वी को छुड़ाने आदि का वृत्तांत दिया हुआ है जो अति प्रसिद्ध होने से यहाँ पर नहीं लिखा जाता है। हाँ, यहाँ पर एक बात विशेष है, सब चूर्णियों और **कालक**-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कथाओं में यह लिखा गया है कि **कालक** ने '**पारिसकुल** में जाकर वहाँ के **साहि** अथवा **शाखि** नामधारी ९६ राजाओं को **हिंदुस्तान** में लाकर **गर्दभिल्ल** के ऊपर चढ़ाई करवाई', तब इसमें इस प्रसंग में इतना ही कहा है कि '**सिंधु** देश में **सामंत** नामक शक राजा राज्य करता था, उसके पास **कालक** गए और उसे **उज्जयिनी** पर चढ़ा लाए।' इस लड़ाई में **गर्दभिल्ल** मारा जाता है, **उज्जयिनी** पर शक राजा अधिकार करता है और **सरस्वती** को फिर दीक्षा देकर **कालक** **भरोच** की तरफ विहार करते हैं। कालांतर में **गर्दभिल्ल** का पुत्र **विक्रमादित्य शक राजा** को जीत कर **उज्जयिनी** का राज्य अपने हाथ में कर लेता है, यह बात थेरावली के शब्दों में नीचे लिखी जाती है।

"उसके बाद **गर्दभिल्ल** का पुत्र **विक्रमार्क** शक **राजा** को जीतकर **महावीर**-निर्वाण से चार सौ दस वर्ष बीतने पर उज्जयिनी के राज्यासन पर बैठा।

विक्रमार्क अति पराक्रमी, जैनधर्म का आराधक और परोपकारनिष्ठ होने से अत्यंत लोकप्रिय हो गया।"

यहाँ पर **विक्रमार्क**-राज्यारंभ **वीर**-निर्वाण संवत् ४१० के अंत में लिखा है और **मेरुतुंग** की विचार-श्रेणि आदि के अनुसार **विक्रमादित्य** ने ६० वर्ष तक राज्य किया था, इस हिसाब से **विक्रमादित्य** का मरण निर्वाण से ४७० वर्ष के बाद हुआ। आचार्य **देवसेन**, **अमितगति** आदि जो **विक्रम मृत्युसंवत्** का उल्लेख करते हैं उसका खुलासा इस लेख से स्वयं हो जाता है। **वीर** और **विक्रम** का अंतर तो ४७० वर्ष का ही है पर प्रस्तुत परंपरा के अनुसार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह अंतर महावीर के निर्वाण और विक्रम के मरण का है, तब अन्य गणना-परंपराओं में यह अंतर वीर-निर्वाण और विक्रम-राज्यारोहण का अथवा विक्रम संवत्सर-प्रवृत्ति का माना गया है।

प्रस्तुत थेरावली की गणना के अनुसार महावीर-निर्वाण से विक्रम-राज्यारंभ तक के ४१० वर्षों का हिसाब नीचे के विवरण से ज्ञात होगा।

निर्वाण के बाद

कोणिक तथा उदायी[1]	६०
नवनंद	९४
चंद्रगुप्त	३०
बिंदुसार	२५
अशोक	३५
संप्रति[2]	४९
०	१
बलमित्र-भानुमित्र	६०
नभोवाहन	४०
गर्दभिल्ल तथा शक	१६
	४१०

(१) तित्थोगाली पइन्नय की गणना में ६० वर्ष पालक के लिये हैं, पर इसमें पालक का कहीं भी नाम-निर्देश नहीं है।

(२) संप्रति २९३ के बाद स्वर्ग गया और २९४ के बाद बलमित्र भानुमित्र राजा हुए। इससे मालूम होता है, बीच में १ वर्ष तक कोई राजा नहीं रहा होगा—अराजकता रही होगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विक्रमादित्य के राज्य प्रारंभ का उल्लेख करके थेरावलीकार ने राज-प्रकरण को छोड़ दिया है और आर्य **महागिरि** से लेकर आर्य **स्कंदिल** तक के स्थविरों का गाथाओं से वंदन किया है। ये गाथाएँ **नंदी थेरावली** की "एलावच्चसगुत्तं" इस गाथा से लेकर "जेसि इमो अणुओगो" यहाँ तक की गाथाओं से अभिन्न होंगी, ऐसा इसके भाषांतर से ज्ञात होता है।

आगे इन्हीं गाथाओं का सार गद्य में दिया है जैसा कि **नन्दीचूर्णिकार** ने दिया है, इसलिए इसकी चर्चा करने की कोई जरूरत नहीं है। इसमें जो विशेष हकीकत है उसका वर्णन थेरावली के ही शब्दों में नीचे दिया जाता है।

"आर्य **रेवती नक्षत्र** के आर्य **सिंह** नामक शिष्य हुए, जो **ब्रह्मद्वीपक सिंह** के नाम से प्रसिद्ध थे। स्थविर आर्य **सिंह** के दो शिष्य हुए—**मधुमित्र** और आर्य **स्कंदिल**। आर्य **मधुमित्र** के आर्य **गंधहस्ती** नामक बड़े प्रभावक और विद्वान् शिष्य हुए। पूर्व काल में महास्थविर **उमास्वाति** वाचक ने जो **तत्त्वार्थसूत्र** नामक शास्त्र रचा था उस पर आर्य **गंधहस्ती** ने ८०००० श्लोक प्रमाणवाला महाभाष्य बनाया। इतना ही नहीं, स्थविर आर्य **स्कंदिल**जी के आग्रह से **गंधहस्ती**जी ने ग्यारह **अंगों** पर टीका रूप विवरण भी लिखे, इस विषय में **आचारांग** के विवरण के अंत में लिखा है कि—

"**मधुमित्र** नामक स्थविर के शिष्य तीन पूर्वों के ज्ञाता मुनियों के समूह से वंदित, रागादि-दोष-रहित॥ १॥ और **ब्रह्मद्वीपिक** शाखा के मुकुट समान आचार्य **गंधहस्ती** ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विक्रमादित्य के बाद २०० वर्ष बीतने पर यह (आचारांग का) विवरण बनाया।"

आर्य स्कंदिल

थेरावली के अंत में आर्य स्कंदिल का वृत्तांत और उनके किए हुए सिद्धांतोद्धार का वर्णन दिया है, पाठकगण के अवलोकनार्थ यह वर्णन भी हम थेरावली के ही शब्दों में नीचे उद्धृत करते हैं—

"अब आर्य स्कंदिलाचार्य्य का वृत्तांत इस प्रकार है—उत्तर मथुरा में मेघरथ[1] नामक उत्कृष्ट श्रमणोपासक और जिनाज्ञा-प्रतिपालक ब्राह्मण था, उसके रूपसेना नाम की शीलवती स्त्री थी और सोमरथ नामक पुत्र था।

एक बार ब्रह्मद्वीपिका शाखा के आचार्य सिंह स्थविर विहार-क्रम से मथुरा में पधारे और उनके उपदेश से वैराग्य पाकर ब्राह्मण सोमरथ ने उनके पास दीक्षा ली।

उस अवसर में आधे भारतवर्ष में बारह वर्ष का भयंकर दुष्काल पड़ा जिसके प्रभाव से भिक्षा न मिलने के कारण कितने ही जैन निर्ग्रंथ वैभार पर्वत तथा कुमारगिरि आदि तीर्थों में अनशन करके स्वर्गवासी हो गए। उस समय जिनशासन के आधारभूत पूर्व संगृहीत ग्यारह अंग नष्टप्राय हो गए। पीछे से दुष्काल का अंत होने पर विक्रम संवत् १५३ में स्थविर आर्य स्कंदिल ने मथुरा में जैन निर्ग्रंथों की सभा एकत्र की। सभा में स्थविरकल्पी मधुमित्राचार्य्य तथा आर्य गंधहस्ती

(१) प्राचीन जैन ग्रंथकार आजकल की 'मथुरा' को उत्तर मथुरा कहते थे और दक्षिण देश की आधुनिक 'मदुरा' को दक्षिण मथुरा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रभृति १२५ निर्ग्रंथ एकत्र हुए। उस समय उन निर्ग्रंथों के अवशेष मुख-पाठों (कंठस्थ पाठों) को मिलाकर आचार्य **गंधहस्ती** आदि स्थविरों की सम्मतिपूर्वक आर्य **स्कंदिल**जी ने ग्यारह **अंगों** की संकलना की और स्थविरप्रवर **स्कंदिल** की प्रेरणा से आचार्य **गंधहस्ती** ने **भद्रबाहु निर्युक्ति** के अनुसार उन ग्यारह **अंगों** पर विवरणों की रचना की। तब से सर्व सूत्र भारतवर्ष में **माथुरी वाचना** के नाम से प्रसिद्ध हुए।

मथुरा-निवासी ओसवालवंश-शिरोमणि श्रावक **पोलाक** ने **गंधहस्ती** विवरण सहित उन सर्व सूत्रों को ताड़पत्र आदि में लिखवाकर पठन-पाठन के लिये निर्ग्रंथों को अर्पण किया। इस प्रकार जैनशासन की उन्नति करके स्थविर आर्य **स्कंदिल विक्रम** संवत् २०२ में **मथुरा** में ही अनशन करके स्वर्गवासी हुए।"

आर्य **स्कंदिल** के वृत्तांत के साथ ही इस थेरावली की समाप्ति होती है। इसमें जिन जिन विशेष बातों का वर्णन है उनका यथास्थान उल्लेख किया जा चुका है।

इस थेरावली में जो गणना-पद्धति दी है वह कहाँ तक ठीक है, यह कहना कठिन है। हाँ, इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि यह पद्धति भी है प्राचीन। आचार्य **देवसेनादि** ने **विक्रम**-मृत्यु संवत् का जो निर्देश किया है उसका बीज इसी गणना-पद्धति में संनिहित है, यह पहले कहा जा चुका है।

हमने "वीर निर्वाण संवत् और जैन कालगणना" नामक निबंध में और उसके टिप्पण में जिन जिन बातों की चर्चा की है उनमें से कतिपय बातों का इस थेरावली से समर्थन होता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है और कतिपय का खंडन भी, तो भी जब तक इस थेरावली की मूल पुस्तक परीक्षा की कसौटी पर चढ़ाकर प्रामाणिक नहीं ठहराई जाती, इसके उल्लेखों से चिंतित विषय में रद्दो-बदल करना उचित नहीं है। वस्तुतः हमारी गणना से वीर निर्वाण संवत् विषयक जो मुख्य सिद्धांत स्थापित होता है उसका, यह गणना भी वीर और विक्रम का मृत्यु-अंतर ४७० वर्ष का बताकर समर्थन ही कर रही है। अस्तु।

थेरावली में जो जो नई बातें दृष्टिगोचर हुई हैं उनकी सत्यता के विषय में हमें अधिक संशय करने की आवश्यकता नहीं है। इनमें से कतिपय घटनाओं का तो पुराने से पुराने शिलालेखों और ग्रंथों से भी समर्थन होता है। **श्रेणिक** और **कोणिक** के जैन होने की बात जैनसूत्रों में प्रसिद्ध है, इनके द्वारा **कलिंग** के तीर्थरूप पर्वत पर जिन-प्रासाद और स्तूपों का बनना कोई आश्चर्य का विषय नहीं है। **नंद** राजा द्वारा **कलिंग** से जिन-प्रतिमा का पाटलिपुत्र में ले जाना और वहाँ से **खारवेल** द्वारा उसका फिर कलिंग में ले आना **खारवेल** के लेख से ही सिद्ध है। **कुमारी** पर्वत पर **खारवेल** के कराए हुए धार्मिक कार्य[1] तथा **अंग** सूत्रों के

---

(१) **खारवेल** के, अपने राज्य के तेरहवें वर्ष में, कुमारी पर्वत (उदयगिरि) की निषद्याओं (स्तूपों) में रहनेवालों के लिये राज्य की तरफ से आय बाँधने के संबंध में इस प्रकार उल्लेख है—

"तेरसमे च वसे सुपवत विजयिचके कुमारी पवते अरहितेय [।] प—खिमव्यसंताहि काय्यनिसीदीयाय यापजावकेहि राजभितिनि चिनवतानि वो सासितानि वो सासितानि [।] पूजनि कत—उवासा खारवेल सिरिना जीवदेवसिरिकल्पं राखिता [।]" (बि० ओ० प० पु० ४ भा० ४)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उद्धार का उल्लेख भी **खारवेल** के ही लेख में पाया जाता है[१]। **खारवेल** के पुत्र **वक्रराय** और पौत्र **विदुहराय** के नाम भी **कलिंग** के **उदयगिरि** पर्वत की गुफा में पाए गए हैं और **खारवेल** के आदि-पुरुष **चेटक** का नाम भी उसके लेख के प्रारंभ में दृष्टिगत हो रहा है।

मौर्य्यराज्य की दो शाखा होने के संबंध में पुरातत्त्वज्ञों ने पहले ही अनुमान कर लिया था, जिसको थेरावली के लेख से समर्थन मिला है। **स्कंदिलाचार्य** के सिद्धांतोद्धार का उल्लेख **नंदीचूर्णि** आदि अनेक प्राचीन ग्रंथों में मिलता ही है, **गंधहस्ती** के सूत्र विवरणों के अस्तित्व का साक्ष्य **शीलांक** की **आचारांग** टीका दे रही है[२] और उनकी **तत्त्वार्थ-भाष्य** रचना के विषय में भी अनेक मध्यकालीन

---

(१) हाथीगुंफा लेख की १६वीं पंक्ति में **अंगों** का उद्धार करने के संबंध में उल्लेख है, ऐसा विद्यावारिधि के० पी० जायसवालजी का मत है। आपके वाचनानुसार वह उल्लेख इस प्रकार है—

"मुरियकालवोछिंनं च चोयट्ठि-अंग-सतिकं तुरियं उपदियति [।]" अर्थात् मौर्य्यकाल में विच्छेद हुए चोसट्ठि (चौसठ अध्यायवाले) **अंगसत्तिक** का चौथा भाग फिर से तैयार करवाया।

पर मैं इस स्थल को इस प्रकार पढ़ता हूँ—

"मुरियकाले वोछिंने च चोयट्ठिअग-सतिके तुरियं उपादयति [।]" अर्थात् मौर्यकाल के १६४ वर्ष के बीतने पर तुरंत (खारवेल ने) उपर्युक्त कार्य किया।

(२) **गंधहस्तिकृत** सूत्रविवरण अब किसी जगह नहीं मिलते; संभवतः वे सदा के लिये लुप्त हो गए हैं; पर ये विवरण किसी समय विद्वद्भोग्य साहित्य में गिने जाते थे इसमें कोई संदेह नहीं है। विक्रम की दशवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की कृति **आचारांग टीका** में उसके कर्ता **शीलाचार्य** **गंधहस्तिकृत** विवरण का उल्लेख इस प्रकार करते हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रंथकारों ने उल्लेख किए हैं[1] इसलिये इस थेरावली में वर्णित खास घटनाओं की सत्यता के संबंध में शंका करने का हमें कोई अवसर नहीं है। हाँ, इसमें यदि कुछ शंकनीय स्थल हो तो वह घटनावली का सत्ता-समय हो सकता है। इसमें अनेक घटनाओं के अतिरिक्त अनेक राजाओं और आचार्यों की सत्ता और उनके स्वर्गवास के सूचक जो संवत्सर दिए हुए हैं उनमें कतिपय संवत्सर अवश्य ही चिंतनीय हैं, पर जब तक थेरावली की मूल प्रति हस्तगत नहीं होती, इस विषय की समालोचना करना निरर्थक है।

विद्वानों के विचारार्थ नीचे हम उन घटनाओं की सूची देते हैं जिनका सत्ता-समय थेरावली में स्पष्ट लिखा गया है।

"शस्त्रपरिज्ञाविवरणमतिबहुगहनं च गंधहस्तिकृतम्।
तस्मात् सुखबोधार्थं, गृह्णाम्यहमञ्जसा सारम् ॥३॥"

(कलकत्तामुद्रित आचारांग टीका)

उपर्युक्त पद्य में केवल **आचारांग** सूत्र के एक अध्ययन-'शस्त्र-परिज्ञा' के विवरण का उल्लेख होने से यह भी कल्पना हो सकती है कि शायद **शीलाचार्य** के समय तक **गंधहस्ति** कृत विवरण छिन्न भिन्न हो चुके होंगे। इसी कारण से **शीलांक** को **अंगों** की नई टीकाएँ लिखने की जरूरत महसूस हुई होगी।

(१) **गंधहस्ति** कृत **तत्वार्थभाष्य** के संबंध में मध्यकालीन साहित्य में कहीं कहीं उल्लेख हैं पर इस भाष्य का कहीं भी पता नहीं है। **धर्मसंग्रहणी टीका** आदि में "यदाह **गंधहस्ती**—प्राणापानौ उच्छ्वासनिश्वासौ।" इत्यादि **गंधहस्ती** के ग्रंथ के प्रतीक भी दिए हुए मिलते हैं, पर इस समय **गंधहस्ति** कृत कोई भी ग्रंथ उपलब्ध नहीं होता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घटनावली

वीर-गताब्द	० *	गौतम इंद्रभूति को केवलज्ञान हुआ।
,, ,,	१२*	गौतम इंद्रभूति का निर्वाण।
,, ,,	१८	शोभनराय का कलिंग के राज्यासन पर आरोहण।
,, ,,	२०*	आर्य सुधर्मा का निर्वाण।
,, ,,	३१	उदायी ने पाटलिपुत्र नगर को बसाया।
,, ,,	६०*	नंद राजा का पाटलिपुत्र में राज्याभिषेक।
,, ,,	६४*	मतांतर से आर्य जंबू का निर्वाण।
,, ,,	७०	आर्य जंबू का निर्वाण।
,, ,,	७०*	रत्नप्रभ सूरि द्वारा उपकेश वंश स्थापना।
,, ,,	७५*	आर्य प्रभव का स्वर्गवास।
,, ,,	९८*	आर्य शय्यंभव का स्वर्गवास।
,, ,,	१४८*	आर्य यशोभद्र का स्वर्गवास।
,, ,,	१४९	चंडराय का कलिंग में राज्याभिषेक।
,, ,,	१४९	आठवें नंद की कलिंग देश पर चढ़ाई।
,, ,,	१५४*	चंद्रगुप्त मगध का राजा बना।
,, ,,	१५६*	आर्य संभूतिविजयजी का स्वर्गवास।
,, ,,	१७०*	आर्य भद्रबाहु स्वामी का स्वर्गवास।
,, ,,	१८४	सम्राट् चंद्रगुप्त का स्वर्गवास।
,, ,,	१८४	बिंदुसार का राज्याधिकार।
,, ,,	२०९	बिंदुसार का स्वर्गगमन।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वीर-गताब्द	२०९	**अशोक** का राज्यारंभ।
,, ,,	२२७	**क्षेमराज** का **कलिंग** में राज्यारोहण।
,, ,,	२३९	**अशोक** राजा की **कलिंग** पर चढ़ाई।
,, ,,	२४४	**अशोक** का परलोकवास।
,, ,,	२४४	**संप्रति** का **पाटलिपुत्र** में राज्याधिकार।
,, ,,	२४६	**संप्रति** का **उज्जयिनी** को जाना।
,, ,,	२४६	**पाटलिपुत्र** में **पुण्यरथ** का राज्याधिकार।
,, ,,	२७५	**वुड्ढराज** का **कलिंग** में राज्यारोहण।
,, ,,	२८०	**पुण्यरथ** का मरण।
,, ,,	२८०	**वृद्धरथ** का **पाटलिपुत्र** में राज्याभिषेक।
,, ,,	२९३*	**संप्रति** का स्वर्गवास।
,, ,,	२९३	**उज्जयिनी** में एक वर्ष तक अराजकता।
,, ,,	२९४	**बलमित्र-भानुमित्र** का **उज्जयिनी** में राज्यारोहण।
,, ,,	३००	**भिक्खुराय** (खारवेल) का राज्याभिषेक।
,, ,,	३०४	**वृद्धरथ** की हत्या।
,, ,,	३०४	**पाटलिपुत्र** पर **पुष्यमित्र** का अधिकार
,, ,,	३३०	**भिक्खुराय** का स्वर्गवास।
,, ,,	३३०	**वक्रराय** का राज्याभिषेक।
,, ,,	३५४	**बलमित्र-भानुमित्र** का मरण।
,, ,,	३५४	**नभोवाहन** की राज्यप्राप्ति।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वीर-गताब्द	३६२	वक्रराय का स्वर्गवास ।
,, ,,	३६२	विदुहराय का राज्याधिकार ।
,, ,,	३६४	नभोवाहन का स्वर्गगमन ।
,, ,,	३६४	गर्दभिल्ल का राज्याधिकार ।
,, ,,	३९५	विदुहराय का परलोकवास ।
,, ,,	४१०	विक्रमार्क का उज्जयिनी में राज्याभिषेक ।
विक्रम-गताब्द	१५३	आर्य स्कंदिल की प्रमुखता में जैन श्रमणों की मथुरा में सभा हुई ।
,, ,,	२००	गंधहस्ती ने आचारांग का विवरण रचा ।
,, ,,	२०२	स्कंदिलाचार्य का मथुरा में स्वर्गवास[1] ।

उपसंहार

हिमवंत थेरावली की खास ज्ञातव्य बातों का दिग्दर्शन करा दिया। इनमें कई बातें ऐसी हैं जो अधिक खोज और विवेचन की अपेक्षा रखती हैं। यदि मूल थेरावली उपलब्ध हो गई और अपेक्षित समय मिला तो इसके संबंध में स्वतंत्र निबंध लिखेंगे—इस विचार के साथ यह लेख यहीं पूरा किया जाता है।

---

१ इस घटनावली में जिस जिस घटना का समय* इस चिह्न से चिह्नित है उसका पट्टावली, थेरावली आदि अन्य ग्रंथों से भी समर्थन होता है, पर जिस घटनाकाल के आगे उक्त चिह्न नहीं है उसका सिर्फ इसी थेरावली में उल्लेख है—ऐसा समझना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४) बौद्ध धर्म के रूपांतर

[लेखक—श्रीमथुरालाल शर्मा एम० ए०]

अपने सामर्थ्य को परिमित समझना और अज्ञात की खोज करना मानव-बुद्धि का नैसर्गिक गुण है और इससे धर्म का आविर्भाव होता है। अज्ञात शक्ति के स्वरूप का चिंतन और तदनुकूल बाह्य आचरण यह धर्म के दो मुख्य अंग हैं। विकास पाकर ये ही ज्ञानकांड और कर्मकांड, या दर्शन तथा क्रिया का रूप धारण करते हैं।

बुद्धि, रुचि, परिस्थिति तथा काल-भेद के कारण मनुष्य के अज्ञात-चिंतन के फल में भिन्नता होती है। यही कारण है कि मिस्र, यूनान, मेसोपोटामिया, ईरान, चीन तथा भारत के प्राचीन लोगों ने उस अलौकिक शक्ति का स्वरूप जुदा जुदा निश्चित किया था। इसी कारण कहीं वनस्पति तथा पशुओं की उपासना होती है और कहीं पुरोहित, राजा या भयंकर देव-देवी की पूजा। इसी कारण प्रत्यक्ष में निर्विवाद दार्शनिक तत्त्वों में घोर मतभेद आरंभ होता है और इसी कारण अत्यंत सरल धार्मिक सिद्धांतों में संप्रदाय-भेद।

समय समय पर महान् पुरुषों ने संसार के सामने ऐसे सत्य सिद्धांत और आचार रखे हैं जिनको कुछ काल तक बहुसंख्यक लोगों ने माना और उनका अनुसरण किया, लेकिन काल और परस्थिति-भेद के कारण कोई भी मत या धर्म एक सा न रह सका। क्राइस्ट का उपदेश कितना सरल और सुबोध था, परंतु तो भी उनके देहांत के बाद ही ईसाई मत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का रूपांतर होना आरंभ हो गया और १४वीं १५वीं शताब्दी में तो यह हाल हो गया कि यदि ईसा स्वयं आकर अपने अनुयायियों को देखते तो उनको पहिचान भी नहीं पाते। मोहम्मद ने अनेक देवों की उपासना छुड़ाकर एक अदृश्य शक्ति पर विश्वास करने का मंत्र पढ़ाया और अपने सिद्धांतों को कुरान में निश्चित रूप दे दिया, तो भी उनके देहावसान के कुछ ही काल बाद उन्हीं की गद्दी पर बैठनेवाले और उन्हीं के निकट संबंधी उसमान ने कुरान में हेरफेर करना आरंभ कर दिया। नाममात्र को मिस्र से तुर्किस्तान तक इस्लाम धर्म का प्रचार हो गया था, लेकिन देश काल के अनुसार उसके सिद्धांतों में इतने भारी परिवर्तन हो चले थे कि इस्लाम धर्म का कायापलट हो गया था। खरीज लोगों का स्वातंत्र्य, शियाओं का अवतारवाद और महदो में विश्वास, सूफियों की निर्गुण भक्ति, अकबर की सहिष्णुता, वर्तमान तुर्की की धर्मों पेत्ता—इन सबका कुरान में पता भी नहीं चलता। ये समय और स्थिति के फल हैं और मनुष्य के विचार-भेद, स्वीकृति-भेद तथा क्रिया-भेद के ज्वलंत दृष्टांत हैं।[१]

ईसा से लगभग ६०० वर्ष पूर्व एक भारतीय राजकुमार ने अनेक मतमतांतर, वितंडावाद और यज्ञहिंसा तथा आत्यंतिक शारीरिक तपस्या को हेय समझकर निर्मल जीवन तथा तृष्णा-त्याग का उपदेश दिया और जनसाधारण की भाषा द्वारा अपने मूल सिद्धांतों को सबकी संपत्ति बनाते हुए शायद यह समझा कि भविष्य के लिये विचार-भेद तथा क्रिया-भेद बंद हो गए। वास्तव में हुआ यह कि जैसे बुद्ध से पूर्व भारत

(१) Politics in Islam—Khuda Bux.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में अनेक मतमतांतर थे वैसे ही उनके पश्चात् भी जारी रहे और स्वयं उनके सरल तथा सुगम मत में अनेक भेद, परिवर्त्तन, परिवर्धन तथा संशोधन होने लगे।

बुद्ध के समय में ६२ पंथ भारत में प्रचलित थे जिनका स्वयं उन्होंने खंडन किया है और जैन ग्रंथों में इनकी संख्या ३६३ तक दी हुई है। ये सब पंथ दो मुख्य संप्रदायों में विभक्त थे—एक ब्राह्मण संप्रदाय और दूसरा समण या श्रमण संप्रदाय। तित्थिय, आजीविक, निगंथ, मुंडसावक, जटिलिक, परिव्राजक, मागंडिक, तेदंडिक, एकसाटक, अविरुद्धक, गोतमक, देवधम्मिक, चरक, अचेलक आदि मुख्य ब्राह्मण संप्रदाय थे जिनके प्रधान आचार्य थे पूर्ण कस्सप, मक्खाली गोसाल, अजित, प्रकुध कच्चायन, संजय और निगंठ नातपुत्त। इन आचार्यों में कोई थे नास्तिक और कोई वादशील; कोई लोकायत और कोई वैतंडिक, कोई तेविज्जा (त्रयी विद्यावाले) और कोई सांख्यक। समणों के मुख्य तो चार भेद थे—मग्गजिन, मग्गदेसिन, मग्गजीविन और मग्गदूसिन, परंतु प्रत्येक संप्रदाय के अनेक उपभेद थे और सब मिलकर ६३ पंथ थे। इनके अतिरिक्त वे कर्मकांडी थे जो यज्ञ में जीव-हिंसा को स्वर्ग का द्वार समझते थे।[1]

ऐसे विचारभेद और क्रियाभेद से छिन्न भिन्न भारत में बुद्ध ने चत्वारि आर्य सत्यानि और आर्य अष्टांग मार्ग का उपदेश दिया। चार सत्यानि हैं, दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग। अर्थात् संसार दुःखमय है, दुःख का कारण तृष्णा है, तृष्णा का निरोध होना चाहिए। यह निरोध आर्य अष्टांग मार्ग का

(१) ब्रह्मजाल सूत्र।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुसरण करने से हो सकता है। यहाँ यह बतला देना अप्रासंगिक न होगा कि मानव जीवन के आध्यात्मिक रोग तथा उसके निरोध का यह सुंदर वर्णन आयुर्वेद तथा योग-सूत्र में दिए हुए रोग और दुःख के वर्णन से मिलता जुलता है। यह बहुत संभव है कि आयुर्वेद तथा योगसूत्र की वर्णनविधि में बुद्ध की विवेचन-विधि की छाया है, तो भी यह निर्विवाद सत्य है कि मानव-विचार-प्रवाह एक अविच्छिन्न धारा है जिसमें किसी भी जलबिंदु के लिये नहीं कहा जा सकता कि वह किस स्थान से आया है। इसलिये हम नहीं कह सकते कि याज्ञवल्क्य, बुद्ध, मूसा, ईसा, मोहम्मद या कानफ्यूशियस के विचार नितांत मौलिक थे। इन सबने पूर्व विचारों के आधार पर अपने विचारों का निर्माण किया और इसी प्रकार इनके विचारों के आधार पर अगले विचारों का निर्माण हुआ है।

बुद्ध ईश्वर के विषय में कुछ नहीं बोलते थे, यह सांख्य है। वे तृष्णा-त्याग और निर्मल जीवन का उपदेश देते थे, यह उपनिषद् है। वे संन्यास का महत्त्व बतलाते थे, यह भारत की पुरातन संस्था है। बुद्ध ने अपने सिद्धांतों के नामकरण में आर्य शब्द का उपयोग किया है, जैसे आर्य अष्टांग मार्ग और चत्वारि आर्य सत्यानि, जिससे स्पष्ट है कि वे कोई नवीन धर्म की रचना नहीं करना चाहते थे; किंतु आडंबर, जटिलता और शुष्क वाद-विवाद को हटाकर सरल सुगम शब्दों में ऐसे आर्य सिद्धांतों का प्रचार करना चाहते थे जिनको वे संसार के लिये हितकर समझते थे। अपने

(१) Kern's Manual of Buddhism.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्येक भाषण में बुद्ध चत्वारि आर्य सत्यानि, आर्य अष्टांग मार्ग, संन्यास-ग्रहण तथा गृहत्याग पर जोर देते थे। लगभग इन्हीं बातों का उपदेश याज्ञवल्क्य और अन्य उपनिषत्-कालीन ऋषियों ने किया था लेकिन उनके सिद्धांतों ने वैयक्तिक रूप धारण नहीं किया। फिर क्या कारण था कि बुद्ध द्वारा प्रतिपादित धर्म आर्य-धर्म होते हुए भी एक अलग संप्रदाय बन गया ?

संसार के इतिहास में ईसा से पूर्व छठी शताब्दी धार्मिक हलचल के लिये प्रसिद्ध है। इस समय भारत, चीन, सीरिया, मिस्र आदि देशों में एक अपूर्व विचार-धारा बहने लगी थी। चीन में कनफ्यूशियस, सीरिया में मूसा और भारत में बुद्ध परंपरागत विचारों के प्रति घोर अश्रद्धा प्रकट करके संसार के सामने एक नवीन विचार-धारा उपस्थित कर रहे थे। अंधविश्वास और पुरोहित-वाक्य-प्रमाण का जमाना बिदा हो रहा था और विचारशील पुरुषों ने आध्यात्मिक विषयों पर प्रश्न, संदेह तथा तर्क करना आरंभ कर दिया था। बुद्ध ने तत्कालीन ज्ञानकांड तथा कर्मकांड दोनों का खंडन करके एक विशेष आचरण-प्रणाली का अनुसरण करने का लोगों को उपदेश किया और अपने अनुयायियों को संगठित करके अन्य लोगों से पृथक् कर दिया, जिससे उनके जीवनकाल में ही एक नवीन पंथ की स्थापना हो गई। उनके शरीर-संवरण के पश्चात् उनके अपूर्व व्यक्तित्व ने लोगों को उनके धर्म की ओर और भी आकर्षित किया।

बौद्ध धर्म के तीन मुख्य अंग हैं—बुद्ध का जीवन, उनके उपदेश और संघ। इनको बौद्ध लोग रत्नत्रय कहते हैं। ये गौतम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुद्ध के देहांत के समय ही निश्चित हो चुके थे। कुछ काल बाद ही बौद्ध लोग यह मंत्र उच्चारण करने लगे थे—बुद्धं शरणं गच्छामि, धर्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि। तीनों वाक्यों का गायत्री की भाँति बौद्धों में पाठ किया जाता था। इन तीनों वाक्यों में बौद्ध धर्म का महत्त्व भरा हुआ था और उन्हीं तीनों में थी प्रचुर मतभेद की विपुल सामग्री। अगले कुछ पृष्ठों में यह बतलाने का प्रयत्न किया जायगा कि बुद्ध, धर्म और संघ इन तीनों विषयों पर काल, विस्तार तथा परिस्थिति के कारण किस प्रकार मतभेद उठ खड़े हुए।

बुद्ध के शरीरांत के बाद उनके भक्त लोग उनके जीवन तथा सामर्थ्य के विषय में अनेक प्रकार की कल्पना करने लगे। विद्वानों ने काव्य लिखकर अपनी विद्या को सफल किया और साधारण लोग अपनी अपनी बुद्धि तथा भक्ति के अनुकूल बुद्ध की कहानियाँ कहने सुनने लगे। बुद्ध के अपूर्व त्याग, अनंत परिश्रम, अद्भुत प्रभाव और मनोहर व्यक्तित्व से चकित होकर लोगों ने उनके पूर्वजन्म की कहानियाँ गढ़नी शुरू कर दीं। बुद्ध की शक्ति एक जन्म के त्याग और तप से प्राप्त नहीं हो सकती, यह अनेक जन्मों के निरंतर त्याग और तप का फल है—यह समझकर लोगों ने अनेक सुंदर जन्म-कथाओं की रचना की। कवियों ने कभी अपना काव्य-कौशल प्रकट करने के लिये और कभी भक्ति की मादकता के वश बुद्ध के सुंदर तथा शक्तिसंपन्न जीवन को अत्युक्तियों द्वारा अति सुंदर तथा अति शक्तिशाली बना दिया।[1] काव्य आदि कल्पना में बुद्ध का जीवन इतना खो गया कि वर्त्तमान इतिहासकार

(१) बुद्धघोष—बुद्धचरित, सद्धर्मपुंडरीक।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को बौद्ध साहित्य में गहरा गोता लगाए बिना उसका ठीक पता नहीं लगता।

शनैः शनैः बुद्ध की पूजा होने लगी। जिन स्थानों का उनके जीवन के साथ विशेष संबंध था वे पवित्र माने जाने लगे और असंख्य यात्री वहाँ आने लगे। महाराज अशोक से बहुत काल पूर्व गया, कपिलवस्तु, कुसीनगर, लुंबनी वन आदि स्थान बौद्धों के तीर्थस्थान बन चुके थे। महाराज अशोक ने आखेट-यात्रा त्यागकर इन सब स्थानों की यात्रा की थी और वहाँ पर भिक्षुओं को विपुल दान दिया था। जब बौद्ध धर्म का प्रचार विदेशों में हुआ तब इन स्थानों की प्रसिद्धि और भी बढ़ी और देश-देशांतरों से यात्री लोग इन स्थानों के यात्रार्थ आने लगे। फाहियान, सुंगयुन, हान-चांग, इत्सिंग—इन सब प्रसिद्ध चीनी यात्रियों ने इन स्थानों की यात्रा की थी। बुद्ध के उपदेशों पर आचरण करने की अपेक्षा उनके गुणों का गान करना अधिक आसान था। इसलिये उनकी मृत्यु के बाद उनकी अस्थियों पर विशाल विहार बनवाने और उनके पूर्व-जन्म की कल्पित कथाओं की घटनाओं को पत्थरों में खुदवाने में लोग पुण्य समझने लगे। आरंभ में यह सब अनुयायियों की भक्ति का प्रकटीकरण था लेकिन पीछे चलकर लोग बुद्ध को एक देवता के समान पूजने लगे। भरहुत के स्तूप पर पत्थरों की खुदाई में गया में बुद्ध के दर्शनार्थ आए हुए जो राजा दिखलाए गए हैं उनके सामने बोधिवृक्ष के नीचे आसन पर बुद्ध के केवल चरण-चिह्न खुदे हुए हैं। लेकिन ईसा से पहली तथा दूसरी शताब्दी में जब उत्तर-पश्चिमोत्तर सीमा प्रदेश के बेक्टेरियन यूनानियों ने बौद्ध धर्म को ग्रहण कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिया तो उन्होंने बुद्ध की प्रतिमाएँ भी बनानी आरंभ कर दीं। संपूर्ण बौद्ध जगत् में प्रतिमाओं का प्रचार हो गया। बुद्ध-मूर्तियों के निर्माण में शिल्पी अपने कौशल को सफल समझने लगे और धनी अपने धन को। बौद्धों में यह विश्वास फैल गया कि बुद्ध की प्रतिमा बनवा देने में धर्मलाभ होता है। अपनी अपनी हैसियत के अनुकूल लोग काष्ठ, पाषाण, पीतल, चाँदी तथा सोने की छोटी और बड़ी प्रतिमाएँ बनवाने लगे। फाहियान तथा ह्वानच्वांग ने पश्चिमी भारत में अनेक विशाल बुद्धप्रतिमाएँ काष्ठ, पाषाण तथा चाँदी-सोने की बनी हुई देखी थीं। इस समय सारनाथ, साँची और भरहुत के अजायबघर में छोटी, बड़ी, सुंदर साधारण अनेक बुद्ध प्रतिमाएँ विद्यमान हैं।

तीसरी चौथी शताब्दी में बुद्ध की प्रतिमा के जुलूस निकाले जाने लगे थे। जब फाहियान खुतन जनपद में था तब उसने यह रथयात्रा का उत्सव देखा था। वह लिखता है कि "नगर से तीन चार ली पर भगवान् का रथ चार पहिए का बनाया जाता है। वह तीस हाथ ऊँचा होता है और चलता प्रासाद जान पड़ता है। सप्तरत्न के तोरण लगाए जाते हैं। रेशम की ध्वजा और चाँदनी से सुसज्जित किया जाता है। भगवान् की मूर्ति रथ में पधराई जाती है। दोनों ओर दो बोधिसत्व रहते हैं। सब देवता साथ साथ चलते हैं। सब मूर्तियाँ सोने-चाँदी की बनी हुई होती हैं।...... राजा हाथ में फूल और धूप लिए नंगे पाँव नगर से रथ की अगवानी को जाता है। परिचारक पंक्तिबद्ध दोनों ओर रहते हैं। राजा साष्टांग दंडवत् कर फूल चढ़ाता है और धूप देता है......प्रत्येक संघाराम के अलग अलग रथ होते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनकी रथयात्रा के लिये एक एक दिन नियत है।"[1] पाटलिपुत्र में भी फाहियान ने बड़ी धूमधाम से होती हुई रथयात्रा देखी थी। वह लिखता है कि रथयात्रा का प्रचार सारे देश भर में था। बुद्ध-प्रतिमा का ऐसा ही जुलूस ह्वानचांग ने कन्नौज में देखा था जहाँ महाराज हर्ष अपने हाथ से प्रतिमा पर छत्र लगाए हुए पैदल जुलूस के साथ चले थे।[2] इसी यात्री ने प्रयाग में महाराज हर्ष द्वारा बुद्ध-प्रतिमा का विधिवत् अर्चन देखा था।

बुद्ध के अपूर्व त्याग तथा लोकहितकारी सुंदर सरल उपदेशों के महत्त्व को तो लोग भूल गए और उनमें ऋद्धि तथा सिद्धियों की कल्पना करने लगे। अब बुद्ध धर्मोद्धारक तथा मार्गप्रदर्शक नहीं किंतु एक अनंत-शक्ति-संपन्न देव समझे जाने लगे। देवता उनसे मिलने आते थे, वे जहाँ चाहें वहाँ गगनमार्ग से जा सकते थे इत्यादि उनके विषय में कल्पनाएँ होने लगीं। इतना ही नहीं किंतु कहीं उनके कमंडलु, कहीं उनके दंड तथा कहीं उनके दाँत की पूजा होने लगी।[3] फाहियान ने देखा था कि नगरहार (हिड्डा) में बुद्ध के एक कपालखंड की पूजा होती थी। उस हड्डी पर सोना तथा हीरे-मोती जड़े हुए थे[4] और प्रतिदिन राजा प्रजा सब उसके दर्शन करने आते थे। बुद्ध के भिक्षापात्र के लिये फाहियान कहता है कि गरीबों के थोड़े फूल चढ़ाने से यह तुरंत भर जाता है पर यदि कोई बड़ा धनी बहुत से

(१) फाहियान—जगन्मोहन
(२) Beal—Western World, 317.
(३) फाहियान—जगन्मोहन—१२, २२, २३।
(४) Beal—Records of the Western World, pp. XXXIV

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फूल चढ़ाने की इच्छा करे तो फूलों की सौ सहस्र या अयु
टोकरियों से भी वह नहीं भरता था।

हम पहले कह चुके हैं कि बुद्ध ने किसी नवीन मत का प्रचार नहीं किया था।[1] उन्होंने पुरातन आर्य धर्म के कुछ लोक-हितैषी तथा आत्मोन्नतिकारी अंगों पर जोर दिया था। विशेषता यह थी कि बुद्ध वेदों को प्रामाण्य नहीं मानते थे। आर्य सत्य-चतुष्टय, मध्यम पथ, तृष्णाक्षय, ये उनके मुख्य उपदेश थे। इन उपदेशों में ईश्वर का कोई स्थान नहीं था। बुद्ध ने आस्तिकता का कभी खंडन नहीं किया, परंतु तो भी उनका मत निरीश्वरवाद है। यह बुद्ध धर्म के भावी रूपांतर का मुख्य कारण हुआ। मानव-हृदय की यह प्रकृति है कि जब तक वह किसी महान् शक्ति की उपासना नहीं कर लेता उसे संतोष नहीं होता। सभ्यता के आदि काल से अब तक मनुष्य इस शक्ति को किसी न किसी रूप में पूजता आया है। भेद केवल स्वरूप के विषय में रहा है, सिद्धांत के विषय में नहीं। मिस्र, यूनान, रूम में अनेक प्रकार के देवों की प्रतिमाओं का पूजन होता था। ईरान और भारत में प्रकृति के महान् स्वरूपों का आह्वान किया जाता था और अदृश्य देवाधिदेव की स्तुति की जाती थी। कभी भयविह्वल होकर और कभी प्रेममुग्ध होकर मनुष्य इस अलौकिक शक्ति को सदा पूजता था। इसलिये मानव-हृदय के नैसर्गिक गुण का प्रभाव बौद्ध मत पर पड़े बिना नहीं रह सकता था। बुद्ध जब तक जीवित रहे तब तक उनका आदर्श व्यक्तित्व लोक-हृदय की प्यास को शांत करता रहा। उनके परिनिर्वाण के पश्चात् बौद्ध-हृदय

(१) बुद्धधर्म की प्रतिष्ठा—सरस्वती, मई १९१४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इधर उधर आश्रय ढूँढ़ने लगा। शुष्क-संन्यास और तृष्णा-त्याग के उपदेशों से लोगों की तृप्ति नहीं हो सकती थी। जनसाधारण को एक शांतिदायक आश्रय की आवश्यकता थी। इसलिये लोग बुद्ध के विमल गुणों का चिंतन तथा कथन करके इस प्यास को बुझाने लगे और परमात्मा के समान उनकी पूजा करने लगे। महायान संप्रदाय के बौद्ध पंडितों ने बुद्ध ही को स्वयंभू तथा अनादि अनंत परमेश्वर का रूप दे दिया। वे कहने लगे कि बुद्ध का निर्वाण तो उन्हीं की लीला है; वास्तव में बुद्ध का कभी नाश नहीं होता। वे सदैव अमर रहते हैं। इसी प्रकार बौद्ध ग्रंथों में यह प्रतिपादन किया जाने लगा कि बुद्ध भगवान् समस्त संसार के पिता, और सब नर नारी उनकी संतान हैं; वे सब को समान दृष्टि से देखते हैं, धर्म की व्यवस्था बिगड़ने पर वे केवल धर्म की रक्षा के लिये समय समय पर बुद्ध के रूप में प्रकट हुआ करते हैं; और देवादिदेव बुद्ध की भक्ति करने से, उनके स्तूप की पूजा करने से, अथवा उन्हें भक्तिपूर्वक दो चार पुष्प समर्पण कर देने से मनुष्य को सद्गति प्राप्त हो सकती है[1]; किसी मनुष्य की सारी आयु दुराचरण में क्यों न बीती हो, परंतु मृत्यु के समय यदि वह बुद्ध की शरण में जाय तो उसे अवश्य स्वर्ग की प्राप्ति होगी। गृहस्थाश्रम में रहते हुए भक्ति द्वारा निर्वाण पद पा लेना असंभव नहीं है[2]। इसी समय बौद्धों को यह विश्वास हो गया था कि बुद्ध तथा अमिताभ आदि देवों का भक्त सुखावती

---

(१) सद्धर्मपुंडरीक २, ७७–९८; ४, २२; १५, ५–२२।
(२) मिलिंद पन्हो ३–७–७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नामक अनंत सुखधाम स्वर्ग में जाता है जहाँ जन्म जरा मरण आदि कोई भी क्लेश नहीं होते।

इस प्रकार ईश्वर, भक्ति और स्वर्ग के भावों ने बौद्ध धर्म पर अपना अधिकार जमा लिया। शनैः शनैः बुद्ध के सिवाय और देवों की भी पूजा होने लगी। ब्रह्मा, विष्णु और महेश के स्थान में बौद्धों ने मंजुश्री, अवलोकितेश्वर तथा वज्रपाणि की कल्पना की और उनकी प्रतिमाओं का अर्चन होने लगा। फाहियान लिखता है कि "मथुरा में महायान के अनुयायी प्रज्ञा पारमिता, मंजुश्री और अवलोकितेश्वर की पूजा करते हैं।" आगे चलकर पाँच ध्यानी बुद्ध, पाँच बोधिसत्व और पाँच मानुषी बुद्ध माने जाने लगे और इनकी भी मूर्तियाँ बनने लगीं। फाहियान ने सिंधु नद के दाहिनी ओर दरद प्रदेश में मैत्रेय बोधिसत्व की एक काष्ठप्रतिमा देखी थी जो अस्सी हाथ ऊँची थी और जिसका आसन पालथी के एक घुटने से दूसरे तक आठ हाथ चौड़ा था। इस मूर्ति के विषय में उससे कहा गया था कि "यहाँ पूर्वकाल में एक अर्हत था। वह अपनी ऋद्धि के बल एक चतुर कारु को तुषित स्वर्ग ले गया कि वह मैत्रेय बोधिसत्व की ऊँचाई लंबाई रूप आदि देख आवे और फिर उनकी काष्ठमूर्ति बना दे। आदि से अंत तक उसने तीन बार देखा तब कहीं मूर्ति बनकर तैयार हुई।[1] कपिशा प्रदेश की एक पहाड़ी पर हुान-चाँग ने अवलोकितेश्वर की प्रतिमा का दर्शन किया था। वह लिखता है कि जो व्रत तथा श्रद्धापूर्वक उसकी पूजा करता था उसको अवलोकितेश्वर प्रतिमा में से बाहर निकलकर दर्शन

(१) Beal—Records of the Western World, p.6[?]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देते थे। उस देव का शरीर अत्यंत सुंदर था और वह यात्रियों की रक्षा करता था। साँची, सारनाथ और अन्य स्थानों पर अभी अनेक मूर्तियाँ बौद्ध देवों की, बोधिसत्वों की और ध्यानी बुद्धों की मिलती हैं।

जब बौद्ध धर्म विदेशों में फैला तब अवलोकितेश्वर की इसी रूप में अन्यत्र भी पूजा होने लगी। चीनी लोग उसको काण्ट्ज़ (Kwan-tsz) अर्थात् संसार पर करुण-दृष्टि से देखनेवाला देव कहने लगे, और नेपाल में उसका नाम पद्मपाणि रखा गया। तिब्बत में उसको चेनरेसी वानचग कहते हैं और जापान में कुयनवॉन। महायान के संस्कृत ग्रंथों, में उसका नाम करुणार्णव तथा अभयंदद भी है। चीन पूर्वी तुर्किस्तान, ख्वारीज्म, अफगानिस्तान, तिब्बत, नेपाल और ब्रह्मदेश में भी बुद्ध तथा बोधिसत्वों की पूजा होने लगी और भिन्न भिन्न देश के अनुयायियों के पुरातन विश्वास, रीति-रिवाज तथा रूढ़ियाँ बौद्धधर्म के अंग मानी जाने लगीं। इस प्रकार बौद्ध धर्म का विस्तार उसके रूपांतर तथा विचार का महान् कारण बना। इस समय चीन में अमिताभ[1] नामक बौद्ध देवता की पूजा होती है। वहाँ उसको ओपेतो कहते हैं और उसके भारतीय गुणों में ईरानी देवता मिथ्रास के गुण भी मिला दिए गए हैं। एक विद्वान् का तो मत है कि भारतीय बौद्धों ने अमिताभ की पूजा ईरानियों से ली थी। संभव है कि विदेशी देवों के नए नामकरणों का संस्कार करके उनको बौद्ध देव माना जाने लगा हो। स्थानाभाव से इस प्रकरण को आगे नहीं बढ़ाया जा सकता। संक्षेपतः

(१) Buddhism in China, p. 128, by Beal.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतना कहना पर्याप्त होगा कि बौद्ध निरीश्वरवाद मानव-हृदय की प्यास को न बुझा सका और सारा बौद्ध संसार गौतम बुद्ध को परमात्मा की भाँति पूजने लगा, बल्कि नए अनुयायियों ने अपने पुराने देवों को गुण, स्वरूप तथा नाम बदल-बदलकर बौद्धधर्म में प्रविष्ट कर दिया और इस प्रकार अनेक देवों की पूजा बौद्ध धर्म का प्रधान लक्षण बन गई।

हीनयान या महायान के त्रिपिटक तथा अन्य दार्शनिक ग्रंथ तो साधारण लोग न पढ़ सकते थे और न गूढ़ विषयों में उनका प्रवेश ही हो सकता था। बुद्ध तथा बोधिसत्वों की स्तुतियाँ तथा स्तोत्र उन लोगों का प्रधान धार्मिक साहित्य था जिसका वे नित्य पाठ किया करते थे। इन स्तोत्रों को बौद्ध लोग धारणी कहते हैं। आरंभ में धारणियाँ सुंदर स्तोत्र थीं जिनके द्वारा बौद्ध देवों का आह्वान किया जाता था, लेकिन शनैः शनैः ये देवीस्तोत्र और भैरवस्तोत्र के रूप में परिणत हो गए और लोगों का यह विश्वास होने लगा कि धारणियों के उच्चारणमात्र में कार्यसिद्धि की शक्ति है। फिर नाना प्रकार के मंत्र और तंत्रों में बौद्ध लोग विश्वास करने लगे और बुद्ध के नाम पर अनेक तंत्र-ग्रंथों की रचना होने लगी। चमत्कार में लोगों का विश्वास पहले ही था। वे प्रत्येक बोधिसत्व, तथा बुद्ध की शरीर धातुओं को इस शक्ति से संपन्न मानते थे। महेंद्र लंका में धर्मप्रचारार्थ भारत से आकाश-मार्ग से उड़कर पहुँचा है, बुद्ध के चरण-चिह्न आप ही छोटे बड़े हो जाते हैं, उनका भिक्षापात्र श्रद्धालु भक्तों से शीघ्र भर जाता है पर गर्विष्ठ लोगों द्वारा कभी नहीं, उनका दंतधातु कई चमत्कार बतलाता है, स्तूप आग उगल सकते हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इत्यादि विश्वास भारत में ही नहीं किंतु संपूर्ण बौद्ध जगत् में पूर्वी छठी शताब्दियों में प्रचलित थे। फिर ह्वानचांग के समय से मंत्र-प्रयोग की प्रधानता होने लगी। लोगों ने धारणियों को भी छोड़ दिया और अपनी मनोरथपूर्ति के निमित्त संक्षिप्त मंत्रों का उच्चारण करने लगे। यह महायान का रूपांतर मंत्रयान था।

दसवीं तथा ग्यारहवीं शताब्दी में मंत्रयान पर से भी कुछ लोगों की श्रद्धा हटने लगी और दर्शन, योग तथा भक्ति-उन्माद की ओर लोगों का मन झुकने लगा। महायान-अनुयायियों का विश्वास था कि आत्मा जब उन्नति करता है तब इस कामनापूर्ण पार्थिव संसार से ऊँचा उठता हुआ ऐसे लोक में पहुँच जाता है जहाँ न नाम है न रूप। फिर वहाँ से भी आगे बढ़ने पर खं में अंतर्हित हो जाता है। इसी को महायानी लोग निर्वाण कहते थे। लेकिन नवीन विचार-वालों का, जो वज्रयानी कहलाने लगे, मत था कि अरूप-लोक से आगे बढ़ने पर आत्मा निरात्मा देवी के अंक में पहुँचता है। वज्रयानी लोग हिंदू तांत्रिकों की भाँति शक्ति की उपासना करने लगे और कुमारीपूजा[1] आदि तंत्रविधियाँ बौद्ध धर्म का अंग बन गईं। इस समय बौद्ध धर्म काफी विकृत हो चुका था, परंतु फिर भी उसमें विकार होना बाकी था। १२वीं १३वीं शताब्दी के आसपास कालचक्रयान नामक एक पंथ उठ खड़ा हुआ। वैसे कहने को इसका सिद्धांत था मृत्युञ्जय या अमर-पद-प्राप्ति; लेकिन व्यवहार में कालचक्रयान के

(१) Introduction to Modern Buddhism—H. P. Shastri, pp. 6-7.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुयायी भूत प्रेत आदि की पूजा करते थे, इसलिये इसको प्रेतयान कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।[1] इस संप्रदाय ने बुद्ध को भी महाप्रेत माना है, और इसके साहित्य में बुद्ध के नाम के अतिरिक्त बौद्धमत की अन्य कोई बात नहीं है।

बौद्धमत का एक विकृत रूप है नाथमार्ग। नाथ लोग हठयोग के द्वारा सिद्धि-प्राप्ति में विश्वास करते थे। नाथों का प्रसिद्ध आचार्य हुआ है मत्स्येंद्रनाथ। दशवीं शताब्दी की लिपि में लिखा हुआ इस आचार्य का एक ग्रंथ मिला है जिसमें बौद्धमत के किसी भी सिद्धांत का प्रतिपादन या वर्णन नहीं है, परंतु तो भी पाटन में मत्स्येंद्रनाथ को अवलोकितेश्वर का अवतार माना जाता है और उसकी पूजा होती है। राजपूताने की कई रियासतों में नाथ लोग अब भी मिलते हैं और गोरखनाथ को अपना आचार्य मानते हैं। इनका पेशा है मंत्र-तंत्र। कई रियासतों में इनको ईति-निवारण के लिये माफी जमीन मिली हुई है। १७वीं, १८वीं शताब्दी तक राजपूताने के उच्चाधिकारी और शासक यह विश्वास करते थे कि नाथ अपने मंत्रों द्वारा टिड्डी तथा ओले टाल सकता है। यह बात ध्यान देने की है कि नाथमार्गी बौद्ध गोरखनाथ को सप्ताचार्यों में नहीं गिनते।

बौद्धों का सहजीया संप्रदाय तंत्रमार्ग से मिलता जुलता है। इसका आचार्य था कान्हु जिसने संस्कृत तथा बँगला दोनों में ग्रंथ लिखे हैं। तिब्बत में अब तक इसकी पूजा होती है और वैशाख की पूर्णिमा के दिन इसके लिये बकरों

(१) Waddel—Lamaism, p. 20.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का बलिदान होता है। सहजीया संप्रदाय के तीन भेद हैं। अवधूती मार्ग, चांडाली मार्ग तथा डोमी मार्ग।

अंत में बौद्ध मत पर तंत्रमार्ग ने आक्रमण किया। तंत्र-मार्ग के विषय में विद्वानों का मत है कि वह विदेशी मत है और संभवतः सिथियन जाति के पुजारी लोगों द्वारा उसने भारत में प्रवेश किया है। यह कहीं से भी आया हो, लेकिन इसने बौद्ध मत पर खूब विजय प्राप्त की। तांत्रिक बौद्ध, बोधि-सत्व, मंजुघोष, अक्षोभ्य आदि देवों की पूजा करने लगे और उनसे सिद्धियाँ प्राप्त करने में विश्वास करने लगे।

बौद्ध संघ का निर्माण शाक्य राज्यविधान के ढंग पर किया गया था। इसलिये यह अति सुसंगठित तथा सुव्यव-स्थित संस्था थी। आरंभ में बुद्ध ने स्त्रियों को संघ में भर्ती नहीं किया था परंतु फिर आनंद के आग्रह से उनको लिया जाने लगा। संघ में प्रविष्ट होने के, अधिकारियों का निर्वाचन करने के, दैनिक चर्य्या के, तथा नियमोल्लंघन के समय दंड देने के नियम कठोर तथा सुनिश्चित थे। इसलिये बुद्ध के जीवनकाल में संघ उन्नति करता रहा और सुस्थिर बना रहा, परंतु नियमों की कठोरता अनेक भिक्षुओं को असह्य हो चली थी और असंतोष बढ़ता जाता था। केवल बुद्ध के प्रबल व्यक्तित्व के प्रभाव से यह दबा हुआ था। कहते हैं कि उनके परिनिर्वाण के पश्चात् ही सुभद्र नामक एक वृद्ध भिक्खु अपने साथियों से कहने लगा "रोने का या दुःख करने का कोई कारण नहीं। अच्छा हुआ जो महाश्रमण से हमारा छुटकारा हो गया। वह हमको विधि-निषेध द्वारा निरंतर दुखी किया करता था। अब जो हमारी इच्छा होगी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सो हम करेंगे।"[१] इस प्रकार के व्याख्यानों के कुप्रभाव से संघ को बचाने के लिये महाकश्यप ने राजगृह में एक सभा की, जहाँ ५०० अर्हत एकत्र हुए, जिनमें उपाली तथा आनंद भी सम्मिलित थे। इस सभा में क्या निश्चित हुआ इसका न पूरा पता ही है और न इसकी छानबीन की इस लेख में आवश्यकता है। इससे यह तो स्पष्ट है कि संघ के भिक्खुओं में असंतोष, मतभेद तथा फूट परिनिर्वाण के बाद से ही प्रकट होने लगी थी।

बुद्ध के देहावसान के १०० वर्ष पश्चात् एक समय स्थविर यशस वैशाली गया और वहाँ महावन में टिका। वहाँ उसने देखा कि भिक्खु लोग दस निषिद्ध मार्गों का ग्रहण करने लग गए थे।[२] उसके कहने पर भी भिक्खुओं ने अपने निषिद्ध आचरण को नहीं त्यागा। यशस ने वैशाली में एक बड़ी सभा करवाई जिसमें विद्वान् वृद्ध भिक्खुओं की सम्मति से महावन के भिक्खुओं का आचरण निषिद्ध माना गया और संघ के दो खंड हो गए। कुछ पुस्तकों से यह भी ज्ञात होता है कि यशस आदि महावन के व्रिज्जिन भिक्खुओं ने पृथक् पृथक् सभा करवाई और दोनों के निर्णय भी पृथक् पृथक् हुए। कुछ भी हुआ हो, परिणाम यह अवश्य हुआ कि परिनिर्वाण के सौ वर्ष बाद बौद्ध संघ के दो भाग बन गए। एक भाग में प्राचीन नियमों का पालन होता था और दूसरे में सुभीते के अनुकूल नए नियमों का ग्रहण तथा पुराने नियमों का त्याग होता जाता था।

(१) Kern—Buddhism, चूलवग्ग ११, दीपवंश ४-५।
(२) चूलवग्ग ११।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विचार-भेद तथा आचार-भेद के कारण अशोक के समय में संघ के कई भाग हो चुके थे और होते जाते थे। इसका निवारण करने के लिये ही उसने पाटलिपुत्र में एक महासभा करवाई थी। इस समय विभज्यवादी, महासांगिक, स्थविर आदि संघ भिक्खुओं के प्रधान भेद थे और पारस्परिक मत-भेद इतना प्रबल हो चला था कि सभा में महासांगिक, स्थविरों को नहीं बुलाया गया। यह बहुत संभव है कि इस सभा ने जिन सिद्धांतों को निश्चित किया था उन्हीं का अशोक ने देश-देशांतरों में प्रचार करवाया हो। इस सभा के बाद भी संघ में आचार-भेद तथा विचार-भेद बढ़ता ही गया। इसको रोकने के निमित्त महाराज अशोक ने अपने महामात्रों के नाम आदेश किया था कि जो कोई भी संघ में संप्रदाय-भेद करने का यत्न करे, चाहे वह भिक्खु हो या भिक्खुणी, उसको श्वेत वस्त्र पहनाकर संघ से निकलवा दिया जाय।[1] एक समय २०० निषिद्धाचारी भिक्खुओं को अशोक ने संघ से निकलवा भी दिया था। परंतु इस प्रकार के राज्यादेशों से संघ में संप्रदाय-भेद होना बंद नहीं हो सका।

अशोक के प्रचार से जब बौद्ध धर्म देश-देशांतरों में फैला और सब जगह लोग प्रव्रज्या ग्रहण करके संघ में सम्मिलित होने लगे तो आचार-भेद तथा विचार-भेद बढ़ना स्वाभाविक ही था। इसी के बाद महायान तथा हीनयान—ये दो मुख्य मार्ग उठ खड़े हुए और दोनों के भिक्खु तथा भिक्खु-णियों के संघ अलग अलग स्थापित होने लगे। इन दोनों संस्थाओं के निर्माण, विचार, आचार, तथा उद्देश्य में भी

(१) अशोक के स्तंभलेख—सारनाथ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारी भेद था। दोनों के सिद्धांत भी उत्तरोत्तर पृथक् हो जाते थे और भेद में प्रभेद हो रहे थे।

महाराज कनिष्क के समय में संघ के भिक्खु लोग १८ संप्रदायों में विभक्त हो चुके थे और शायद इनको ही एक करने के निमित्त जलंधर में महासभा की गई थी। प्रत्येक संप्रदाय के दार्शनिक तथा धार्मिक विचार भी बदलते जाते थे। शंकराचार्यजी ने वेदांत सूत्रों में चार मुख्य बौद्ध संप्रदायों का खंडन किया है। वे ये हैं—सौत्रांतिक, वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक। इन चारों संप्रदायों के विचारों में भारी भेद था और इसलिये इनके संघ भी अलग अलग थे। इनमें माध्यमिक लोग नितांत शून्यवादी थे। इनके मतानुकूल यह संसार स्वप्न है, न यहाँ कोई अस्तित्व है, न जन्म, न मरण और न निर्वाण। यहाँ तक कि ये लोग बुद्ध के अस्तित्व को भी नहीं मानते।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(५) आलोचना

(१) महाकवि विहारीदास जी की जीवनी

व्रजभाषा-मर्मज्ञ साहित्य-सेवी बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर ने स्वरचित "विहारी-रत्नाकर" नाम की एक बड़ी विद्वत्तापूर्ण टीका विहारी-सतसई पर प्रकाशित की है। इस टीका की प्रशंसा बड़े बड़े विद्वानों ने की है। उसके विषय में विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है। "विहारी-रत्नाकर" के प्राक्-थन में सतसई की प्राचीन प्रतियों तथा उनके पाठ-भेद के विषय में रत्नाकर जी ने भली भाँति विवेचन किया है और विहारी की जीवनी इत्यादि पृथक् भूमिका में प्रकाशित करने का वायदा किया है। इस ही वायदे के अनुसार रत्नाकर जी ने "काशी-नागरी-प्रचारिणी पत्रिका भाग ८ अंक १ तथा २" में विहारी की जीवनी पर एक लेख प्रकाशित किया है। इस लेख में अब तक की उपलब्ध समग्र सामग्री पर अनुमानों को अवलंबित करके यह जीवनी लिखी गई है। इसमें पाठकों से अनुरोध किया गया है कि विहारी के संबंध में उनको कोई और वृत्तांत विदित हो तो वे सूचित करें, जिससे "विहारी-रत्नाकर" की भूमिका में उन बातों पर भी विचार किया जा सके। रत्नाकर जी की इस आज्ञा के अनुसार हम कुछ बातें उपस्थित करते हैं। आशा है कि रत्नाकर जी इन पर विचार करेंगे।

१—स्वर्गीय बाबू राधाकृष्णदास जी ने कोई ३० वर्ष पूर्व "कविवर विहारीलाल" नाम की एक छोटी सी पुस्तक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिखी थी, जिसको काशी-नागरीप्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किया था। इस पुस्तक में उक्त बाबू साहब ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि विहारी के पिता महाकवि केशवदास थे।

अपने लेख में रत्नाकर जी ने इस विषय पर विचार किया है और छः-सात पृष्ठों में इस अनुमान की पोषक और विरुद्ध उक्तियाँ दी हैं। रत्नाकर जी अंत में लिखते हैं—

"ऊपर जो बातें लिखी गई हैं, उनसे सुप्रसिद्ध कवि केशवदास जी ही को विहारी का पिता मानना संगत प्रतीत होता है, पर इस समय विद्वन्मंडली की धारणा इसके विरुद्ध है। अत: जब तक इस बात के और कुछ पुष्ट प्रमाण हाथ न आवें, तब तक हम भी विहारी के पिता अन्य ही केशव मानकर यह जीवनी लिखते हैं।"

हमारे विचार से कुछ बातें ऐसी हैं जो महाकवि केशवदास और विहारी के पिता-पुत्र संबंध की संभावना के बिलकुल विरुद्ध हैं—

१—केशवदास सनाढ्य थे, विहारी चौबे थे। इन दोनों में पिता-पुत्र का संबंध कैसे हो सकता है? इस वैषम्य को रत्नाकर जी ने यह कहकर दूर किया है कि एक प्रकार के चौबे सनाढ्य चौबे भी कहलाते हैं परंतु विहारी के वंशज न तो चौबे सनाढ्य हैं, न सनाढ्य चौबे हैं। वे तो शुद्ध कुलीन चौबे हैं। विहारी के वंशज बालकृष्ण जी के पुत्र गोपालकृष्ण चौबे को हम जानते हैं, वे भरतपुर राज्यांतर्गत दीग स्थान में वकालत करते हैं। उनके विवाहादि सब संबंध, मैनपुरी, इटावा आदि स्थानों में जो चौबे मिलते हैं उन्हीं में होते हैं। यदि विहारी सनाढ्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चौबे होते तो उनके वंशजों के विवाह संबंध सनाढ्य ब्राह्मणों में होते, चौबों में न होते। विहारी के भानजे कुलपति मिश्र के वंशज भी शुद्ध कुलीन चौबे हैं, सनाढ्य चौबे अथवा चौबे सनाढ्य नहीं हैं। इसलिये जाति संबंधी वैषम्य केशवदास को सनाढ्य चौबे मानने से दूर नहीं होता।

२—केशव और विहारी के पिता-पुत्र के संबंध के विरुद्ध एक बात और भी है, नहीं मालूम रत्नाकर जी का ध्यान उस ओर क्यों नहीं गया। यदि विहारी केशवदास के पुत्र थे, तो वे कुलपति मिश्र के मामा तभी हो सकते हैं जब केशव-दास जी की कन्या का विवाह कुलपति मिश्र के पिता परशु-राम जी के साथ हुआ हो। केशवदास जी मिश्र थे और परशुराम जी भी मिश्र थे। मिश्र की कन्या का विवाह मिश्र के साथ नहीं हो सकता। इसलिये विहारी के पिता महाकवि केशवदास जी को मानना संभव नहीं है।

३—विहारी के पिता का नाम केवल केशव अथवा केशव राय नहीं था, बल्कि हमारे विचार से उनका नाम 'केसौ केसौ राय' था। इस विषय पर एक लेख हमने माधुरी में प्रकाशित भी किया था। कदाचित् वह लेख रत्नाकर जी के दृष्टिगोचर नहीं हुआ। उस लेख की मुख्य मुख्य बातें विचारार्थ उप-स्थित करते हैं—

(अ) विहारी का एक दोहा है—

प्रगट भए द्विजराज कुल, सुबस बसे ब्रज आइ।
मेरे हरो कलेस सब, केसौ केसौ राइ॥

इस दोहे की टीका में कुछ टीकाकारों ने लिखा है कि विहारी के पिता का नाम 'केसौ' था, परंतु, इसमें कुछ मत-

पुस्तकालय गुरुकुल कांगड़ी
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भेद है। (१) कोई टीकाकार तो प्रथम शब्द 'केसौ' को विहारी के पिता का नाम बताते हैं और दूसरे शब्द 'केसौ राय' को भगवान् श्रीकृष्ण के लिये उपयोग किया गया कहते हैं। (२) कुछ टीकाकार इसके विरुद्ध दूसरा शब्द 'केसौ राय' विहारी के पिता का नाम मानते हैं। विहारी के सब से प्रथम टीकाकार कृष्णलाल का मत प्रथम पक्ष में है, रत्नाकर जी दूसरा पक्ष मानते हैं।

(व) कुलपति मिश्र ने अपने "संग्रामसार" ग्रंथ में अपना वंश वर्णन करते हुए अपने पितामह का भी वर्णन किया है—

"कविवर मातामहि सुमिरि, केसौ केसौ राइ।
कहौं कथा भारत्थ की, भाषा छंद बनाइ॥"

विचारने की बात यह है कि विहारी ने तो अपने उपरोक्त दोहे में दो शब्द केसौ तथा केसौ राइ का इसलिये उपयोग किया है कि उनको रूपक तथा श्लेष से, अपने पिता और भगवान् कृष्णचंद्र का वर्णन करना था, परंतु कुलपति मिश्र को क्या आवश्यकता थी कि उनके मातामह का नाम केवल केसौ राइ होने पर भी, एक शब्द केसौ और जोड़कर केसौ केसौ राइ लिखा है। कुलपति मिश्र के केसौ केसौ राइ लिखने से ज्ञात होता है कि उनके मातामह का नाम केसौ केसौ राइ ही था; केवल केसौ अथवा केसौ राइ नहीं था। कुलपति मिश्र विहारी के भानजे थे, इसलिये विहारी के पिता का नाम केसौ केसौ राइ ही था।

(३) रत्नाकर जी का अनुमान है कि कुलपति मिश्र ने उपरोक्त दोहे में महाकवि केशवदास जी का ही स्मरण

CC-0. In Public Domain: Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया है, क्योंकि उस समय केशवदास जी को छोड़कर कोई अन्य कवि केशव नाम का नहीं था। हमारा कहना है कि उस समय में केसौ केसौ राइ नाम के कवि ही विद्यमान थे। केवल केसौ अथवा केसौ राइ के ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं है। "केसौ केसौ राइ" नाम के कवि ही मौजूद थे। रत्नाकर जी ने 'नवीन' कवि का प्रबोध-रस-सुधासर नामक ग्रंथ देखा है। कोई ३० वर्ष हुए तब उन्होंने स्वयं इस ग्रंथ के कुछ भाग को सुधासर नाम से प्रकाशित किया था। नवीन ने इस ग्रंथ में "केसौ केसौ राइ" के छंद उद्धृत किए हैं। हमारे देखने में इस कवि के छंद अन्यत्र भी आए हैं। दो छंद उदाहरण में नीचे देते हैं—

कवित्त केसौ केसौ राइ कौ—

ननद निगोड़ी कनसूआ कौरे लागी रहै,
सासु सुनिहै तौ नाह नाहर सौ करिहै।
केसौ केसौ राइ जना जन सुनै जी कौ ज्यान,
तुम तौ निडर परवस सो तौ डरिहै॥
फैलि जैहै अब ही चवाव बृजबासिन में,
कहत सुनत कौन काकी जीभ धरिहै।
कह्यौ चाह्यौ सो तौ तुम मोही सों बुलाइ कहौ,
आन कान परे ते लाखन कान परिहै॥

नायिका की उक्ति सखी के प्रति अथवा रतिप्रीता की उक्ति सखी के प्रति। कवित्त केसौ केसौ राइ कौ—

कोक कूक वोही करौ कोकनद फूल्यौ जिन,
सौंएँ गुरु जन गौएँ प्रेम रस चाखिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सोइए न जागिए री हिय सौं लगाइए पै,
हिय कौं हुलास आली काहू सौं न भाखिए।
केसौ केसौ राइ सों वियोग पलहू न होइ,
जीवन अवध गुन प्रेम अभिलाखिए।
कछुक उपाय कीजै ऊगन न भान दीजै,
दिन दाब दूब लीजै रातैं करि राखिए॥

भरतपुर मयाशंकर याज्ञिक

---

(२) मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था

इधर कई वर्षों से हमारे संयुक्त प्रांत की सरकार ने उर्दू और हिंदी साहित्यों की उन्नति और प्रचार के लिये हिंदुस्तानी एकेडेमी नाम की एक संस्था प्रयाग में खोल रखी है और उसके व्यय के लिये वह पचास हजार रुपए प्रति वर्ष देती है। अच्छे अच्छे मौलिक ग्रंथ आदि लिखवाकर अथवा अन्यान्य भाषाओं से उनका अनुवाद कराकर प्रकाशित कराना इसका मुख्य उद्देश्य है। दो वर्ष हुए प्रयाग में इस संस्था ने मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था पर श्रीयुक्त अल्लामा अब्दुल्लाह यूसुफ अली सी० बी० ई०, एम० ए०, एल-एल० एम० के और मध्यकालीन भारतीय संस्कृति पर श्रीयुक्त राय बहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंदजी ओझा के व्याख्यान कराए थे। पहला व्याख्यान अल्लामा साहब का २, ३ और ४ मार्च सन् १९२८ को हुआ था। वही व्याख्यान उक्त एकेडेमी ने उर्दू में हिंदुस्तान के मआशरती हालात के नाम से प्रकाशित कराया था और उसका हिंदी अनुवाद यह "मध्यकालीन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत की सामाजिक अवस्था" है। इस प्रकार हिंदुस्तानी एकेडेमी व्याख्यानमाला की यह पहली पुस्तक है। इस हिंदी अनुवाद पर किसी अनुवादक का नाम नहीं दिया गया है।

अल्लामा अब्दुल्ला यूसुफ अली महोदय, जैसा कि उनके नाम और विद्या-संबंधी उपाधियों आदि से सूचित होता है, बहुत बड़े विद्वान् हैं। अरबी भाषा में "अल्लामा" बहुत बड़े और दिग्गज पंडित को कहते हैं और आपके बहुत बड़े पंडित होने में किसी को संदेह भी नहीं हो सकता। आप बहुत दिनों तक इस प्रांत में आई० सी० एस० में काम कर चुके हैं और भारत के सामाजिक जीवन के अनेक अंशों पर अँगरेजी में अनेक लेख आदि भी प्रकाशित कर चुके हैं। इतने बड़े दिग्गज विद्वान् की कृति के संबंध में कुछ कहने का साहस करना कोई साधारण काम नहीं है; और इसी लिये इस संबंध में मौन रहना ही हम अपने लिये श्रेयस्कर समझते हैं। परंतु अल्लामा महोदय के पांडित्य का पूरा पूरा सम्मान करते हुए और मन में उनके प्रति यथेष्ट आदर-भाव रखते हुए भी हम नम्रता-पूर्वक एक बात कहे बिना नहीं रह सकते। और वह यह है कि उनके समस्त व्याख्यान को आद्योपांत पढ़ जाने के उपरांत भी मध्य-कालीन भारत की सामाजिक स्थिति के संबंध में हमारे सरीखे अल्पज्ञ के अल्प ज्ञान में कोई विशेष वृद्धि न हो सकी। अपने कई सुयोग्य मित्रों को पुस्तक दिखलाने पर प्रायः हमारे उक्त मत की पुष्टि ही हुई। बल्कि एक मित्र ने तो यहाँ तक कहा कि इतनी साधारण बातें तो स्कूल के विद्यार्थी तक जानते हैं। संभव है कि हमारे मित्र की इस अंतिम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्मति में कुछ अत्युक्ति हो, तो भी इसमें कोई संदेह नहीं कि औसत दरजे के पढ़े-लिखे लोगों के लिये इसमें कोई विशेष ज्ञातव्य बात नहीं है। कम से कम इतना तो अवश्य है कि अल्लामा महोदय सरीखे विद्वान् से लोग इसकी अपेक्षा कुछ अधिक उच्च कोटि की बातें सुनने की आशा रखते हैं। इस पुस्तक में संस्कृत के कतिपय नाटकों के अँगरेजी अनुवादों, विदेशी यात्रियों के यात्रा-विवरणों तथा कुछ प्रसिद्ध इतिहासों के आधार पर हिंदुओं के सामाजिक जीवन की बहुत सी बातें बतलाई गई हैं। संभव है कि औसत दरजे के अँगरेजों और मुसलमानों के जानने योग्य इसमें बहुत सी नई बातें हों, परंतु कम से कम हिंदुओं के लिये तो इसमें कोई ऐसी नई और अनोखी बात नहीं है। दो प्रकांड विद्वानों की योग्यता की तुलना करने की सामर्थ्य तो हममें नहीं है; परंतु फिर भी हम सरसरी तौर पर इतना अवश्य कह सकते हैं कि इसके उपरांत मध्यकालीन भारतीय संस्कृति पर श्रीमान् गौरीशंकरजी ओझा का जो दूसरा व्याख्यान हुआ था और जो अब छपकर प्रकाशित भी हो गया है, उसमें अपेक्षाकृत बहुत अधिक ज्ञातव्य बातें भरी हुई हैं—ऐसी बातें भरी हुई हैं जो जानने, समझने और मनन करने के योग्य हैं। भारतीय इतिहास का मध्यकाल, साधारणतः ईसवी सातवीं शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी के मध्य तक माना जाता है और यह काल अधिकांश में हिंदू काल था। इस काल के बने हुए बहुत से संस्कृत ग्रंथों का हिंदी में अनुवाद हो चुका है जो सर्व साधारण को उपलब्ध हैं। और इस व्याख्यान में ऐसी बहुत ही कम बातें हैं जो उक्त अनुवादों तथा इतिहास संबंधी कुछ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और ग्रंथों के पाठकों को पहले से विदित न हों। इन व्याख्यानों के उर्दू में प्रकाशित होने से उर्दू साहित्य की भले ही श्रीवृद्धि हुई हो, परंतु यह बात निश्चित है कि हिंदी साहित्य की इससे कोई विशेष श्रीवृद्धि नहीं हुई। न इतना कहे बिना हम रह सकते हैं और न इससे अधिक और कुछ कह सकते हैं।

अब व्याख्यानों के विषय को छोड़कर हिंदी अनुवाद को लीजिए। अनुवाद अधिकांश में बहुत ही निकम्मा और रद्दी हुआ है, विशेषत: उसका आरंभिक अंश तो ऐसा है जो हिंदुस्तानी एकेडेमी की प्रतिष्ठा में बट्टा लगानेवाला है। ऐसी शिथिल, भ्रष्ट, अशुद्ध और बेमुहावरे भाषा शायद बाजारू पुस्तकों में भी न मिलेगी। इस संबंध में कुछ अधिक न कहकर दो चार उदाहरण दे देना ही यथेष्ट होगा। पुस्तक के दूसरे ही पृष्ठ में एक वाक्य है—"उर्दू अक्षरों के सभी विविध रूपों को जो हाथ की लिखाई में देखने में आती हैं।" सीधी सी बात है कि इस वाक्य में "आती हैं" की जगह "आते हैं" होना चाहिए। उसी पृष्ठ में थोड़ी दूर आगे चलकर लिखा है—"पहली ही निगाह में पढ़ लेना एक सहज काम और स्वाद सौंदर्य बन जाय।" जब लाख प्रयत्न करने पर भी इस "स्वाद सौंदर्य" का कोई अर्थ हमारी समझ में न आया, तब लाचार होकर असल मतलब जानने के लिये हमें उर्दू संस्करण देखना पड़ा। तब कहीं जाकर समझ में आया कि यह "जमालिया-ती-लज़्ज़त" का अनुवाद है और उलटा या अशुद्ध अनुवाद है। इसका वास्तविक अभिप्राय यह है कि "इसका स्वरूप ऐसा सुंदर हो जाय जो नेत्रों के लिये सुखदायक हो।" अब पाठक ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विचार करके देखें कि इस "स्वाद सौंदर्य" से यह अभिप्रा कहाँ तक निकलता है। पृष्ठ ७ में है—"हमारे इतिहास के मध्य युग का आरंभ सन् ६०० ई० से आरंभ किया है।" आरं शब्द ने यहाँ दो बार आकर शिथिलता का अंत कर दिया है पृष्ठ ८ में एक स्थल पर है—"सिंधु की घाटी को इरा की प्राचीन सभ्यता से कुछ न कुछ संबंध जरूर था।" उर्दू तो "ताल्लुक" से पहले "को" विभक्ति अवश्य आती है; परं हिंदी में "संबंध" से पहले "को" विभक्ति लान किसी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता। और अनेक स्थानों पर इसी प्रकार आँखें बंद करके उर्दू ढं से ही भाव प्रकट किए गए हैं। जैसे पृष्ठ ६ में "और विप रीत इसके"। पृष्ठ १२ में पहले ही वाक्य में लिखा है—"हमा मध्यकाल सातवीं शताब्दी से आरंभ होकर सोलहवीं शताब्दी के मध्य में समाप्त हो जाते हैं।" यहाँ "मध्यकाल" को बहुवचन में रखने का क्या आशय है, यह अनुवादक महाशय ही बतला सकते हैं। साधारणतः हिंदी और उर्दू दोनों में "उस" या "उन" के साथ "वह" या "वे" आता है और "इस" या "इन" के साथ "यह" या "ये" आता है। परंतु पृष्ठ २३ के चार पाँच वाक्यों में इस नियम का ऐसा उल्लंघन किया गया है जिससे जान पड़ता है कि अनुवादक महाशय या तो यह भेद समझते ही नहीं और या इसे नितांत अनावश्यक समझते हैं। उदाहरणार्थ—"उनके घरों में संतरी का काम कुत्तों से लिया जाता था और ये लोग गायों पर सवार होते थे।" एक और वाक्य है—"उनका पहिरावा भद्दे से जंगली रेशम का होता था और बिछौने को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जगह ये लोग सूखी खालें काम में लाते थे।" इससे तो यही सूचित होता है कि भद्दे से जंगली रेशम के पहिरावेवाले कोई और लोग थे और बिछौने की जगह सूखी खालें काम में लानेवाले उनसे भिन्न कुछ और ही लोग थे। परंतु वास्तव में यह बात नहीं है। ये दोनों ही बातें एक ही प्रकार के व्यक्तियों के लिये कही गई हैं। पृष्ठ २७ में लिखा है—"यहाँ सूर्य के आतप से बड़ा सुख मिलता था।" इससे अभिप्राय निकलता है कि सूर्य का आतप ही सुखकर होता था; परंतु वास्तविक अभिप्राय यह है कि यहाँ सूर्य के आतप से बहुत रक्षा होती थी। पृष्ठ २८ में है "चित्र उतारने की कला की पराकाष्ठा को प्रमाणित करते हैं।" पृष्ठ ३५ में है—"इस कथाओं के संग्रह में" परंतु होना चाहिए—"कथाओं के इस संग्रह में"। पृष्ठ ६२ में है—"जयचंद ने स्वयंवर का दरबार नियुक्त करने में अनुचित साहस का काम किया है।" "दरबार" शब्द के साथ "नियुक्त" का प्रयोग बहुत ही खटकता है। साथ ही स्वयंवर को दरबार बतलाकर अनुवादक ने भी "अनुचित साहस का काम किया है।" उसी पृष्ठ में "दरबार खुल गया" की जगह "दरबार लग गया" होता तो वाक्य बामुहावरे हो जाता। "असफलता", "प्रभावित" और "भेष" आदि अनेक असिद्ध शब्द भी स्थान स्थान पर देखने में आते हैं। तात्पर्य यह कि भाषा की दृष्टि से यह पुस्तक किसी प्रकार अच्छी और संतोषजनक नहीं कही जा सकती। हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित इस पहले ही ग्रंथ की यह दुर्दशा देखकर हमें बहुत ही दुखी और निराश होना पड़ा है।

इसी प्रसंग में एक और बात कह देना भी आवश्यक जान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पड़ता है। इस पुस्तक में सुयोग्य लेखक या व्याख्याता महोदय ने कई ऐसे ऐतिहासिक प्रवादों का ऐतिहासिक सत्य घटनाओं के रूप में उल्लेख कर दिया है जिनका ऐतिहासिक दृष्टि से खंडन हो चुका है। "राजपूतों का शिष्टाचार और शील" के प्रकरण में "राजपूतों के सामाजिक जीवन पर विशेष प्रकाश डालने के लिये" प्रायः सात पृष्ठों में संयोगिता के स्वयंवर और पृथ्वीराज के उसे भगा ले जाने का बहुत ही विस्तारपूर्वक उल्लेख किया गया है। परंतु विज्ञ लोग जानते हैं कि ऐतिहासिक अन्वेषण द्वारा यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि यह घटना मिथ्या और कल्पित है। इसी प्रकार की और भी अनेक बातें हैं जिनका यदि विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाय तो एक पोथा तैयार हो सकता है। परंतु यहाँ इतना अवकाश नहीं है; इसलिये पाठकों को इतने से ही सब बातें समझ लेनी चाहिएँ।

एकेडेमी के सदस्यों में अँगरेजी, हिंदी और उर्दू के बड़े बड़े विद्वान् लोग हैं। सुनते हैं कि वह व्याख्याताओं, लेखकों और अनुवादकों आदि को पुरस्कार भी बहुत अच्छा देती है। जो काम इतने अधिक व्यय से और इतने बड़े बड़े विद्वानों के तत्त्वावधान में हो, उसमें इस प्रकार की त्रुटियाँ शोभा नहीं देतीं। हम आशा करते हैं कि भविष्य में पुस्तकें आदि प्रकाशित करते समय हमारी इन नम्र सूचनाओं पर ध्यान दिया जायगा और एकेडेमी की पुस्तकें सभी दृष्टियों से आदर्श निकलेंगी।

पुस्तक का कागज, जिल्द और छपाई आदि सभी बातें बहुत अच्छी हैं; और छपाई की उत्तमता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि पुस्तक प्रयाग के सुप्रसिद्ध इंडियन प्रेस की छपी हुई है।

नंददुलारे वाजपेयी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूचना

पदक और पुरस्कार

इस सभा द्वारा निम्नलिखित पदक और पुरस्कार ग्रंथकर्ताओं को दिए जायँगे। प्रत्येक पुरस्कार २००) रु० का है और उसके साथ एक रौप्य पदक भी दिया जायगा। ग्रंथकारों को कृपापूर्वक अपने ग्रंथ इन पुरस्कारों के लिये सभा में यथासमय भेजने चाहिएँ।

रत्नाकर पुरस्कार—यह ब्रज भाषा के सर्वोत्तम काव्य के लिये दिया जाता है। इस विषय के जो ग्रंथ १ माघ १९८४ से ३१ पौष १९८७ तक प्रकाशित होकर आवेंगे, उन्हीं पर विचारकर यह इस वर्ष दिया जायगा। इसके साथ "गुलेरी रौप्य पदक" दिया जायगा।

बटुकप्रसाद पुरस्कार—यह संवत् १९८८ में सर्वोत्तम शिक्षाप्रद मौलिक नाटक या उपन्यास के लिये दिया जायगा। इसके लिये १ माघ १९८५ से ३१ पौष १९८८ तक के प्रकाशित ग्रंथों पर विचार होगा। इसके साथ "सुधाकर रौप्य पदक" दिया जायगा।

मेहता जोधसिंह पुरस्कार—यह भी संवत् १९८८ में सर्वोत्तम ऐतिहासिक ग्रंथ के लिये दिया जायगा और १ माघ १९८५ से ३१ पौष १९८८ तक की पुस्तकों पर विचार होगा। इसके साथ "राधाकृष्णदास पदक" दिया जायगा।

डाक्टर छन्नूलाल पुरस्कार—यह विज्ञान विषयक सर्वोत्तम ग्रंथ के लिये दिया जाता है। इसके साथ "रेडिचे रौप्य पदक" भी दिया जाता है। १ माघ १९८६ से ३१ पौष १९८९ तक के प्रकाशित ग्रंथों के लिये यह पुरस्कार संवत् १९८९ में दिया जायगा।

द्विवेदी स्वर्ण पदक—हिन्दी में इस वर्ष सभी विषयों के जो ग्रंथ प्रकाशित होंगे उनमें से सर्वोत्तम ग्रंथ के लिये यह पदक दिया जायगा। यह पदक प्रतिवर्ष दिया जाता है।

माधवप्रसाद खन्ना
प्रधान मंत्री
नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

२०-३-१९८७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूचना

सभा में एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के नवें संस्क... का एक सेट, सुन्दर मोरक्को की पचीस जिल्दों में, बहुत अ... अवस्था में है जो ४३०) रु० में खरीदा गया था। इसे... सभा बेचना चाहती है। अतः जो सज्जन इसे खरी... चाहते हों वे कृपापूर्वक सभा को लिखें और यह भी सू... करें कि वे उसका क्या मूल्य देंगे।

माधवप्रसाद खन्ना
प्रधान मंत्री
नागरीप्रचारिणी सभा, का...

Printed by A. Bose, at the Indian Press, Ltd.
Benares-Branch.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

अर्थात्

प्राचीन शोधसंबंधी त्रैमासिक पत्रिका

[नवीन संस्करण]

भाग ११—अंक २

ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः
पुस्तक सं० ....
आगत सं० ....
तिथि० ....
गुरुकुल ग्रन्थालय काँगड़ी.

संपादक

महामहोपाध्याय रा० ब० गौरीशंकर हीराचंद ओझा

—:※:—

काशी-नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

श्रावण संवत् १९८७]

[मूल्य प्रति संख्या २।) रुपया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-सूची

विषय

६—विशाल भारत के इतिहास पर एक स्थूल दृष्टि [ले०—श्री परमात्माशरण एम० ए०, काशी] ... ..

७—जयमल्ल और फत्ता (पत्ता) की प्रतिमाएँ [ले०—ठाकुर चतुरसिंह, मेवाड़]... ... ...

८—औरंगजेब का "हितोपदेश" [ले०—पंडित लज्जाराम मेहता, बूँदी] ... ...

९—हिंदी की गद्य-शैली का विकास [ले०—श्री जगन्नाथ प्रसाद शर्मा एम० ए०, काशी] ... ...

सूचना

निम्नलिखित नई पुस्तकें छपकर प्रकाशित हो गईं—

१—मैथिल कवि विद्यापति ठक्कर कृत कीर्तिलता [संपादक बाबूराम सक्सेना, एम० ए०]

२—अकबरी दर्बार (दूसरा भाग) [अनुवादक—रामचंद्र वर्मा]

३—कर्मवाद और जन्मांतर [अनुवादक—लल्लीप्रसाद पांडेय]

४—हिंदी-साहित्य का इतिहास [लेखक—रामचंद्र शुक्ल]

५—हिंदी-रसगंगाधर [लेखक—पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी]

६—रसखान और घनानंद [संपादक—अमीरसिंह]

छप रही हैं

१—मुँहणोत नैणसी की ख्यात (दूसरा भाग)।

२—बाँकीदास ग्रंथावली (दूसरा भाग)।

प्रकाशन-मंत्री

नागरीप्रचारिणी सभा

काशी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(६) विशाल भारत के इतिहास पर एक स्थूल दृष्टि

[लेखक—श्री परमात्माशरण एम० ए०, काशी]

कुछ समय पहले तक पाश्चात्य विद्वानों का ऐसा विश्वास था कि प्राचीन काल में भारतवर्ष का किसी अन्य देश से संबंध नहीं था। उनका मत था कि भारतीय संस्कृति और सभ्यता का उत्कर्ष उसी भूमि के अंदर परिमित था और भारतीय सभ्यता तथा साम्राज्य कभी अन्य देशों में नहीं फैले। इस विश्वास का एक कारण तो यह था कि हमारे इस युग के धर्म्माधिकारियों ने समुद्र पार जाने को धर्म्म-विरुद्ध ठहरा दिया था। ऐसी अवस्था में जब पाश्चात्य विद्वानों ने हमारे साहित्य का अध्ययन पहले पहल किया तब उन्होंने हिंदुओं के जात-पांत और खान-पान इत्यादि के झगड़ों को देखकर यह परिणाम निकाला कि यह देश सदैव से ऐसे ही पार्थक्य की नीति का पालन करता है, अतएव इसका किसी दूसरे देश से संबंध नहीं हो सकता था। इसी आधार पर इन विद्वानों ने यह परिणाम भी निकाला कि भारतवर्ष में विज्ञान आदि पदार्थ-विद्याओं की कोई उन्नति नहीं हुई। उनको यही जान पड़ा कि यहाँ के लोग सब से अलग कोने में बैठकर पारलौकिक विज्ञान और तत्त्वों की मानसिक इमारतें ही बनाते रहे।

"विशाल भारत" ऐतिहासिक खोज का एक नया विषय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परंतु बीसवीं शताब्दी के आरंभ में ही कुछ नई खोज हु
जिसके कारण उपर्युक्त सिद्धांत की जड़ें हिल गईं। सन् १९
ई० में एक जरमन विद्वान् पुरातत्त्ववेत्ता ने सीरिया देश
बोगजकुई स्थान पर एक प्राचीन लेख खोज निकाला जिस
कारण "भारतवर्ष की अद्भुत विरक्तता" (India's splen-
did isolation) वाला सिद्धांत बिलकुल बे-बुनियाद साबि
हो गया। इस लेख से यह पता चला कि ई० पू० चौदहवीं
शताब्दी में कैपेडोशिया[1] में दो युयुत्सु जातियाँ अर्थात् हि
इट और मितन्नी संधि करते समय इंद्र, वरुण एवं मरुत् इत्यादि
वैदिक देवताओं से शुभाकांक्षा करती और उनकी साक्षी दे
हैं। इस संधि के फल स्वरूप उन दोनों जातियों के राज
घरानों में एक विवाह होता है और इसमें वर वधू को आशी
र्वाद देने की देवताओं से याचना की जाती है। इस प्रका
यह साबित हो गया कि भारतीय सभ्यता प्राचीन काल
केवल इसी देश के चारों कोनों में परिमित नहीं थी वर
उसके बाहर भी दूर दूर के देशों में फैली हुई थी। गत बी
पचीस बरसों के अन्वेषण से यह सिद्ध हुआ है कि भारती
संस्कृति समस्त पश्चिमी और मध्य एशिया के देशों में त
पूर्व में जावा, सुमात्रा, श्याम, कंबोडिया, बाली, इत्या
स्थानों में फैली हुई थी।

हमारी यह संस्कृति कब कब और कहाँ कहाँ फैली औ
उसका क्या प्रभाव पड़ा इसका वर्णन करने से पहले भार
के प्राचीन जीवनोद्देश पर एक स्थूल दृष्टि डालना उचि
प्रतीत होता है।

(१) सीरिया देश के एक भाग का प्राचीन नाम।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिस समय आर्य[1] लोग भारतवर्ष में आए, उन्हें द्रविड़ जाति का सामना करना पड़ा। आर्यों ने द्रविड़ों को नष्ट करना अपना धर्म नहीं समझा। इसके विपरीत उन्होंने द्रविड़ों को अपने में मिला लिया और दोनों के मेल से एक शक्तिशाली भारतीय जाति उत्पन्न हुई जिसने एक महती सभ्यता को जन्म दिया। इस जाति ने बड़े बड़े कार्य सिद्ध किए और संसार के इतिहास में अपना नाम अमर कर दिखाया। इसी अवसर में यहाँ पर बड़े बड़े युद्ध भी हुए और इस जाति ने अपने इन अनुभवों से आदर्श शिक्षाएँ ग्रहण कीं। उसने अनुभव किया कि युद्ध में सच्ची जीत उसी की है जिसने धर्म को नहीं छोड़ा, और यह कि शांति की स्थापना ही युद्ध का सच्चा फल होना चाहिए। इसी आदर्श को लेकर महाराज अशोक ने अपने धर्म-साम्राज्य अथवा विशाल भारत की स्थापना की।

भारतीय साम्राज्य-आदर्श की अन्य समकालीन जातियों के आदर्श से तुलना

परंतु अशोक के समकालीन अन्य देशों के राजाओं का आदर्श उपर्युक्त आदर्श से भिन्न था। उदाहरणार्थ ई० पू० ५०० के लगभग ईरान के राजा डेरिस ने सार्वभौम राज्य स्थापित करने के अभिप्राय से मिस्र और मेसोपोटामिया के राज्यों को नष्ट किया। ईरान के इस साम्राज्यवाद की यूनान को भी चोट लगी और यूनान का प्रभाव रोम पर पड़ा। इधर

(१) प्रायः पाश्चात्य विद्वानों का एवं उनके एतद्देशीय अनुयायियों का मत है कि "आर्य्य" जाति-विशेष का नाम है। परंतु ऐसा प्रतीत होता है कि यह मत निश्चय रूप से ठीक ही है, ऐसा कहना कठिन है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एथेंस, स्पार्टा, इत्यादि, उधर रोम, सभी साम्राज्य-स्थापन की दौड़ में बहने लगे। अंत में सिकंदरे आजम ने समस्त पश्चिमी एशिया को अपने वश में किया। यूनान में सिकंदर ने और रोम में कैसरों ने सार्वभौम साम्राज्य के आदर्श को अंधे होकर पकड़ा। उन्होंने अपने से पहले के साम्राज्यों के इतिहास से शिक्षा न ली। वे इस बात को भूल गए कि जो राज्य पाशविक शक्ति की रेतीली बुनियाद पर खड़े होते हैं वे चिरस्थायी नहीं होते। सिकंदर के मरते ही उसका साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गया। किंतु उसके उत्तराधिकारियों को भी वही नशा सवार था। उन्होंने गिरे हुए भवन को फिर से उठाने का यत्न किया। उन्होंने पड़ोसियों को नष्ट करके अपनी स्वार्थ-सिद्धि के हेतु अमानुषिक बल के आधार पर साम्राज्य खड़ा करने की फिर से चेष्टा की।

इसके विपरीत भारतवर्ष के सम्राट् अशोक ने इसी युग में एक दूसरे ही प्रकार के साम्राज्य की स्थापना की। उसने संसार के सामने शांति के राज्य का एवं अपने सामने मनुष्य मात्र (संभवतः जीव मात्र) की उन्नति का आदर्श रखा। इस महान् आदर्श को लेकर उसने अपने जीवन में दो बड़े कार्य संपादित किए। कलिंग युद्ध के बाद ही उसने स्वार्थी साम्राज्यवाद का एकदम बहिष्कार कर दिया। परंतु वह इतने से ही संतुष्ट न रहा। उसने पाशविक शक्ति के स्थान पर मानुषिक तथा आत्मिक शक्ति से आध्यात्मिक शक्ति का साम्राज्य स्थापन करने का संकल्प किया और इस संकल्प को अपने जीवन में पूरा करके दिखा दिया। इस प्रकार सम्राट् धर्माशोक का धार्मिक साम्राज्य समस्त एशिया पर स्थापित हुआ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह राज्य तलवार के बल से नहीं किंतु विश्व-प्रेम, सेवाभाव, आत्म-समर्पण, तथा आध्यात्मिक बल के द्वारा स्थापित किया गया। इस प्रकार भारतवर्ष के सम्राट् अपने अनोखे आदर्श को लेकर विश्व विजय करने निकले और यहीं से "विशाल भारत" की नींव पड़ी।[1]

पहले तो अशोक ने सारे देश में धर्म अर्थात् सत्य और सौजन्य का प्रचार किया। फिर अन्य देशों को भी धर्म-ग्रंथि में ग्रथित करने के लिये देश-देशांतरों में प्रचारक भेजे, जैसे—(१) सीरिया, जहाँ उस समय एंटियोकस थियोस राज्य करता था; (२) मिस्र, जहाँ उस समय टोलेमी फिलाडेल्फस का राज्य था; (३) साइरीन, जहाँ मेगस नाम का राजा था; (४) मेसेडोनिया, जो एंटिगोनस गोनेटस के राज्य में था, इत्यादि।[2] इसके अतिरिक्त उसने अपने पुत्र महेंद्र तथा पुत्री संघमित्रा को लंका भेजा और स्वर्णभूमि अर्थात् बर्मा में भी प्रचारक भेजे।

अशोक ने भारतीय सभ्यता का कितना विस्तार किया

अशोक के इस महान् कार्य से संसार ने पहले पहल इस बात का अनुभव किया कि राजनीति और राज्यविस्तार केवल स्वार्थ के लिये ही नहीं वरन् आध्यात्मिक उद्देश से भी हो सकता है। इस प्रकार महाराज अशोक के द्वारा भारतवर्ष

---

(१) महाभारत तथा अन्य प्राचीन ग्रंथों से मालूम होता है कि उस समय भी इस देश का साम्राज्य भारतवर्ष के बाहर दूर दूर देशों पर रहा होगा। किंतु उसका विस्तृत विवरण विदित नहीं है।

(२) इन देशों के नाम २५७-६ पू० ई० के अशोक के शिलालेखों में दिए हुए हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने संसार की जातियों को शांति तथा सच्ची उन्नति का उपहार प्रदान किया।

अशोक की इस महान् विजय के सामने सिकंदर की सांसारिक लोलुपता से परिपूर्ण सफलता और विश्व-विजय सब तुच्छ हैं। भारतवर्ष पर तो इस विजय का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ा। विजेता के लौटते ही यहाँ की जनता उसके इस तुच्छ तथा घृणित काम को ऐसे भूल गई माने वह एक स्वप्न था। इसके बाद चंद्रगुप्त ने सिकंदर के यूनानी उत्तराधिकारियों को भारत से मार भगाया। तब दोनों में सुलह हो गई और भारत का मान इतना बढ़ा कि मेगस्थिनीज, डाईमेकस, डायोनिसियस इत्यादि राजदूत यूनान तथा मिस्र आदि देशों से मगध के दरबार में आते रहे। वे सब भारत से संबंध बराबर रखना चाहते थे। वे भारतवर्ष की सभ्यता से प्रभावित होने लग गए थे। ऐसे समय में अशोक ने भारतीय आदर्श एवं सभ्यता का इन देशों में प्रचार किया।

सिकंदर की दिग्विजय की अशोक की दिग्विजय से तुलना

इसके कुछ काल पीछे ई० पू० दूसरी शताब्दी में फिर कतिपय यूनानी राजाओं ने भारत के कई भागों पर अधिकार जमा लिया। परंतु इस समय उनमें से कई एक हिंदू धर्म्म के अनुयायी हो चुके थे। सन् १५० (ई० पू०) के बेसनगर के स्तंभ-लेख से पता चलता है कि एक यूनानी राजा ने वैष्णव मत ग्रहण किया था। बौद्ध धर्म्म के ग्रंथ "मिलिन्द पन्हों"[1] से स्पष्ट है कि बौद्ध दर्शन और धर्म्म का कितना

अशोक के प्रचार का प्रभाव

(१) अर्थात् "मिनांडर राजा की प्रश्नावली"।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रभाव यूनानी विद्वानों पर पड़ा। कला पर भी भारत का गहरा प्रभाव पड़ा जिसके फल स्वरूप "यूनानी-बौद्ध-कला" (Greeco-Buddhist Art) की उत्पत्ति हुई।

अपने इस आत्म-समर्पण तथा विश्वप्रेम के आदर्श को भारतवर्ष ने सदैव सामने रखा और पूरी तरह निबाहा।[1]

भारतवर्ष का आदर्श और उसकी सफलता

यही आदर्श इस देश के साहित्य में हर जगह हमें मिलता है। पहली और दूसरी शताब्दी ईसवी में जब मध्य एशिया की आर्य-बौद्ध जातियाँ इस देश में आईं तब उनको अपनाने में भारतीय जनता ने तनिक भी रोक टोक न की। इतना ही नहीं, किंतु उसने हीनयान, अर्थात् केवल व्यक्तिगत निर्वाण के मार्ग के अतिरिक्त महायान अर्थात् समस्त मानव समाज की शांति एवं मोक्ष प्राप्ति के मार्ग की योजना की। उस समय के सर्वोच्च पंडित अश्वघोष ने उसी सामाजिक आदर्श को फैलाया जिसकी पूर्त्ति के लिये महाराज अशोक ने जीवन भर प्रयत्न किया था। अब उसको समस्त भारतीय जनता ने अपना लिया। ईसा की पहली शताब्दी से भारतवर्ष ने अपने विश्व-प्रेम का सँदेसा फैलाना प्रारंभ कर दिया। अल्पात्मा को विश्वात्मा अथवा सूत्रात्मा के लिये समर्पण करने के इस महान् आदर्श को लेकर भारतवर्ष ने आत्मिक साम्राज्य-निर्माण के पथ का अनुसरण किया और थोड़े ही समय में आर्य संस्कृति तिब्बत, चीन, कोरिया, जापान, बर्म्मा, श्याम, इंडो-चायना, ज़ावा इत्यादि इत्यादि स्थानों में फैल गई। इस प्रकार भारत की विश्व-विजय हुई और भारतीय संस्कृति का

---

(१) मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे वेद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साम्राज्य स्थापित हुआ। इसी प्रकार की विजय तथा आदर्शों का कालिदास ने भी "रघुवंश" में उल्लेख किया है, यथा—

स विश्वजितमाजह्रे यज्ञं सर्वस्वदक्षिणाम्।
आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव॥
(सर्ग ४, श्लोक ८६)

हम अपने प्राचीन इतिहास के इस भाग को बिलकुल भूल गए थे। थोड़े ही दिनों से इस क्षेत्र की ओर विद्वानों का ध्यान गया है और अब इसकी खोज बड़े वेग से हो रही है। बड़े बड़े विद्वान् इसी काम में अपना जीवन लगा रहे हैं जिससे आशा होती है कि इस विषय का पूरा हाल हमको शीघ्र ही मालूम हो जायगा। इस इतिहास से आधुनिक शासकों और राजनीतिज्ञों के अंतरराष्ट्रीय संबंधों की शिक्षा ग्रहण करने की बड़ी आवश्यकता है। मानव जाति के इतिहास में यह युग एक विशेष महत्त्व रखता है। इसमें भिन्न भिन्न देशों की संस्कृतियों का एकीकरण एवं परस्पर पुष्टि-करण ऐसा हुआ जैसा आज तक कभी नहीं हुआ। बौद्ध, माजदा, टाओ, कन्फ्यूशियन, क्रिश्चियन, इत्यादि अनेक मत अपने अपने तर्क और आचार विचारों को लेकर आपस में मिल गए। वे आज की तरह लड़े नहीं। इसके विपरीत इस संबंध से प्रत्येक ने बड़ा भारी लाभ उठाया। उदाहरण के लिये हम बौद्धमत का ईसाई मत पर क्या और कितना प्रभाव पड़ा उसे नीचे देते हैं।

विंसेंट स्मिथ आदि इतिहासवेत्ता इस बात को मानते हैं कि ईसाई मत के प्रारंभिक निर्माण पर बौद्धमत का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है। यह बात अब सिद्ध हो गई है कि महात्मा ईसा के जन्म के पहले ही "साइरीन" (Cyrene) और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिस्र में एसिनीज (Essenes) और थेराप्यूट (Therapeuts) लोग रहते थे। ये दोनों बौद्ध मतावलंबी थे। इन देशों में बौद्धों ने २०० वर्ष पूर्व से वही धर्म्म फैला रखा था जिसका प्रचार बाद में ईसा ने किया। ईसा के आगमन से पूर्व "जान बेप्टिस्ट" (John, the Baptist) एसिनीज लोगों के मत से भली भाँति परिचित था। कुछ लोगों का विश्वास है कि वह स्वयं बौद्ध था। कदाचित् ईसा ने बौद्धधर्म के सिद्धांत इसी से सीखे थे। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रारंभ में ईसाई और बौद्ध धर्म्म में कितनी समानता थी।[1]

भारतीय संस्कृति का विस्तार अशोक के काल से मुसलमानों के आक्रमण तक बराबर अन्य देशों और जातियों में होता रहा। इस विस्तार को हम दो विभागों में बाँट सकते हैं जिसमें इसके अध्ययन में सुभीता हो। एक तो भारत के पश्चिमोत्तरी देशों और जातियों में, दूसरा पूर्वी देशों और जातियों में।

भारतीय संस्कृति का अन्य देशों में विस्तार

इस विभाग में चीन, तिब्बत, नैपाल, जापान, मध्य एशिया (जिसको Serindia भी कहते हैं) अर्थात् खुतन, कूचा, काशगर, आदि सब देशों को शामिल कर सकते हैं। इस विभाग में कूचियन, सोगडियन, मंगोलियन इत्यादि जातियों पर भारतीय संस्कृति का बड़ा भारी प्रभाव पड़ा जिसके कारण उन्होंने इस संस्कृति को चीन इत्यादि देशों में फैलाने में बड़ा भारी काम किया।

पश्चिमोत्तर देशों में

(१) देखो 'Fountain-head of Religion,' by Pt. Ganga Prasad, M.A., 4th Ed., pp. 17, 18.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन जातियों के द्वारा चीन में बौद्ध धर्म्म का प्रचार ईसा की पहली शताब्दी में ही हो गया था, किंतु भारतवर्ष से चीन का सीधा संबंध चौथी शताब्दी के अंत में फा-हियान के बाद से प्रारंभ होता है।

चीन से संबंध

इस समय से बौद्ध धर्म्म के कई मुख्य मुख्य ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद हुआ, जैसे धर्म्मपद, मिलिंदपद इत्यादि। फा-हियान भारतवर्ष में कोई १५ वर्ष रहा और देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक घूमा। उसने पाटलिपुत्र में रेवती नामक बौद्ध विद्वान् से शिक्षा ग्रहण की और लंका में जाकर धर्म्म-प्रचार किया। फा-हियान के अतिरिक्त इस समय अन्य बहुत से भक्त चीन से गोबी रेगिस्तान, खुतन और पामीर के भयानक पहाड़ी रास्तों से इस देश में आते रहे। फा-हियान भी इसी मार्ग से आया था। वह तक्षशिला, पुरुषपुर (पेशावर) इत्यादि विद्यापीठों में घूमा, तीन वर्ष पाटलिपुत्र में ठहरकर बौद्ध धर्म्म का अध्ययन करता रहा और अंत में लंका, जावा इत्यादि होता हुआ चीन लौट गया।

इसी समय एक विद्वान् कुमारजीव ने बौद्ध धर्म्म को चीन में फैलाने में बड़ा भारी काम किया। कुमारजीव का पिता एक भारतीय था। युवा अवस्था में वह काश्मीर में जा बसा। वहाँ उसने उस देश की राजपुत्री से विवाह किया। इनका पुत्र कुमारजीव हुआ। कुमारजीव की माता अपने पुत्र को शिक्षा दिलाने के लिये भारत में आई। युवक कुमारजीव बौद्ध हो गया और चीन में जाकर उसने बौद्ध ग्रंथों के अनुवाद करने के लिये एक मठ स्थापित किया। यह बड़ा तीव्र-बुद्धि तथा प्रकांड पंडित था। इसके सफलीभूत कार्य ने चीन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में बौद्ध धर्म की बुनियाद को पाताल तक पहुँचा दिया। इसी समय में (ई० ४१६ में) एक और विद्वान्, बुद्धभद्र ने चीन में जाकर ध्यान संप्रदाय की स्थापना की।

पाँचवीं शताब्दी में कई विद्वान् प्रचारक लंका और जावा से चीन में गए और उन्होंने वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार किया। इसके अतिरिक्त काश्मीर का राजकुमार, जो राज-पाट को लात मारकर बौद्ध भिक्षु हो गया था, अपने धर्म का प्रचार करने चीन गया। वहाँ पर उसने दो बौद्ध-विहारों की स्थापना की और भिक्षुणियों की भी एक संस्था चलाई। छठी शताब्दी में समुद्र मार्ग के द्वारा लंका और मलाया के टापुओं में से होते हुए चीन से भारतवर्ष का अधिक आना जाना शुरू हुआ। एक और बड़ा बौद्ध पंडित परमार्थ नामक (४२०—५००) सन् ४४० ई० में चीन में पहुँचा। वहाँ पर उसने बसुबंधु तथा अन्य विद्वानों के ग्रंथों के अनुवाद किए और योगाचार्य संप्रदाय की स्थापना की।

छठी शताब्दी से ११ वीं त : चीन और भारत का सं : ध

इस काल में चीन और भारत का विशेष संबंध हो गया। बहु : से लोग दोनों देशों से आने जाने लगे। इत्सिग तथा युवानच्वांग के लेखों से मालूम होता है कि चीन इत्यादि देशों में भारतीय धर्म्म के प्रति बड़ी भारी श्रद्धा तथा प्रेम उत्पन्न हो गया था। सब देश इसे अपना आध्या : त्मिक गुरु मानने लगे थे। इस समय में जिन जिन भारतीय ग्रंथों का अनुवाद चीनी भाषा में हुआ वे सब चीन के साहित्य का एक मूल्यवान् भाग बन गए हैं। भारत के प्रति इतनी भक्ति हुई कि यहाँ की कला, विज्ञान, दर्शन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इत्यादि जो कुछ भी विद्याएँ उन देशों में जाती थीं उनको सर्वोच्च स्थान दिया जाता था।

इस विषय पर पाल पेलियट, सर ऑरेल स्टाइन, तथा ... वेडेल इत्यादि विद्वानों की नई खोज ने यह सिद्ध कर दिया है कि यूनानी, ईरानी, ईसाई तथा मैनिकियन यह सब संस्कृतियाँ मध्य एशिया में आकर बौद्ध धर्म की आत्मा में सम्मिलित हो गई। इसी समय चीन में टाओ मत और कनफ्यूशियन मत भी ज़ोर पकड़ रहे थे और टाओ मतावलंबियों और बौद्धों में परस्पर बड़े झगड़े हुए। १३वीं शताब्दी में चंगेज खाँ के पुत्र कुबलई खाँ के राज्य में तो बौद्धों की विजय हुई, किंतु उसके बाद उनका पतन प्रारंभ हो गया।

कोरिया और जापान में भारतीय सभ्यता

कोरिया में बौद्ध मत चीन से चौथी शताब्दी में ही पहुँच गया था। इसके बाद कुछ प्रचारक भारतवर्ष से भी वहाँ गए। छठी शताब्दी में कोरिया के राजा और रानी भी भिक्षु हो गए थे। सन् ५३९ ई० में जापान में यहीं से बौद्ध धर्म पहुँचा। वहाँ पर पहले तो कुछ विरोध हुआ। किंतु छठी शताब्दी के अंत तक समस्त विरोधी दल नष्ट हो गया। जापानी राजा उमायाडो ने बौद्ध धर्म को सन् ५८७ ई० में राजधर्म बना दिया। उसने कोरिया से बौद्ध पंडितों को ज्योतिष आदि विद्याओं की शिक्षा के लिये बुलाया और बौद्ध धर्म्म के अध्ययनार्थ चीन में विद्यार्थी भेजे। फिर तो जापान में अनेक प्रचारक तथा धर्म्म-शिक्षक पहुँच गए। फल यह हुआ कि शीघ्र ही जापान के सामाजिक और आध्यात्मिक जीवन पर बौद्ध धर्म्म के आचार विचार, दया, अहिंसा इत्यादि के आदर्शों का बड़ा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गहरा प्रभाव पड़ा। सन् ७३६ में भारत का बौद्ध पंडित बोधीसेन जापान में गया और वहाँ का महंत बना। इन प्रचारकों ने जापान में संगीत, शिल्प तथा अन्य कलाओं की भी बड़ी भारी उन्नति की जिनके नमूने जापान के विचित्रालय में अब तक विद्यमान हैं। इनके अतिरिक्त बौद्ध हकीमों ने अपनी सेवा तथा सौजन्य से ऐसा प्रभाव डाला कि बौद्ध धर्म्म की बड़ी जल्दी उन्नति हुई।

तिब्बत देश की राजनीतिक महत्ता सातवीं शताब्दी में महाराजा स्रौंग सान गेम्पो (६३०-६६८ ई०) के समय में बढ़ी। सान गेम्पो ने दो विवाह किए, एक नैपाली स्त्री से, दूसरा चीनी स्त्री से। उसकी नैपाली रानी ने तिब्बत में बौद्ध धर्म्म का प्रचार किया। गेम्पो ने अपने मंत्री कुंभी संपोटा को बौद्ध धर्म्म का अध्ययन करने के लिये भारतवर्ष भेजा। उसने देवनागरी अक्षरों के आधार पर तिब्बती लिपि बनाई। गेम्पो के बाद एक और राजा ने (७४०—७८६) भारतीय विद्वानों को अपने यहाँ बुलाया और बौद्ध ग्रंथों के अनुवाद कराए। इस प्रकार तिब्बत का अपना साहित्य तथा धर्म्म-पुस्तकें तैयार हो गईं।

तिब्बत में भारतीय सभ्यता

तिब्बत में एक नवीन प्रकार का संप्रदाय पैदा हो गया। वहाँ पर उच्च दर्शनशास्त्र तथा वास्तविक बौद्ध धर्म्म के स्थान पर रहस्यवाद और छायावाद का अधिक आदर हुआ। इसी के फल स्वरूप वहाँ पर वज्रयान तथा कालचक्रयान की उत्पत्ति हुई और लामामत की स्थापना हुई।

तेरहवीं शताब्दी में टाओ मतावलंबियों ने बौद्ध धर्म्म का बड़ा विरोध किया और बौद्ध धर्म माननेवालों पर बड़े अत्याचार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने शुरू किए। उनके बहुत से मंदिर तथा मठ जला डाले और बहुत से छीन लिए। इसी समय में मंगोल विजेता चंगेज खाँ ने

तुर्क और मंगोल चीन, तिब्बत और भारतवर्ष की पश्चिमी जातियों में भारतीय सीमा तक समस्त मध्य एशिया को जीत सभ्यता लिया। सन् १२२७ में उसकी मृत्यु के बाद उसका बेटा जगतई सिंहासनाधीश हुआ। जगतई सन् १२४१ में मर गया और उसके बाद मंगू को खान निर्वाचित किया गया। उसके छोटे भाई कुबलई ने दक्षिण चीन को भी अधिकृत कर लिया। सन् १२५९ में कुबलई स्वयं राजा हो गया। चंगेज खाँ तो अपनी लड़ाई और चढ़ाइयों के काम में इतना व्यस्त रहता था कि बौद्ध लोग उस तक अपनी फरियाद न पहुँचा सके। किंतु मंगू खाँ और उसके भाई कुबलई खाँ के शासन में स्थिति बदल गई। बौद्धों ने मंगू खाँ से शिकायत की कि टाओ मतवाले हम पर बड़े अत्याचार करते हैं। मंगू खाँ ने दोनों मतों के पंडितों के बीच में कई बड़े-बड़े शास्त्रार्थ कराए। अंत में फग्स पा[1] नामी लामा ने टाओ मतवालों को पूर्णतया पराजित कर दिया, और शर्त के अनुसार अठारह टाओ पंडितों को सर मुँडाकर बौद्ध धर्म ग्रहण करना पड़ा। फग्स पा का कुबलई खाँ पर इतना प्रभाव पड़ा कि उसने बौद्ध धर्म्म को राजधर्म्म बना लिया और फग्स पा को बुलाकर राजमहंत के पद पर नियुक्त किया। तिब्बत के द्वारा भारतवर्ष और नैपाल की भिन्न भिन्न विद्याएँ तथा कलाएँ मध्य एशिया में मंगोलों के राज्य में पहुँचीं। सन्

(१) "फग्स पा" आर्य शब्द का तिब्बती रूप है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१२८० में फग्स पा का स्वर्गवास हुआ। उसके बाद धर्म्मपाल उसके स्थान पर लामा हुआ। उन लोगों के प्रचार का इतना प्रभाव पड़ा कि मध्य एशिया और साइबेरिया के तुर्क, तिब्बती तथा अन्य निकटस्थ जातियाँ एक आध्यात्मिक एकता के सूत्र में बँध गईं।

पूर्वी देशों तथा द्वीपों में भारतीय उपनिवेश

इसी समय में भारत के लोग बर्म्मा, श्याम, कंबोडिया इत्यादि देशों में से होते हुए सुमात्रा, जावा, बोर्नियो और बाली इत्यादि द्वीपों में पहुँचे और वहाँ उन्होंने अपने उपनिवेश स्थापित किए। इन स्थानों में पुराने खंडहर तथा शिलालेख इत्यादि बहुत मिले हैं। इनके अतिरिक्त अन्य प्रकार के प्रमाण भी ऐसे मिल चुके हैं जिनके आधार पर यह सिद्ध हो गया है कि भारतवर्ष के व्यापारी तथा यात्री लोग इन देशों में भी पहले से ही पहुँच गए थे। चीनी साहित्य से पता चलता है कि फुनान अर्थात् कंबोडिया में तीसरी शताब्दी में भारतीय लोग मौजूद थे। अतएव यह कहना निराधार नहीं होगा कि ईसा की पहली शताब्दी से ही भारतीय संस्कृति का काफी प्रभाव पीगू, बर्म्मा, चंपा, कांबोज, सुमात्रा, जावा इत्यादि पर पड़ चुका था।

फिर पाँचवीं शताब्दी में अन्य देशों में नए भारतीय उपनिवेश शुरू हुए और चंपा तथा कांबोज बिलकुल हिंदू बन गए। यह समय भारतवर्ष में बड़ी वैज्ञानिक तथा साहित्यिक उन्नति का था। इस ज्ञानोन्नति के कारण सब मतों में परस्पर सहिष्णुता तथा उदारता के भाव बढ़ रहे थे। यही समय था जिसमें बौद्धमत भी हिंदू धर्म्म का एक अंग बन गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन पूर्वी देशों में भारतीय सभ्यता अब तक विद्यमान है। वहाँ के त्योहार इत्यादि भारतीय हैं। रामायण तथा महाभारत का उतना ही मान वहाँ पर है जितना यहाँ पर। उदाहरण के लिये श्याम के एक त्योहार का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है।

बाहरी देशों में भारतीय सभ्यता आज तक विद्यमान है।

श्याम में इस त्योहार को "लोह चिंगचा" बोलते हैं इस शब्द का सीधा अर्थ है "भूला भूलना"। यह त्योहार पौष महीने में श्याम के बेंकाक नगर में मनाया जाता है। इसमें ब्राह्मणों का बड़ा काम पड़ता है। इसके मनाने के लिये एक विशेष तीर्थस्थान नियत है। प्रति वर्ष नियत दिन से कुछ समय पहले राजा अपने एक उच्च पदाधिकारी को उत्सव का प्रमुख बनने का काम सौंप देता है। इसको शिव का (फ्राईस्वेन, अर्थात् ईश्वर) पार्ट खेलना पड़ता है।

श्याम में झूले का त्योहार

भूले के लिये एक बाड़ा बाँधा जाता है। यह भूला चार मजबूत रस्सों का होता है। उसमें भूलने के लिये एक तखता कोई छ फुट लंबा लटका दिया जाता है। इस तखते में एक और रस्सी बँधी होती है जिसे पकड़कर झोंटे देने में आसानी होती है। भूले के पश्चिम की ओर उससे थोड़ी दूर पर एक लंबा बाँस गाड़ दिया जाता है और उस में रुपयों की एक पोटली लटका दी जाती है। उत्सव के प्रारंभ होते समय चार हृष्ट पुष्ट युवक विशेष प्रकार के वस्त्र धारण करके भूले पर चढ़ जाते हैं। इनकी टोपियाँ बड़ी ऊँची होती हैं और देखने में नागमुखी सी लगती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन टोपियों से ऐसा प्रतीत होता है कि ये लोग न तो देवता हैं न मनुष्य, बल्कि शेषनाग की प्रजा में से हैं और संसार को शिवजी की लीला दिखाने आए हैं।

ब्राह्मण लोग अखाड़े में दाखिल होकर प्रार्थना करना आरंभ करते हैं और एक आदमी झूले को हिलाना शुरू कर देता है। जब झोटे बढ़ने लगते हैं तब वे चार मनुष्य, जो तखते पर चढ़े होते हैं, देवताओं को नमस्कार करने के लिये नव जाते हैं। फिर धीरे धीरे झोटे इतने बढ़ जाते हैं कि झूला उस बाँस तक पहुँचने लगता है। तब झूलनेवालों में से एक आगे को झुककर रुपयों की पोटली अपने दाँतों से पकड़ लेता है। इस प्रकार तीन बार नए चार झूलनेवाले, नया तखता, नई पोटली इत्यादि सब बदलकर वही लीला की जाती है। खेल समाप्त होने पर यह बारह झूलनेवाले नादियों के सींग लेकर तीन तीन बार नाचते हैं और अपने सींगों को पानी में डुबोकर सब पर छिड़कते हैं। मुख्य पात्र अर्थात् जो इस उत्सव का राजा बनता है वह सब लीला को एक निश्चित आसन पर बैठा हुआ देखता रहता है। उसका बायाँ पैर जमीन पर रखा रहता है और दहना बाएँ घुटने पर। उत्सव के अंत तक उसे इसी प्रकार बैठना पड़ता है। इसके बाद ब्राह्मण जन स्तुतिगान करते हैं जिसको सुनने के पश्चात् भगवान् "फ्राईस्वेन" अपने देवताओं के साथ बिदा हो जाते हैं।

तीसरे दिन फिर यह सब लीला इसी प्रकार दोहराई जाती है और तब यह उत्सव समाप्त हो जाता है।

यह उत्सव प्राचीन समय में सारे श्याम देश में मनाया जाता था। किंतु अब केवल बैंकाक में ही वसंत की

२०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संक्रांति के दिन मनाया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस त्योहार का अभिप्राय सूर्य्य के उत्तरी गोलार्ध में आने तथा उसके चक्रों को संकेत करना है। किंतु इसका संबंध कृषि से भी मालूम होता है। शिवजी श्रावण शु० सप्तमी को इस पृथ्वी पर पधारते हैं। इस कारण सप्तमी और नवमी को यह उत्सव किया जाता है।

यह साफ मालूम होता है कि यह त्योहार भारतीय डोल-यात्रा का रूपांतर ही है। हमारे देश में यह फाल्गुन की पूर्णिमा को मनाया जाता है। इसमें जो कुछ फरक हो गया है वह समय और स्थान के कारण से है।

परंतु झूले के लट्ठों को मेरु पर्वत, रस्सों को शेष, तीन तखतों को तीन देवताओं, अर्थात् आदित्य, चन्द्र और धरणी, का चिह्न रूप माना जाता है। इससे यह भी संभव है कि यह उत्सव देवताओं के समुद्र-मंथनवाली कथा के स्मृति-रूप हो। झूले के झोटे पूरब पश्चिम दिशा में दिए जाते हैं। इससे भी इस विचार की पुष्टि होती है।[1]

जिस प्रकार भारतवर्ष में गुड़ियों और कठपुतलियों के खेल तमाशे होते हैं उसी प्रकार जावा में भी होते हैं। वहाँ पर इन तमाशों को वायांग कहते हैं।

जावा में महाभारत और वायांग

यद्यपि जावा-निवासी ५०० वर्ष से मुसल-मान धर्म्मानुयायी हैं तो भी उनके वायांगों में अब तक हिंदुओं की प्राचीन कथाएँ प्रचलित हैं। इन वायांगों का दिखलानेवाला, जिसे "दालंग" कहते हैं, कठपु-

(१) "Encyclopædia of Religion and Ethics," (vol. V., p. 889.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लियों को एक डोरी के जरिए से नचाता है। इसी प्रकार हमारे देश में होता है। भेद इतना है कि यहाँ पर देखने-वाले कठपुतलियों को ही देखते हैं, किंतु जावा में इनकी पर-छाईं एक चादर पर डाली जाती है और दर्शकगण इन पर-छाइयों को देखते हैं। भारतवर्ष में भी प्राचीन समय में इसी प्रकार कठपुतलियों के छायाचित्र दिखाए जाते थे। तमाशे के साथ जावा का संगीत भी होता रहता है जिसे गेमिलन कहते हैं। ये कठपुतलियाँ भारतीय महाकाव्यों के नायकों को ही सूचित करती हैं। बहुत काल के रिवाज से इन सब कठ-पुतलियों के आकार, सूरत शकल, रंग तथा जेवर मर्यादित हो गए हैं। कोई १००० वर्ष पहले वायांग के खेल जावा में इतने प्रचलित थे कि कविगण इन छायाचित्रों का अलंकारों में प्रयोग किया करते थे और दर्शक लोग इन अभिनयों को बड़ी रुचि के साथ देखते और समझते थे।

१९वीं शताब्दी के प्रारंभ में Sir Stamfford Raffles ने "वायांग" के संबंध में इस प्रकार लिखा था—इस प्रकार के दृश्यों से, जिनका जातीय गाथाओं से संबंध हो, जो उत्सुकता तथा जोश लोगों में उत्पन्न होता था उसका अनुमान करना भी कठिन है। दर्शकगण रात भर बैठे बैठे बड़े हार्दिक हर्ष तथा एकाग्र चित्त से इन गाथाओं को सुना करते थे।

आजकल भी विशेष मौकों पर गृहस्थी में वायांग का होना अत्यंत आवश्यक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस लीला का जावा में कितना भारी मान अब तक है।

जिस समय हिंदू लोग जावा में आए, वे अपने धर्म-ग्रंथ अपने साथ लाए। इनमें से महाभारत सबसे शीघ्र अधिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोकप्रिय हुआ। उसके अठारह पर्वों के आधार पर शीघ्र ही नाटकों की रचना हो गई। इनमें से कतिपय ग्रंथ, जो गद्य में महाराजा अरलंगा (Erlangga) के काल अर्थात् ११वीं शताब्दी में लिखे गए थे, हाल ही में मिले हैं और हालैंड के उन विद्वानों ने उनको प्रकाशित भी कर दिया है। मलाया साहित्य में इन उद्धृत प्रसंगों को "हिकायात पांडवा लीमा" कहते हैं।

केदिरी (Kediri) के राजा जयबाय के काल में उसके राजकवि पेनुलूह (Penoolooh) ने भी महाभारत के कतिपय अंशों का गद्यात्मक उल्था प्राचीन जावा की भाषा अर्थात् "कवी" (Kavi poetry) पद्य में किया था। यह ग्रंथ 'भारत युद्ध' आधुनिक जावी भाषा में (Brata yuda) व्रतयुद कहाता है। महाभारत की कथाओं का इतना गहरा प्रभाव जावा-निवासियों पर पड़ा कि महाभारत के पात्रों तथा स्थानों को वे लोग अपने देश के ही मानने लगे और उनको यह विश्वास हो गया कि महाभारत का युद्ध जावा में ही हुआ था और जावा के राजा लोग प्राचीन पांडव तथा यादव वंशों से ही अपनी उत्पत्ति बतलाने लगे।

किंतु इस घटना के साथ साथ प्रारंभ से ही पुराने जावा, मलाया और पोलिनीशिया की पौराणिक कथाएँ भारतीय कथाओं के साथ मिलने लगीं। अतएव मुसलमानों के आक्रमण तथा शासन के पहले युग में अर्थात् सन् १५०० ई० १७५८ तक, बड़ी विध्वंसकारी लड़ाइयों के कारण प्राचीन हिंदू रीति तथा मर्यादा कुछ पीछे पड़ गई। सन् १७५० के बाद जावा का "पुनरुज्जीवन" हुआ और तब से वहाँ के प्राचीन हिंदू साहित्य का पुनरुत्थान करने के लिये बड़ा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयत्न शुरू हुआ। परंतु "कवी" अर्थात् जावा की पुरानी भाषा इस समय पूरी तरह नहीं पढ़ी जाती थी। इसका परिणाम यह हुआ कि इस समय जो ग्रंथ लिखे गए उनमें बड़ी विचित्र विचित्र अशुद्धियाँ घुस गईं, यद्यपि ये सब पुस्तकें पुराने ग्रंथों के आधार पर ही लिखी गई थीं जो १८वीं शताब्दी में जावा में मिलते थे। अंत में इन तमाशा करनेवालों ने (अर्थात् दालंगों ने) स्वयं भी कुछ परिवर्त्तन कर दिए; क्योंकि वे अपने खेलों को अधिक रुचिकर तथा प्रिय बनाने के लिये पुरानी कथाओं की परिस्थिति को समयानुकूल बनाते जाते थे।

तमाशा करते समय "दालंग," "लाकोन" (Lakons) में देखता जाता है जिससे भूल न जाय। ये लाकोन छोटे छोटे नाटक होते हैं। दालंग कुछ नई बातें तुरंत भी गढ़ देता है जिससे श्रोताओं की मनस्तुष्टि हो। इन संक्षिप्त नाटकों के अतिरिक्त बड़ी बड़ी पुस्तकें भी होती हैं। इन नाटकों को ४ वर्गों में रखा गया है। देवताओं, राक्षसों तथा वीरों की उत्पत्ति की कथाएँ, जो महाभारत के आदिपर्व से ली गई हैं, इन कथाओं में मालय-पोलिनेशी गाथाओं का काफी मिलाव है। अंतिम किंतु सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण कथासमूह का विषय है पांडवों तथा कौरवों की कथाएँ।

महाभारत के आधार पर रचित ऐसे लाकोन कोई १५० होंगे जिनमें से आठ में पांडवों के पूर्वजों का वर्णन है।

महाभारत में तो पांडवों का देश-निकाला तथा पर्यटन "जतुगृह" घटना के बाद शुरू होता है। तब इंद्रप्रस्थ में युधिष्ठिर का राज्याभिषेक होता है। इसके पीछे चौपड़ खेलने की घटना होती है और पांडव फिर वनवास को जाते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं और 'विराट' राजा के यहाँ वेष बदलकर रहते हैं। पांडवों के फिर से प्रकट होने के बाद कुरुक्षेत्र में युद्ध प्रारंभ होता है।

जावा की कथाएँ इससे कुछ भिन्न हैं। इनके अनुसार चौपड़ जतुगृह में ही खेली गई, और खेल के बीच पांडवों को विषैला जल पीने को दिया जाता है जिससे भीम (Braha Sen in Javanese) के सिवा सब बेहोश हो जाते हैं और भीम उनको जलते हुए मकान से बाहर लाता है। तब दूर दूर घूमने के बाद पांडव लोग विराट नाम के देश में पहुँचते हैं। अंत में जब वे अपना सच्चा स्वरूप विराट के राजा मत्स्यपति को बतलाते हैं तब वह उन्हें इंद्रप्रस्थ (Ngamarta) का राज्य भेंट करता है। द्रौपदी का स्वयंवर इसी समय होता है।

इसी बीच में दुर्योधन (Sujudana) की शक्ति हस्तिनापुर (Nagastina) में बहुत बढ़ जाती है। वह पांडवों को उनकी राजधानी से निकाल देता है। वे फिर विराट देश के राजा मत्स्यपति की शरण लेते हैं। कृष्ण को भी अपनी राजधानी द्वारका (Dvaravati) छोड़नी पड़ती है। तदनंतर भारत युद्ध (Brata yuda) प्रारंभ होता है।

जावा-निवासियों को अर्जुन सबसे अधिक प्रिय हैं। कम से कम ५० नाटकों में वह मुख्य पात्र का स्थान ग्रहण करता है, किंतु अपने जीवन के शुरू में वह अपने प्रतिद्वंद्वी पाल्गू नादी (Palga Nadi) को एक घृणित षड्यंत्र द्वारा मरवा देता है। यह पाल्गू नादी भी द्रोणाचार्य का एक शिष्य था। अन्य लाकोनों में अर्जुन का सुभद्रा से प्रेम बढ़ाना और अन्य प्रतिद्वंद्वियों से लड़ना इत्यादि वर्णित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। उसकी अन्य जीवन-घटनाएँ तथा नाम भी अनेक हैं। किसी किसी नाटक (लाकोन) में सिकंडी को अर्जुन की एक स्त्री दिखलाया गया है। उसके दो बेटों का विवाह कृष्ण की दो पुत्रियों के साथ हुआ है। और अर्जुन की पुत्री सुगातवती का विवाह कृष्ण के पुत्र संबा के साथ हुआ है। अर्जुन और कृष्ण के ये तथा अन्य वंशज ही जावा के कतिपय राजवंशों के संस्थापक माने जाते हैं।

युधिष्ठिर (Punt-Deva), वृकोदर (Worekodara), भीम (Brat Sena), देवी अरिंबी (Dewi Arimbi) और उसका बेटा घटोत्कच, दुर्योधन (जो दशमुखावतार है) (Sujudana) ये सब नाम जावा के मुसलमान लोगों में खूब प्रचलित हैं। ऐसे रिवाज भी पड़ गए हैं जिनके अनुसार गृहस्थों में विशेष विशेष अवसरों पर खेले जाने के लिये विशेष विशेष प्रकार के "लाकोन" अर्थात् नाटक निश्चित हैं।[1]

---

(१) "माडर्न रिव्यू" के दिसंबर सन् २१ के अंक से डा० विजयराज चटर्जी के "The Mahabharata and the Wayang in Java" नामक लेख के आधार पर।

पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(७) जयमल्ल और फत्ता (पत्ता) की प्रतिमाएँ

[लेखक—ठाकुर चतुरसिंह, मेवाड़]

श्री सद्गुरुशरण अवस्थी बी० ए० नामक विद्वान् ने भारत-वर्ष की सुप्रसिद्ध मासिक पत्रिका "प्रभा" (१ जुलाई सन् १९२४ के अंक) में नैपाल राज्य की भौगोलिक स्थिति का संक्षिप्त परंतु बड़ा ही सुंदर वृत्तांत लिखा है, और प्रसिद्ध प्रसिद्ध स्थानों के अनेक फोटो देकर उस लेख की और भी मनोहरता बढ़ा दी है। उक्त लेख अपने भ्रमण में नेत्रों से देखकर लिखा है, या किसी पुस्तक आदि से, इस बात का आपने उल्लेख कहीं नहीं किया, परंतु पूर्वापर विचार से यात्रा में सब दृश्य देखकर ही लिखा गया प्रतीत होता है। लेख सब प्रकार से हृदयग्राही होने पर भी इतिहास-विद्या से अनभिज्ञ साधारण मनुष्यों के कथन पर विश्वास कर लेने से कुछ भूलें भी हो गई हैं। जैसे पृष्ठ ३१ में ललितपट्टन नगर का बसानेवाला राजा वीरदेव लिखा गया है, परंतु इतिहास में इसका निर्माता प्रसिद्ध महाराज अशोक प्रियदर्शी (ईस्वी स० से २७२ से २३२ वर्ष पूर्व) माना जाता है। इसी प्रकार पृष्ठ ३९ में आप लिखते हैं कि "नैपाल में मुख्य चार संवत् हैं (१ विक्रम, २ शालिवाहन, ३ नैपाली और ४ कालीगाँव संवत्)। यह (कालीगाँव) संवत् सब से प्राचीन है, नैपाल के इतिहासों में इसका प्रयोग कहीं कहीं किया गया है। इसका प्रारंभ ईसा से ३१०१ वर्ष पहले से है।" कालीगाँव संवत् भी भ्रम से लिखा गया होगा, क्योंकि उक्त नाम का संवत् कहीं सुनने में नहीं आया। वास्तव में इसका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाम कालीगाँव नहीं किंतु कलियुग संवत् होना चाहिए। उसका आरंभ भी ईसा से ठीक उतने ही वर्ष (३१०१) पूर्व समस्त भारतवर्ष में माना जाता है। इसी प्रकार तीसरी भूल जयमल्ल फत्ता के संबंध में की गई है, और यही मेरे लेख का मुख्य अभिप्राय है।

प्रभा के पृष्ठ ३१-३२ में अवस्थीजी लिखते हैं कि "तीसरा नगर भाटगाँव काठमांडू से ६ मील है, इस नगर की स्थिति राजा अनंगमल (ई० स० ८६५) के समय से है......यहाँ की जन-संख्या ३०००० है, इसके मध्य में जयमाल और फत्तू की दो छोटी छोटी प्रतिमाएँ हैं। ये दोनों नैपाली पुरुष बड़े वीर थे। यहाँ पर (भाटगाँव में) और भी कई एक देवप्रतिमाएँ हैं"......उक्त भूल का भी इतिहास से अपरिचित किसी मनुष्य के कथन से होना संभव है। उसने अज्ञान से दोनों को नैपाली वीर कह दिया होगा, और अवस्थी महाशय ने वैसा ही नोट कर लिया होगा, क्योंकि जयमाल फत्तू का नाम तक नैपाल के इतिहास में नहीं मिलता। उक्त दोनों मूर्तियाँ नैपाल के वीरों की नहीं, किंतु राजपूताना के इतिहासप्रसिद्ध जयमल्ल और फत्ता (पत्ता) की होनी चाहिएँ। अब रही नामों के उच्चारण की अशुद्धि, इसमें ऐसा अनुमान होता है कि उक्त अवस्थीजी ने सब स्थानों के साथ मूर्तियों के नोट भी अँगरेजी अक्षरों में लिखे होंगे, परंतु अँगरेजी लिपि की अपूर्णता से जयमल और जयमाल दोनों शब्द एक ही प्रकार के अक्षरों में लिखे तथा पढ़े जाते हैं, जिससे जयमल का जयमाल पढ़ा गया हो। इसी प्रकार अँगरेजी अक्षरों में 'त' का अभाव होने से उसके स्थान में 'ट' अक्षर सदा लिखा और बोला जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी कारण नोट-बुक में फत्ता का फट्टा लिखा होगा। फिर स्मरण न रहने से वही अशुद्ध नाम लेख में लिखना पड़ा हो। परंतु वास्तव में दोनों प्रतिमाएँ चित्तौड़ के रक्षार्थ सम्राट् अकबर से घोर युद्ध करके वीर गति पानेवाले इतिहास-प्रसिद्ध योद्धा राव जयमल्ल राठौड़ और रावत फत्ता (पत्ता) सीसोदिया की ही होनी चाहिएँ। अवस्थीजी ने उस लेख में राजामल्ल आदि की कुछ प्राचीन प्रतिमाओं के फोटो भी दिए हैं। परंतु जयमल्ल फत्ता की मूर्तियों के चित्र नहीं दिए। यदि उनका भी चित्र देते तो मेरे कथन की पुष्टि हो जाती, क्योंकि वे मूर्तियाँ किसी अनुभवी मूर्तिकार की बनाई हुई होंगी तो नैपाल के विरुद्ध उक्त मूर्तियों के वस्त्र, शस्त्र, वेशभूषा, भावभंगी आदि सब राजपूताना के होने संभव हैं।

विज्ञ पाठकों को एक बड़ी शंका और हो सकती है कि चित्तौड़ के वीरों की मूर्तियाँ नैपाल जैसे दूर देश में क्यों बनाई गईं। इसका भी कुछ विस्तृत समाधान मेरी अल्प बुद्धि के अनुसार किया जाता है। सम्राट् अकबर बड़ा ही गुणग्राही, नीति-कुशल, वीर, बुद्धिमान् तथा वीरों का आदर करनेवाला था। यद्यपि जयमल्ल और फत्ता उसके विपक्षी थे और युद्ध में अपार जन तथा धन का विनाश कर चुके थे, तो भी बादशाह उक्त दोनों वीरों की स्वामिभक्ति और वीरता पर ऐसा मुग्ध हो गया कि अपनी राजधानी आगरा में पहुँचते ही उसने बड़े विशाल श्वेत पाषाण (संगमरमर) के दो हाथी बनवाए और उनके ऊपर जयमल्ल तथा फत्ता की पूर्णाकार प्रतिमाएँ बैठाकर राजधानी (आगरा) के किले के द्वार पर स्थापित की गईं, और उनकी प्रशंसा के लिये इसी भाव का राजस्थानी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषा का एक दोहा पाषाण पर खुदवाकर दोनों गजारूढ़ प्रतिमाओं के मध्य में द्वार के ऊपर लगवाया गया वह दोहा इस प्रकार है—

दोहा

जयमल बड़ताँ जीमणों फत्तो बावें पाश।
हिंदू चढ़िया हाथियाँ अड़ियो जश आकाश॥

इस दोहे का भावार्थ इस प्रकार है कि "बाहर से द्वार में प्रवेश करते समय दाहिनी ओर जयमल्ल की प्रतिमा और वाम पार्श्व में फत्ता की मूर्ति है; ये दोनों हिंदू वीर हाथियों पर चढ़े हुए हैं और इन वीरों का सुयश (पृथ्वी से भी आगे) आकाश को स्पर्श कर चुका है।" राजा बीरबल आदि विद्वानों की सत्संगति से बादशाह भी हिंदी कविता करता था, जिसको कई पुरातत्त्ववेत्ता स्वीकार करते हैं, फिर दोहे में हिंदू शब्द रखने से यह किसी मुसलमान की रचना पाई जाती है। इसलिये कई विद्वान् उपर्युक्त दोहे को स्वयं बादशाह की रचना मानते हैं। जो कुछ हो, परंतु बादशाह ने अपने प्रतिपक्षी वीरों की प्रतिमाएँ बनवाकर अनुकरणीय गुणग्राहकता का परिचय दिया था। अकबर बड़ा दूरदर्शी और राजनीति-विशारद था, इसलिये उक्त कार्य में राजनैतिक युक्ति भी थी जिससे राजभक्त वीरों का उत्साह बढ़े; क्योंकि मेवाड़ के अतिरिक्त आर्यावर्त के समस्त नरेशों का आवागमन सदा राजधानी आगरे में होता रहता था, उनके चित्त पर अपनी उदार गुणग्राहकता का प्रभाव अंकित करने के निमित्त भी उक्त वीरोत्तेजक कार्य किया गया होगा, क्योंकि वे लोग प्रतिदिन उन वीर-प्रतिमाओं को देखकर विचारते होंगे कि जिन पुरुषों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने बादशाही अनंत द्रव्य और सेना का संहार किया है, उन विपत्तियों की केवल वीरता तथा देशभक्ति पर प्रसन्न होकर इतना बड़ा सम्मान किया गया है, तो हम लोग जब साम्राज्य की निष्कपट सेवा करेंगे, तथा उसके निमित्त प्राण देंगे तब हमारा और हमारी संतान का अत्यंत आदर होगा। क्षत्रिय नरेशों का उक्त प्रतिमाओं के प्रभाव से प्रभावित होने का एक ऐतिहासिक प्रमाण भी मिलता है। वह इस प्रकार है कि—चित्तौड़ के दुर्ग-रक्षक जिस प्रकार जयमल्ल और फत्ता थे उसी प्रकार प्रसिद्ध रणथंभोर दुर्ग का नायक श्रीमान् महाराणा उदय-सिंहजी की ओर से बूँदी का महा सामंत राव सुर्जन हाड़ा था। चित्तौड़-विजय के उपरांत ही अकबर ने रणथंभोर पर आक्रमण किया, तब उक्त हाड़ा राव ने बादशाह के प्रलोभन देने से महाराणा से विश्वासघात करके दुर्ग सम्राट् के अर्पण कर दिया और स्वयं भी महाराणा को त्यागकर बादशाही सेवक हो गया। इस बात पर जोधपुर के महाराजा यशवंतसिंह (प्रथम) का प्रधान मंत्री सुप्रसिद्ध इतिहासवेत्ता मूणोत नैणसी महता अपनी ख्यात (रचनाकाल वि० सं० १७०५ से १७२५ तक) में अकबर की वीरोचित गुणग्राहकता तथा जय-मल्ल फत्ता की दृढ़ राजभक्ति और स्वामी-द्रोही बूँदी के राव सुर्जन का विश्वासघात दिखाने के उद्देश से लिखता है कि "चित्तौड़ के रक्षार्थ अपने प्रिय प्राण देनेवाले राव जयमल्ल राठौड़ और रावत फत्ता सीसोदिया की तो बादशाह ने हाथियों पर चढ़ी मूर्तियाँ बनवाकर राजद्वार पर खड़ी कराईं, परंतु स्वामी-द्रोही राव सुर्जन की एक कुत्ते की मूर्ति बनवाकर उसी स्थान पर रखवा दी, जिससे वह बड़ा लज्जित तथा मर्माहत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ और पुत्र को अपना राजपाट देकर काशीवास को चला गया और आमरण लौटा नहीं।" (नैणसी की ख्यात अप्रकाशित पत्रा २७ पृष्ठ २) उपर्युक्त इसी एक उदाहरण से पाठकों को विदित हो सकता है कि जयमल्ल और फत्ता की मूर्तियों का भारत की जनता पर कैसा भिन्न भिन्न प्रकार का प्रभाव पड़ता रहा होगा। सारांश ऐसी ही विलक्षण राजनीतिक युक्तियों से क्षत्रिय नरेशों को स्ववश में करके अकबर भारत सम्राट् तथा जगद्गुरु के पद को पहुँचा था।

सम्राट् अकबर द्वारा स्थापित वीरवर जयमल्ल और फत्ता की दोनों गजारूढ़ प्रतिमाएँ १०२ वर्ष पर्यंत राजधानी आगरे के राजद्वार की शोभा बढ़ाती रहीं, जिसका वृत्तांत कई फारसी इतिहासों में लिखा मिलता है। बादशाह शाहजहाँ के शासनकाल में इँग्लैंड से आनेवाले प्रसिद्ध यात्री 'बर्नियर' ने अपनी यात्रा-पुस्तक में उक्त प्रतिमाओं का वर्णन किया है। इसी प्रकार शाहजहाँ और आलमगीर का समकालीन जोधपुर का मुख्य मंत्री मूणोत नैणसी महता भी अपनी ख्यात में उपर्युक्त मूर्तियों का उल्लेख करता है। आलमगीर के इतिहास से विदित होता है कि अंत में जयमल्ल और फत्ता के वीर स्मारकों (मूर्तियों) को वि० सं० १७२६ में धर्मद्वेषी बादशाह आलमगीर ने विनष्ट करवाकर अपनी दुष्ट प्रकृति का परिचय दिया और साथ ही अकबर की सुनीति को ध्वंस करके अपने साम्राज्य के विनाश का बीज बो दिया। नैपाल जैसे दूर देश में जयमल्ल और फत्ता की मूर्तियाँ मिलने का मुख्य कारण अब पाठकों की समझ में आ सकता है कि जब गोरखा क्षत्रियों का राज्य नैपाल पर हुआ और उन्होंने बादशाह अकबर द्वारा उक्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिमाओं के आगरे में स्थापित होने का वृत्तांत सुना होगा, तब नैपाल-नरेश ने उसका अनुकरण किया होगा, क्योंकि गोरखा लोगों की उत्पत्ति चित्तौड़ नगर, और सीसोदिया राजपूतों से हुई है। जब कि बादशाह अकबर ने शत्रु होकर भी उक्त वीरों का इतना बड़ा सम्मान किया था, तब नैपाल के महाराज अपने पूर्वजों की राजधानी चित्तौड़ के रक्षार्थ प्राण देनेवाले पुरुषों की मूर्तियाँ बनावें, इसमें कौन सी आश्चर्य की बात है? इन प्रतिमाओं के अस्तित्व से भारतीय इतिहासवेत्ता अपरिचित थे। परंतु अब श्री सद्गुरुशरण अवस्थी बी० ए० की शोध का अस्पष्ट संकेत मिलने से वे प्रसिद्धि में आई हैं।

नवीन शोध द्वारा दूर देश नैपाल में जयमल्ल और फत्ता की मूर्तियाँ प्रसिद्धि में आईं, इसलिये उक्त वीरों का प्रसंग-वश अति संक्षिप्त परिचय मात्र देना भी ठीक होगा। मंडोवर के स्थान में राजधानी जोधपुर (वि० सं० १५१५ में) नियत करनेवाले राव जोधा राठौड़ के चतुर्थ राजकुमार राव दूदा ने वि० सं० १५१८ में मेड़ता नगर में और पंचम कुमार राव बीका ने वि० सं० १५२२ में बीकानेर में स्वतंत्र राज्य स्थापन किए थे। राव दूदा के पौत्र और राव वीरमदेव के पुत्र राव जयमल्ल मेड़ता राज्य के स्वाधीन अधिपति थे। जोधपुर के प्रसिद्ध राव मालदेव से अनेक घोर संग्रामों के उपरांत जब राजधानी मेड़ता पर बादशाह अकबर का अधिकार हो गया, तब राव जयमल्ल वैवाहिक संबंध के कारण चित्तौड़ चले आए; क्योंकि इनके चचा रत्नसिंह की पुत्री भारत-विख्यात मीराबाई का विवाह आसन्नमहाराणा साँगा (संग्रामसिंह) के ज्येष्ठ युवराज भोज-राज से हुआ था। तत्कालीन मेदपाटेश्वर महाराणा उदय-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिंह ने चित्तौड़ के स्थान में राजधानी उदयपुर (वि० सं० १६१६ में) बसाना आरंभ किया था। इसलिये उक्त श्रीमानों का अधिकतर निवास उदयपुर में ही होता था। अतः राव जयमल्ल को ३०० ग्रामों सहित बदनौर का परगना प्रदान करके चित्तौड़ का दुर्गाधीश बनाया गया जहाँ पर वे चार वर्ष पर्यंत अपना कर्तव्य पालन करते रहे। राव जयमल्ल के वंशज आज भी सहस्रों की संख्या में मारवाड़ तथा मेवाड़ में लाखों मुद्रा वार्षिक आय की भूमि पर अधिकार रखते हैं। इस लेख के लेखक को भी राव जयमल्ल का एक क्षुद्र वंशज होने का अभिमान प्राप्त है। द्वितीय योद्धा रावत फत्ता, मेवाड़ के महाराणा लाखा के ज्येष्ठ राजकुमार सुप्रसिद्ध रावत चूँडा (इन्होंने पितृभक्ति से राजर्षि भीष्म का अनुकरण करके चित्तौड़ का राजसिंहासन अपने वैमातृज कनिष्ठ भाई को दे दिया था।) के वंशज रावत जग्गा के पुत्र थे। उनकी संतान भी आमेट आदि कई प्रतिष्ठित ठिकानों पर अधिकार रखती है। जब सम्राट् अकबर ने विशाल वाहिनी सहित चित्तौड़ पर आक्रमण किया तब राव जयमल्ल फत्ता आदि वीर छः मास से अधिक काल तक घोर संग्राम करते रहे और अनेक प्रलोभन देने पर भी स्वधर्म तथा राजभक्ति पर अचल रहे। इस जगत्प्रसिद्ध समर का वर्णन अनेक इतिहासों में सविस्तर लिखा होने से यहाँ पर लेखनी को विश्राम देता हूँ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(८) औरंगजेब का "हितोपदेश"

[लेखक—पंडित लज्जाराम मेहता, बूँदी]

मेरे भानजे पंडित रामजीवन जी नागर हिंदी के उन सुलेखकों में से हैं जो काम करके अपना नाम प्रकाशित करने का ढोल नहीं पीटना चाहते। उनके यहाँ उनके पूर्वजों की संगृहीत अनेक पुस्तकों में से एक बढ़िया पुस्तक, जिसे पुस्तक-रत्न कहा जा सकता है, प्राप्त हुई है। राजपूताना और मध्य भारत के रजवाड़ों में यदि पुस्तकें खोजने का कार्य नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा किया जाता तो अब तक न मालूम ऐसे ऐसे कितने ग्रंथ-रत्न प्राप्त हो सकते थे। इस पोथी का नाम "हित-उपदेश" है। पुस्तक का आरंभ करने से पूर्व एक पृष्ठ पर ब्रह्माजी का और दूसरे पर विष्णु, लक्ष्मी अथवा कृष्ण-राधिका का चित्र है। चित्रों में अनेक रंग हैं और वे बढ़िया हैं। कलम भी बहुत बारीक है किंतु पुरानी चित्रकारी में भावों का प्रायः अभाव होता था उसी तरह इनमें भी पता नहीं है।

इस "हित-उपदेश" की पृष्ठ-संख्या २९ है और प्रत्येक पृष्ठ में गिनी हुई सात सात पंक्तियाँ हैं, न न्यून और न अधिक। लिपि इतनी बारीक है कि जिसे पढ़ने में शायद ऐनक न लगानेवाले व्यक्ति को भी चश्मे की शरण लेनी पड़े। इतनी बारीक भी नहीं है कि जिसके लिये "आई ग्लास" की सहायता अपेक्षित हो। लिपि बहुत बढ़िया और किसी ऐसे व्यक्ति की लिखी हुई है जिसके लिये कहा जा सकता है कि प्रचुर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुत जमे हुए थे। प्रत्येक पत्र की लंबाई ३ इंच और चौड़ाई २। होने पर भी हाशिया अधिक छोड़कर जितने भाग में दोहे लिखे गए हैं उसका नाप लंबा २॥ इंच और चौड़ो १ इंच रक्खी गई है। लिपि की बारीकी का इसी से अनुमान किया जा सकता है कि इतने से चेत्रफल में ३। दोहों का समावेश किया गया है। अक्षरों की मोड़ से अनुमान होता है कि लेखक कोई रामस्नेही साधु था। जिल्द इस पोथी की, जिसे साइज के लिहाज से गुटका कहा जाता है, पुराने ढंग की बहुत बढ़िया किंतु टूटी हुई है। पुट्ठा साफ, कड़ा और समान है। इतनी सफाई है जितनी आजकल कल के बने हुए विलायती पुट्ठों में नहीं आ सकती।

इस पुस्तक के दो पत्र खो गए हैं। एक २१ का और दूसरा "इतिश्री" के बाद का। इक्कीसवाँ पत्र खो जाने से दोहे ११४ से १२० तक का अभाव है और अंतिम पत्र नष्ट हो जाने का फल यह हुआ है कि "इतिश्री" के बादवाले दूसरे दोहे के अंतिम भाग में "और संत के रीति को पावै सहज समा..." के बाद "ज" का अभाव है। कौन कह सकता है कि इसके बाद कितने दोहे थे। संभव है कि उस जगह लेखक का नाम और पुस्तक लिखने की तिथि तथा संवत् लिखा हो। पुस्तक कहीं कहीं अशुद्ध अवश्य है किंतु ऐसी अशुद्ध नहीं जो थोड़ा विचार करने से शुद्ध न हो सके।

पुस्तक के अंत में १५५ से १६३ तक के १३ दोहों में पुस्तक-रचना का कुछ इतिहास भी दिया गया है—

"बादशाह जो हिंद को आलिम आलमगीर।
बुद्धिवंत सर्वज्ञ जो दयावान मतिधीर ॥ १ ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तिन ये बातें समुझि के निज विचार में ल्याय।
हित उपदेशहि जानि के सबको दई सिखाय ॥ २ ॥
सो ये बातैं श्रवन कै श्रीमत् शंकर पंत।
सेवक सों आज्ञा दई याहि प्रकासै अंत ॥ ३ ॥
नरपति भाखा यामिनी माँझ कही ये बात।
ताकी व्रजभाषा करी जामें अर्थ लखात ॥ ४ ॥
अल्पबुद्धि तें ग्रंथ कों दोहा-बद्ध बनाय।
ताके भाव पदार्थ कों दीन्हों प्रकट दिखाय ॥ ५ ॥
जो कोउ ज्ञानी संत जन याकों पढ़ैं विचार।
चलैं महाजन पंथ कों जई होय संसार ॥ ६ ॥
ताकी कीरति जगत में गावें सबही लोक (?)।
देहपात के होत ही पावैं सुभ परलोक ॥ ७ ॥
स्यामदास या रीति तें, समुझि चलैं जो संत।
पावैं निज पुरुषार्थ तें रामचरन को अंत ॥ ८ ॥
एक[१] आठ[८] औ चार[४] के आगें वेदहि[४] जान।
सो संवत् यह जानिए गनिकै कर परमान ॥ ९ ॥
माघ मास औ सिसिर ऋतु, मकर रास भे भान।
तिथि वसंत की पंचमी वासर स्राम (?) प्रमान ॥१०॥
वन चरित्र जहँ राम ने वधी तारिका नार।
कीन्ही जाकी पूर्नता विस्वामित्र सँवार ॥ ११ ॥
सो गंगा के तट बिसे बकसर गाँव सुहाय।
रामरेख तीरथ जहाँ अति पुनीत दरसाय ॥ १२ ॥
तहाँ ग्रंथ की पूर्नता सहज भई निरधार।
गुरु हरि सेवक संत जे अंत करैं विचार ॥ १३ ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दोहों की अशुद्धि ज्यों की त्यों रखने से ही दसवें दोहे में "सोम" का "साम" लिखना पड़ा है। सातवें दोहे के अंत का "वोक" विचारणीय है। संभव है कि यहाँ "लोक" पाठ शुद्ध हो। अर्थ स्पष्ट है। पुस्तक पढ़ने से यह नहीं जाना जाता कि यह शंकर पंत कौन महाशय थे। पंत शब्द का मराठी भाषा में अर्थ गुरु है। संभव है कि यह दाक्षिणात्य ब्राह्मण हों अथवा हिमालय प्रांत में भी ब्राह्मण वर्ण में कितने ही नामों के साथ इस शब्द का प्रयोग होते देखा गया है। कुछ भी हो, अधिक संभावना इस बात की है कि शंकर पंत महाशय बादशाह औरंगजेब के दरबारियों में थे। बादशाह के मुख से ये उपदेश उन्होंने सुने और उन्होंने लेखक को—ग्रंथकर्त्ता को—आज्ञा दी। बादशाह की यामिनी भाषा से अवश्य ही मतलब फारसी से होना चाहिए। शाहजहाँ के लशकर से जन्म ग्रहण कर उर्दू उस समय तक इस दर्जे तक नहीं पहुँची थी जो, औरंगजेब जैसे कट्टर बादशाह के बोल-चाल की भाषा होने का गौरव प्राप्त कर सके। पुराने कागजात में बादशाह के फर्मानों और खरीतों की भाषा फारसी देखी जाती है इसलिये मान लेना चाहिए कि वह फारसी में ही बातचीत करते कराते थे। शंकर पंत भी फारसी का और इन प्रांतों की उस समय की भाषा का अच्छा विद्वान होना चाहिए, तभी वह बादशाह के उपदेशों को समझकर ग्रंथ-कर्त्ता को सुना सका और उसी के आधार पर इस पोथी की रचना हुई।

इस पुस्तक के रचयिता श्यामदासजी, जिन्होंने बकसर में बैठकर ग्रंथ निर्माण किया, कौन थे? यह एक प्रश्न है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रंथकर्त्ता ने पुस्तक की इतिश्री के आगे एक दोहा और दिया है जिसमें लिखा है कि—"श्यामदास नित नेम तें हित उपदेशहि जोय"—इससे अनुमान होता है कि इसके रचयिता श्यामदास थे। शायद लेखक और रचयिता एक ही हो। अंत का पत्र जब अप्राप्य है तब नहीं कहा जा सकता कि उसमें श्यामदास अथवा शंकर पंत संबंधी कितना इतिहास लिखा था। इन बातों का पता लगाना इतिहास के खोजियों का काम है। संवत् १८४४ स्पष्ट है। "अंकानां वामतो गतिः" के नियम का यहाँ पालन नहीं हो सकता। "रामरेख" तीर्थ भी तलाशकर प्रकाश डालने योग्य है। किसी बिहारी सज्जन के ध्यान देने से शायद "रामरेख" के संबंध से श्यामदास का भी पता लग जाय क्योंकि घटना अधिक पुरानी नहीं है।

बादशाह औरंगजेब हिंदू संस्कृति का कट्टर शत्रु था। यदि उसकी चलती तो सारे हिंदुस्तान को मुसलमानिस्तान बना डालता। उसके काले कारनामे भारतवर्ष के इतिहास को सदियों तक कलंकित करते रहेंगे। परंतु जिसमें उत्कृष्ट दोष होते हैं उसमें कभी कभी गुण भी उत्कृष्ट हुआ करते हैं। "शत्रोरपि गुणा वाच्या, दोषा वाच्या गुरोरपि"—इस लोकोक्ति के अनुसार हमें उसके गुणों को अवश्य ग्रहण करना चाहिए। यदि इस पोथी की रचना के अनुसार ये दोहे उसी के उपदेशों के आधार पर रचे गए हों तो वह वास्तव में बहुत ही गुणवान् था। इसके एक एक दोहे के परिणाम पर दृष्टिपात करने से वह लाख लाख रुपए में भी सस्ता है। इसमें धर्म है, राजनीति है और लोकाचार है। और जो कुछ है वह यावनी कट्टरपन को छोड़कर—सांप्रदायिक बातों से बिलकुल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलग है। संभव है कि रचयिता ने शाही उपदेशों का आश्रय लेकर इसे हिंदूपन के ढाँचे में ढाल दिया हो। कुछ भी हो, पुस्तक बढ़िया है।

इसमें दो बातें, तीन बातें,—इस तरह चार, पाँच, छः, सात, आठ, नौ और दस बातें—ऐसे शीर्षक से दिखलाया है कि कौन बातें ग्राह्य और कौन कौन त्याज्य हैं। नमूने के लिये "दो बात" शीर्षक के चार दोहे यहाँ दे देना काफी होगा—

"दोय वस्तु तें जगत में अति उत्तम कछु नाहिं।
निश्चय ईश्वर भाव पै (में) दया जीव के ठाहिं (माहिं)॥१॥
द्वै बातन तें अधम नर नाहीं जगत् प्रसिद्धि।
अहंकार भगवान तें जन अपकारी बुद्धि॥२॥

× × × × ×

दोय वस्तु ये जानिए बहुत बुरी जग बीच।
कृत निंदकता येक (एक) और दूजे संगति नीच॥३॥
दोय वस्तु ये मूढ़ता जानौ निश्चै चित्त।
सेवा दुष्टन की करै और स्तुति अपनी (स्तुती आपनी) नित्त॥४॥

इन दोहों में ब्रेकेट के भीतर जो शब्द हैं वे मेरे हैं। मूल पाठ ज्यों का त्यों रखकर शुद्ध करने के लिये अपने शब्द कोष्ठक में दिए गए हैं। कविता तुकबंदी है।

हंडे में से एक चावल निकालकर नमूना देख लिया जाता है। इस तरह इसकी कविता चाहे साधारण ही क्यों न हो किंतु इसमें किंचित् भी संदेह नहीं कि इसका एक एक उपदेश लाभ उठानेवाले के लिये लाखों रुपए की लागत का हो सकता है। "पत्रिका" के इतिहास-प्रेमी साहित्य-रसिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्वानों की कृपा से यदि इसका घटता पाठ पूर्ण होकर पुस्तक शुद्ध हो सके तो मेरी आयु के अंतिम वर्षों में इसका संपादन कर लेखनी की सार्थकता हो। कृतकार्य होने पर मैं अपने आपको धन्य समझूँगा और जो महाशय मुझ अकिंचन को इस कार्य में सहायता प्रदान करेंगे उनके नामी-नाम पुस्तक के साथ आदरपूर्वक प्रकाशित किए जायँगे। मुझे अपने नाम से भी मतलब नहीं, यदि किसी विद्वान् के पास वह पोथी हो तो मैं इसकी प्रति उतरवाकर भेज सकता हूँ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(६) हिंदी की गद्य-शैली का विकास

[लेखक—श्री जगन्नाथप्रसाद शर्मा एम० ए०, काशी]

साहित्य की भाषा का निर्माण सदैव बोलचाल की सामान्य भाषा से होता है। व्रज की भाषा का जो रूप साहित्य की भाषा में व्यवहृत हुआ वह बोलचाल से कुछ भिन्न था। यों तो प्रांत प्रांत की बोलियाँ विशेष थीं; परंतु वह बोली जिसने आज हमारी साहित्यिक भाषा का रूप धारण कर लिया है, दिल्ली के आसपास बोली जाती थी। उस स्थान से क्रमशः मुसलमानों के विस्तार के साथ वह बोली भी इधर उधर फैलने लगी। कई शताब्दियों के उपरांत यही समस्त उत्तर भारत की शिष्ट भाषा बन बैठी; और यही भाषा सुदृढ़ और विकसित होकर आज खड़ी बोली कहलाती है।

इतिवृत्त

इस खड़ी बोली का पता कितने प्राचीन काल तक लगता है यह प्रश्न बड़ी उलझन का है। आरंभ से ही चारण कवियों का झुकाव शौरसेनी अथवा व्रजभाषा की ओर था; अतः वीरगाथा काल के समाप्त होते होते इसने अपनी व्यापकता और अपने साम्राज्य का पूर्ण विस्तार किया। कुछ अधिक समय व्यतीत न हो पाया था कि इस भाषा में ग्रंथ आदि लिखे जाने लगे। पर इन ग्रंथों की भाषा विशुद्ध अथवा परिमार्जित नहीं हो सकी थी। अभी साहित्य की भाषा का स्वरूप अनियंत्रित एवं अव्यवस्थित था। परंतु यह तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्विवाद ही है कि चारण कवियों की अपेक्षा इस समय की भाषा बोलचाल के रूप को अधिक ग्रहण कर रही थी। कबीर की रचनाओं में भाषाओं की एकाधिक प्रकार की खिचड़ी दृष्टिगोचर होती है। इस 'खिचड़ी' में एक भाग खड़ी बोली का भी है। धीरे धीरे यह बोली केवल बोलचाल तक ही परिमित रह गई, और व्यापक रूप में साहित्य की भाषा अवधी तथा व्रजभाषा निर्धारित हुई।

इधर साहित्य में इस प्रकार व्रजभाषा का आधिपत्य दृढ़ हुआ; और उधर दिल्ली तथा उसके समीपवर्ती स्थानों में खड़ी बोली केवल बोलचाल ही के काम की बनकर रही। परंतु संयोग पाकर बोलचाल की कोई भाषा साहित्य की भाषा बन सकती है—पहले उसी में ग्राम्य गीतों की सामान्य रचना होती है। तत्पश्चात् वही विकसित होते होते व्यापक रूप धारण कर सर्वप्रिय हो जाती है। यही अवस्था इस खड़ी बोली की हुई। जब तक यह परिमित परिधि में पड़ी रही तब तक इसमें ग्राम्य गीतों और अन्य प्रकार की साधारण रचनाओं का ही प्रचलन रहा; पुस्तक आदि लिखने में उसका आदर उस समय न हुआ। सारांश यह कि एक ओर तो परिमार्जित होकर व्रजभाषा साहित्य की भाषा बनी और दूसरी ओर यह खड़ी बोली अपने जन्मस्थान के आसपास व केवल बोलचाल की साधारण भाषा के रूप में प्रयुक्त होती रही, वरन् इसमें पढ़े-लिखे मुसलमानों द्वारा कुछ पद्य-रचनाएं भी होने लगीं।

खड़ी बोली का प्राचीनतम प्रामाणिक रूप हमको खुसरो की कविता में मिलता है। इनकी रचना से जो बात स्पष्ट प्रकट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होती है वही इसको प्रमाणित करने के लिये यथेष्ट है कि उनके पूर्व भी कुछ इस प्रकार की रचनाएँ थीं, जो साधारण जनता के मनोविनोद के लिये लिखी गई होंगी। अस्तु; खुसरो की कविता में खड़ी बोली का रूप बड़ा ही सुंदर दिखाई पड़ता है।—

एक कहानी मैं कहूँ, तू सुन ले मेरे पूत।
बिन परों वह उड़ गया, बाँध गले में सूत॥
(गुड्डी)

श्याम बरन और दाँत अनेक, लचकत जैसी नारी।
दोनों हाथ से खुसरो खींचे, और कहे तू आरी॥
(आरी)

खुसरो की ये ऊपर उद्धृत दोनों पहेलियाँ आजकल की खड़ी बोली के स्पष्ट अनुरूप हैं। वस्तुतः ये जितनी प्राचीन हैं उतनी कदापि नहीं दिखाई पड़तीं। 'कहूँ', 'उड़ गया', 'बाँध', 'और', 'जैसी', 'कहे', इत्यादि रूप इसकी आधुनिकता का द्योतन करने के प्रत्यक्ष साक्षी हैं। ऐसी अवस्था में यह कहना अनुचित न होगा कि खुसरो ने खड़ी बोली की कविता का आदि रूप सामने उपस्थित किया है। इतना ही नहीं, उन्होंने आधुनिक खड़ी बोली की जड़ जमाई है।

मुसलमानों के इधर उधर फैलने पर खड़ी बोली अपने जन्म-स्थान के बाहर भी शिष्टों की भाषा हो चली। खुसरो के बाद कबीर ने भी इस भाषा को अपनाया। उनका ध्येय जन-साधारण में तत्त्वोपदेश करना था; अतः उस समय की सामान्य भाषा का ही ग्रहण समीचीन था। कबीर ने यही किया भी। यों तो उनकी भाषा खड़ी बोली, अवधी, पूरबी (बिहारी)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदि कई बोलियों का मिश्रण है; परंतु खड़ी बोली का पुट उसमें साफ और अधिक झलकता है। इनकी भाषा में पूरबीपन का पाया जाना स्वाभाविक है। इनके पूर्व कोई साहित्यिक भाषा संयत रूप में व्यवस्थित नहीं हुई थी। अभी तक भाषा का संस्कार नहीं हो पाया था। जिस मिश्रित भाषा का आश्रय कबीर ने लिया वही उस काल की प्रामाणिक भाषा थी, उसमें, प्रायः कई प्रांतीय बोलियों की छाप रहने पर भी, हमारी खड़ी बोला की आरंभिक अवस्था का रूप पाया जाता है।

उठा बगूला प्रेम का, तिनका उड़ा अकास।
तिनका तिनका से मिला, तिनका तिनके पास॥

घरबारी तो घर में राजी, फक्कड़ राजी बन में।
ऐंठी धोती पाग लपेटी, तेल चुआ जुलफन में॥

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि 'उठा', 'उड़ा, 'से', 'मिला', इत्यादि का आजकल की भाषा से कितना अधिक संबंध है। यह सब कहने का अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि उस समय केवल खड़ी बोली का ही प्राधान्य था। इन अवतरणों से यही निर्विवाद प्रमाणित होता है कि साहित्य की भाषा से परे बोलचाल की एक साधारण भाषा भी बन गई थी। समय समय पर इस भाषा में लोग रचनाएं करते रहे। इस प्रकार की रचनाओं का निर्माण केवल मनोविनोद की दृष्टि से ही होता था। यह तारतम्य कभी टूटा नहीं। व्रजभाषा की धारावाहिक प्रगति में स्थान स्थान पर रहीम, सीतल, भूषण, सूदन आदि कवियों की रची हुई खड़ी बोली की फुटकर रचनाएँ भी मिलती हैं; परंतु व्रज-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषा के बाहुल्य में इनका पता नहीं लगता। आज बीसवीं शताब्दी की खड़ी बोली की रचनाओं का इतिहास इस विचार में बहुत प्राचीन है।

काव्य का प्रेम सभी में होता है, चाहे वह हिंदू हो, चाहे अँगरेज हो, चाहे मुसलमान हो। सभी को हृदय होता है, सभी में सरसता होती है और सभी कल्पना के वैभव का अनुभव करते हैं। जिस समय मुसलमान भारतवर्ष में आए उस समय, यह तो स्पष्ट ही है कि, उस भाषा का व्यवहार वे नहीं कर सकते थे, जिसका इतने दिनों से वे अपने आदिम स्थानों में करते आए थे। यहाँ आने पर स्वभावत: उन्हें अपनी भाषा का स्थान हिंदी को देना पड़ा। अत: जिन्हें साहित्य का निर्माण करना अभीष्ट था उन्होंने ब्रजभाषा और अवधी की शरण ली। इसी प्रवृत्ति का यह परिणाम हुआ है कि सूफी कवियों के समुदाय ने हिंदी में रचना की है। इन कवियों ने अपनी रचनाओं में बड़ी सुंदर और मार्मिक अनुभूति की व्यंजना की है। इनके श्रमस्वरूप कई ग्रंथ तैयार हुए। इनमें अधिकांश उत्तम और उपादेय हैं। कुतुबन, मलिक मुहम्मद जायसी, उसमान, शेख नबी, कासिम शाह, नूर मुहम्मद, फाजिल शाह प्रभृति ने एक से एक उत्तम रचनाएँ तैयार कीं। इन सरसहृदयों से हिंदी में एक प्रकार का विशेष काव्य तैयार हुआ। इनके अतिरिक्त कितनी ही अन्य रचनाएँ की गई हैं, जो एक से एक उत्तम हैं और जिनमें एक से मनोरंजक चित्र उपस्थित हुए हैं। मलूकदास, रहीम, रसखान, नेवाज इत्यादि ने स्थान स्थान पर कितने हिंदू कवियों से कहीं अधिक मधुर और ओजस्विनी कविताएँ लिखी हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जायसी और रसखान प्रभृति कवियों का भाषा पर भी अद्भुत अधिकार था। इन लोगों की रचनाएँ पढ़ने पर शीघ्रता से यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि ये मुसलमान की लेखनी से उत्पन्न हुई हैं।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि समस्त उत्तर-भारत की साहित्यिक भाषा व्रजभाषा चली आती थी। मुसलमानों के प्रभाव से शिष्ट वर्ग के बोलचाल की भाषा खड़ी बोली होती जाती थी। इनको, दिल्ली की प्रधानता के कारण, इसी भाषा का आश्रय लेना पड़ा। वे बोलचाल में, साधारण व्यवहार में, इसी भाषा का उपयोग करते थे। उनका एक प्रधान दल तो व्रजभाषा में साहित्य निर्माण करता था और साधारण लोग, जो मनो-विनोद के लिये कुछ तुकबंदियाँ करते थे, बोलचाल की खड़ी बोली का उपयोग करते थे। इन तुकबंदियों के ढाँचे, भाषा और भाव आदि सब में भारतीयता की झलक स्पष्ट देख पड़ती थी। खड़ी बोली का प्रचार केवल उत्तर भारत तक ही परिमित न रहा; वरन् दक्षिण प्रदेशों में भी इसका सम्यक् प्रसार हुआ।

उर्दू के आरंभिक काव्यकार अधिकतर दक्षिण के ही थे। सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में दक्षिण में कई सुंदर कवि हुए। उनकी कविता देखने से यह भी सिद्ध होता है कि खड़ी बोली का प्रचार दक्षिण में भी अच्छा हुआ था। उस समय तक उनमें यह धारणा न थी कि उनकी रचनाओं में केवल एक विशेष भाषा की प्रधानता हो। वे प्रचलित बोलचाल की खड़ी बोली को ही अपनी भाषा मानते थे। 'पिया', 'वैराग', 'भभूत', 'जोगी', 'अंग', 'जगत', 'रीति', 'सूँ', 'अखँडियाँ', इत्यादि हिंदी के शब्दों का प्रयोग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वे अधिक करते थे। यदि उनकी रचनाओं में स्थान स्थान पर उर्दू-फ़ारसी और अरबी के शब्द आ जाया करते थे तो यह बिलकुल स्वाभाविक ही था। यदि वे उसे बचाने का प्रयत्न करते तो उनकी रचनाओं में कृत्रिमता आने तथा उनके अस्वाभाविक लगने का भय था। उन कवियों की भाषा का रूप देखिए—

पिया बिन मेरे तईं वैराग भाया है जो होनी हो सो हो जावे।
भभूत अब जोगियों का अंग लाया है जो होनी हो सो हो जावे॥

—अशरफ़

हम ना तुमको दिल दिया तुम दिल लिया और दुख दिया।
तुम यह किया हम वह किया यह भी जगत की रीत है॥

—सादी

दिल वली का ले लिया दिल्ली ने छीन।
जा कहो कोई मुहम्मद शाह सूँ॥

टुक वली को सनम गले से लगा।
खुदनुमाई न कर खुदा से डर॥

तुम अँखडियों के देखे आलम खराब होगा।

—शाह वली-अल्लाह

वली साहब दक्षिण से उत्तर भारत में चले आए। उस समय यहाँ मुहम्मदशाह शासन कर रहा था। वली के दिल्ली में आते ही लोगों में काव्य-प्रेम की धुन आरंभ हुई। इसी कारण प्रायः लोग उर्दू कविता का आरंभ वली से मानते हैं। कुछ दिनों तक तो खड़ी बोली का विशुद्ध रूप में प्रयोग होता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहा; परंतु जैसे जैसे इन मुसलमान कवियों की वृद्धि होती गई, उनमें अपनापन आता गया और उत्तरोत्तर उनकी कविताओं में अरबी और फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग बढ़ने लगा। संवत् १७६८ से १८३७ के पास तक आते आते हम देखते हैं कि अरबी और फ़ारसी का मेल अधिक हो जाता है। यों तो मिर्ज़ा मुहम्मद रफ़ी (सौदा) की रचनाओं में से कोई कोई तो वस्तुतः उसी प्रकार की हैं जैसे कि खुसरो की।—

अजब तरह की है एक नार।
उसका मैं क्या करूँ विचार॥
वह दिन डूबे पी के संग।
लागी रहे निसी के अंग॥

मारे से वह जी उठे बिन मारे मर जाय।
बिन भावों जग जग फिरे हाथों हाथ बिकाय॥

नार, विचार, पी, संग, निसि, अंग, बिन, जग, हाथ, बिकाय इत्यादि शब्दों का कितना विशुद्ध प्रयोग है। इसी प्रकार के शब्द, हम देख चुके हैं कि, अशरफ, सादी और वली की कविता में भी मिलते थे। साधारणतः सौदा के समय में भाषा का यह रूप न था। उस समय तक अरबी और फ़ारसी के शब्दों ने अपना आधिपत्य जमा लिया था, परंतु सौदा की इन पंक्तियों में हमने स्पष्ट देख लिया कि जो धारा खुसरो और कबीर के समय से निःसृत हुई थी वही इस समय तक बह रही थी।

साहित्य के इतिहास में प्रायः देखा जाता है कि ९० प्रतिशत भाषाओं में आरंभ कविता की रचनाओं से होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य का प्राथमिक रूप केवल मधुर व्यंजना पर निर्भर रहता है। उस अवस्था में साहित्य केवल मनो-विनोद की सामग्री समझा जाता है। उस समय यह आवश्यक नहीं समझा जाता कि काव्य में मानव-जीवन का विश्लेषण अथवा आलोचन हो, और उस समय उसमें जीवन की अनुभूतियों की व्यंजना भी नहीं होती।

लोगों के विचारों का भी प्रस्फुटन उस समय इतना नहीं हुआ रहता कि इतने गूढ़ मनन की ओर ध्यान दिया जाय। इतना ही अलम् समझा जाता है कि भाव-प्रकाशन की विधि कुछ मधुर हो और उसमें कुछ 'लय' हो जिससे साधारणतः गाने का रूप मिल सके। इसी लिये हम देखते हैं कि काव्य में सर्व प्रथम गीत-काव्यों का ही विकास होता है। यही नियम हम खड़ी बोली के विकास में भी पाते हैं। पहले पहेलिकाओं और कहावतों के रूप में काव्य का आरंभ खुसरो से होता है। तदुपरांत क्रमशः आते आते अकबर के समय तक हमें गद्य का रूप किसी न किसी रूप में व्यवहृत होते दिखाई पड़ता है। गंग की लेखनी से यह रूप निकलता है "इतना सुन के पातसाहि जी श्री अकबर साहजी आध सेर सोना नरहरदास चारन को दिया। इनके डेढ़ सेर सोना हो गया। रास बाँचना पूरन भया। आम खास बरखास हुआ।"

इसी प्रकार गद्य चलता रहा और जहाँगीर के शासन काल में जो हमें जटमल की लिखी 'गोरा बादल की कथा' मिलती है उसमें 'चारन' 'भया' और 'पूरन' ऐसे बिगड़े हुए रूप न मिलकर शुद्ध नमस्कार, सुखी, आनंद आदि तत्सम

२४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्द मिलते हैं।—"गुरु व सरस्वती को नमस्कार करता हूँ।" "इस गाँव के लोग भी होत सुखी हैं। घर घर आनंद होता है।" यदि इसी प्रकार खड़ी बोली का विकास होता रहता तो आज हमारा हिंदी साहित्य भी संसार के अन्य साहित्यों की भाँति समृद्ध और भरा-पूरा दिखाई पड़ता। परंतु ऐसा हुआ नहीं। इसके कई कारण हैं। पहली बात तो यह है कि उस काल में ब्रजभाषा की प्रधानता थी और विशेष रुचि कल्पना तथा काव्य की ओर थी। लोगों की प्रवृत्ति तथ्यातथ्य के निरूपण की ओर न थी, जिसके लिये गद्य अत्यंत अपेक्षित है। अतः विशेष आवश्यक न था कि गद्य लिखा जाय। दूसरे वह काल विज्ञान के विकास का न था। उस समय लोगों को इस बात की आवश्यकता न थी कि प्रत्येक विषय पर आलोचनात्मक दृष्टि रखें। वैज्ञानिक विषयों का विवेचन साधारणतः पद्य में नहीं हो सकता; उसके लिये गद्य का सहारा चाहिए। तीसरा कारण गद्य के प्रस्फु-टित न होने का यह था कि उस समय कोई ऐसा धार्मिक आंदोलन उपस्थित न हुआ जिसमें वाद-विवाद की आवश्य-कता पड़ती और जिसके लिये प्रौढ़ गद्य का होना आवश्यक समझा जाता। उस समय न तो महर्षि दयानंद सरीखे धर्म-प्रचारक हुए और न ईसाइयों को ही अपने धर्म के प्रचार की भावना हुई। अन्यथा गद्य का विकास ठीक उसी प्रकार होता जैसा कि आगे चलकर हुआ। किसी भी कारण से हो, गद्य का प्रसार उस समय स्थगित रह गया। काव्य की ही धारा प्रवाहित होती रही और उसके लिये ब्रजभाषा का समतल धरातल अत्यंत अनुकूल था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्रजभाषा में केवल काव्य-रचना होती आई हो, यह बात नहीं है। गद्य भी उसमें लिखा गया था, किंतु नाम मात्र के लिये। संवत् १४०० के आसपास के लिखे बाबा गोरखनाथ के कुछ ग्रंथों की भाषा सर्व प्राचीन व्रजभाषा के गद्य का प्रमाण है। उसमें प्राचीनता के परिचायक लक्षणों की भरमार है। जैसे "स्वामी तुम्ह तो सतगुरु, अम्हे तो सिष सबद तो एक पूछिबा, दया करि कहिबा, मनि न करिबा रोस"। इसमें हम अम्हे, तुम्ह, पूछिबा और कहिबा आदि में भाषा का आरंभिक रूप देखते हैं। यह भाषा कुछ अधिक अस्पष्ट भी नहीं। इसके उपरांत हम श्रीविट्ठलनाथ की वार्ताओं के पास आते हैं। उसमें व्रजभाषा के गद्य का हमें वह रूप दीख पड़ता है जो सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में प्रचलित था। अतः इन वार्ताओं में भी, जो उसी बोलचाल की भाषा में लिखी गई है, स्थान स्थान पर अरबी और फ़ारसी शब्द आ गए हैं। यह बिलकुल स्वाभाविक था। यह सब होते हुए भी हमें इन वार्ताओं की भाषा में स्थिरता और भाव-व्यंजना की अच्छी शक्ति दीख पड़ती है। जैसे—"सो श्री नंदगाम में रहते हतो। सो खंडन ब्राह्मण शास्त्र पढ़ो हतो। सो जितने पृथ्वी पर मत हैं सबको खंडन करतो; ऐसो वाको नेम हतो। याही तें सब लोगन ने वाको नाम खंडन पारयो हतो।"

यदि व्रजभाषा के ही गद्य का यह रूप स्थिर रखा जाता और इसके भाव-प्रकाशन की शैली तथा व्यंजना-शक्ति का क्रमशः विकास होता रहता तो संभव है कि एक अच्छी शैली का अभ्युदय हो जाता। परंतु ऐसा नहीं हुआ। इसकी दशा सुधरने के बदले बिगड़ती गई। शक्तिहीन हाथों में पड़-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर इसकी बड़ी दुर्गति हुई। पहली बात तो यह है कि इस गद्य का भी विकसित रूप पीछे कोई नहीं मिलता, और जो मिलता भी है वह इससे अधिक लचर और तथ्यहीन मिलता है। इन वार्ताओं के अतिरिक्त और कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं मिलता। कुछ टीकाकारों की भ्रष्ट और अनियंत्रित टीकाएँ अवश्य मिलती हैं। ये टीकाएँ इस बात को प्रमाणित करती हैं कि क्रमशः इस गद्य का ह्रास ही होता गया, इसकी अवस्था बिगड़ती गई और इसकी व्यंजनात्मक शक्ति दिन पर दिन नष्ट होती गई। टीकाकार मूल पाठ का स्पष्टीकरण करते ही नहीं थे वरन् उसे और अबोध तथा दुर्गम कर देते। भाषा ऐसी अनगढ़ और लद्धड़ होती थी कि मूल में चाहे बुद्धि काम कर जाय पर टीका के चक्रव्यूह में से निकलना दुर्घट ही समझिए।

ऊपर कह चुके हैं कि सुलतानों के शासनकाल में ही खड़ी बोली का प्रचार दक्षिण प्रदेशों में और समस्त उत्तर भारत के शिष्ट समाज में था, परंतु यह प्रचार सम्यक् रूप से नहीं था। अभी तक उत्तर के प्रदेशों में प्रधानता युक्त प्रांत की थी; परंतु जिस समय शाही शासन की अवस्था विच्छिन्न हुई और इन शासकों की दुर्बलता के कारण चारों ओर से उन पर आक्रमण होने लगे उस समय राजनीतिक संगठन भी छिन्न-भिन्न होने लगा। एक ओर से अहमद शाह दुर्रानी की चढ़ाई ने और दूसरी ओर से मराठों ने दिल्ली के शासन को हिलाना आरंभ कर दिया। अभी तक जो सभ्यता और भाषा दिल्ली-आगरा और उनके पासवाले प्रदेशों के व्यवहार में थी वह इधर उधर फैलने लगी। क्रमशः इसका प्रसार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समस्त उत्तरी प्रांतों में बढ़ चला। इसी समय अँगरेजों का अधिकार उत्तरोत्तर बढ़ने लगा था। अतः दिल्ली और आगरा की प्रधानता अब बिहार और बंगाल की ओर अग्रसर हुई। इस प्रकार हम देखते हैं कि वह सभ्यता और भाषा जो केवल युक्त प्रांत के पश्चिमी भाग में बँधी थी, धीरे धीरे संपूर्ण युक्त प्रांत, विहार और बंगाल में फैल गई। इधर मुसलमानों ने अपनी राजधानियाँ बिहार और बंगाल में स्थापित कीं; उधर बंगाल में अँगरेजों की प्रधानता बढ़ ही रही थी। फलतः व्यापार धीरे धीरे पश्चिम से पूर्व की ओर प्रसारित हुआ। इसका प्रभाव भाषा की व्यवस्था पर भी पड़े बिना न रहा। वह खड़ी बोली, जो अब तक पश्चिमी भाग में ही बँधी थी, समस्त उत्तरी भारत में अब अपना अधिकार जमाने में समर्थ हुई।

भारतवर्ष में अँगरेजों के आते ही यहाँ की राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थिति में विप्लव उपस्थित हो उठा। राज्य-संस्थापन तथा आधिपत्य-विस्तार की इनकी भावना ने यहाँ के राजनीतिक जगत् में उलट-पुलट उत्पन्न कर दिया। इनके नित्य के संसर्ग ने तथा रेल, तार की नूतन सुविधाओं ने यहाँ के रहन सहन और आचार विचार में परिवर्तन ला खड़ा किया। इन लोगों के साथ साथ इनका धर्म भी लगा रहा। इनका एक अन्य दल धर्म-प्रचार की चेष्टा कर रहा था। धर्म-प्रवर्तन की इस चेष्टा ने धार्मिक जगत् में एक आंदोलन उपस्थित किया। सब ओर एक साधारण दृष्टि फेरने से एक शब्द में कहा जा सकता है कि अब विज्ञान का युग आरंभ हो गया था। लोगों के विचारों में जागर्ति हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रही थी। उन्हें यह ज्ञात हो चला था कि उनका संबंध केवल उन्हीं के देश, भारतवर्ष, से नहीं है वरन् भारतवर्ष जैसे दूसरे प्रदेश भी हैं; सृष्टि के इस विस्तार से उनका संबंध अविच्छिन्न रहना अनिवार्य है, ऐसी अवस्था में समाज की व्यापकता वृद्धि पाने लगी। इस सामाजिक विकास के साथ ही साथ भाषा की ओर भी ध्यान जाना नितांत स्वाभाविक था। इसी समय यंत्रालयों में मुद्रण-कार्य आरंभ हुआ। इसका प्रभाव नवीन साहित्य के विकास पर अधिक पड़ा। इस प्रकार विचारों के सामाजिक आदान-प्रदान का रूप स्थिर हुआ।

इस समय तक जो साहित्य प्रचलित था वह केवल पद्य-मय था। जो धारा ग्यारहवीं अथवा बारहवीं शताब्दियों में प्रवाहित हुई थी वह आज तक अप्रतिहत रूप में चली आ रही थी। एक समय था, जब कि यह प्रगति सफलता के उच्च-तम शिखर पर पहुँच चुकी थी। किंतु अब इसके क्रमागत ह्रास का समय था। इस काल की परिस्थिति इस बात का साक्ष्य देती थी कि अब किसी 'तुलसी', 'सूर' और 'बिहारी' के होने की संभावना न थी। इस समय में भी कवियों का अभाव नहीं था। ग्रंथों की रचना का क्रम इस समय भी चल रहा था और उनके पाठकों तथा श्रोताओं की कमी भी नहीं थी; किंतु अब यह स्पष्ट भासित होने लगा था कि केवल पद्य-रचना से काम नहीं चलेगा। पद्य-रचना साहित्य का एक अंग विशेष मात्र है, उसके अन्य अंगों की भी व्यवस्था करनी पड़ेगी, और बिना ऐसा किए उद्धार होने का नहीं। वाद-विवाद, धर्मोपदेश और तथ्यातथ्य निरूपण के लिये पद्य अनुपयोगी है, यह लोगों की समझ में आने लगा। इन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बातों के लिये गद्य की शरण लेनी पड़ेगी—यह स्पष्ट दिखाई पड़ने लगा।

किसी काल-विशेष को जिन असुविधाओं का सामना करना पड़ता है उन्हें वह स्वयं अपने अनुकूल बना लेता है। उसके लिये किसी व्यक्ति-विशेष किंवा जाति-विशेष को प्रयत्न नहीं करना पड़ता। जब कोई आवश्यकता उत्पन्न होती है तब उसकी पूर्ति के साधन भी अपने आप उत्पन्न हो जाते हैं। यही अवस्था इस समय गद्य के विकास की भी हुई। यदि इस काल-विशेष को गद्य-रचना की आवश्यकता पड़ी तो साधन सामने ही थे। विचारणीय विषय यह था कि इस समय व्रजभाषा के गद्य का पुनरुद्धार करना समीचीन होगा अथवा शिष्ट समाज में प्रचलित खड़ी बोली के गद्य का। आधार स्वरूप दोनों का भांडार एक ही सा दरिद्र था। दोनों में ही संचित द्रव्य—लेख-सामग्री—बहुत न्यून मात्रा में उपलब्ध था। व्रजभाषा के गद्य में यदि टीकाओं की गद्य-शृंखला को लेते हैं तो उसकी अवस्था कुल मिलाकर नहीं के बराबर हो जाती है। कहा जा चुका है कि इन टीकाओं की भाषा इतनी लचर, अनियंत्रित और अस्पष्ट थी कि उसका ग्रहण नहीं हो सकता था। उसमें अशक्तता इतनी अधिक मात्रा में थी कि भाव-प्रकाशन तक उससे भली भाँति नहीं हो सकता था।

खड़ी बोली की अवस्था ठीक इसके विपरीत थी। आधार-स्वरूप उसका भी कोई इतिहास न रहा हो, यह दूसरी बात है; परंतु जन साधारण उस समय इसके रूप से इतना परिचित और हिला मिला था कि इसे अपनाने में उसे किसी प्रकार का संकोच न था। दिन रात लोग बोलचाल में इसी का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यवहार करते थे। किसी प्रकार के भाव-व्यंजन में उन्हें कुछ अड़चन नहीं पड़ती थी। एक दूसरा विचारणीय प्रश्न यह था कि नवागंतुक अँगरेज नित्य बोलचाल की भाषा सुनते सुनते उसी के अभ्यस्त हो गए। अब उनके सम्मुख दूर-स्थित ब्रजभाषा का गद्य 'एक नवीन जंतु' था। अतएव उनकी प्रवृत्ति भी उस ओर सहानुभूति-शून्य सी थी। अँगरेज़ों के ही समान मुसलमान भी उसे नहीं पसंद करते थे; क्योंकि आरंभ से ही वे खड़ी बोली के साथ संबद्ध थे। यदि इस समय भी ब्रजभाषा के गद्य के प्रचार की चेष्टा की जाती तो, संभव है, इंशा अल्लाखाँ न हुए होते। एक और प्रश्न लोक-रुचि का भी था। मनुष्य की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति देखी जाती है कि वह सरलता की ओर अधिक आकृष्ट होता है। जिस ओर उसे कष्ट और असुविधा की कम आशंका रहती है उसी ओर वह चलता है। इस दृष्टि से भी जब विचार किया गया होगा तब यही निश्चित हुआ होगा कि अँगरेज तथा उस समय के पढ़े लिखे हिंदू-मुसलमान सभी खड़ी बोली को ही स्वीकार कर सकते हैं। उसी में सबको सरलता रहेगी और वही शीघ्रता से व्यापक बन सकेगी। सारांश यह कि खड़ी बोली को स्थान देने के कई कारण प्रस्तुत थे।

किसी भी साहित्य के आरंभिक काल में एक अवस्था-विशेष ऐसी रहती है कि साधारण वस्तु को ही लेकर चलना पड़ता है। उस समय न तो भाषा में भाव-प्रकाशन की बलिष्ठ शक्ति रहती है और न लेखकों में ही व्यंजना-शक्ति का सम्यक् प्रादुर्भाव हुआ रहता है। अतः यह स्वाभाविक है कि गद्य साहित्य का समारंभ कथा कहानी से हो। उस समय साहित्योन्नति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के समारंभ का कारण केवल मनोविनोद ही होता है। वह समय उच्च और महत् विचारों के गवेषणा-पूर्ण चिंतन का नहीं होता। उस समय तथ्यातथ्य-विवेचन असंभव होता है। वहाँ तो यही विचार रहता है कि किसी प्रकार लोग पठन-पाठन के अभ्यासी हों। यही अवस्था हमारे गद्य के इस विकास-काल में थी।

यहीं हमें इंशा अल्लाखाँ और मुंशी सदासुखलाल दिखाई पड़ते हैं। एक कहानी लेकर आते हैं, दूसरे कथा का रूप। इस समय इन दो लेखकों की कृपा से दो समाजों को पढ़ने का कुछ उपादान, चलती भाषा में, प्राप्त हुआ। धर्म समाज को श्रीमद्भागवत का अनुवाद मिला और जन साधारण को मन-बहलाव के लिये एक क़िस्सा। जैसे दोनों के विषय हैं वैसी ही उनकी भाषा भी है। एक में भाषा शांत संचरण करती हुई मिलती है तो दूसरे में उछलकूद का बोलबाला है। मुंशीजी की भाषा में संस्कृत के सुंदर तत्सम शब्दों के साथ पुराना पंडिताऊपन है तो खाँ साहब में अरबी-फ़ारसी के साधारण शब्द-समुदाय के साथ-साथ वाक्य-रचना का ढंग भी मुसलमानी मालूम पड़ता है। नमूने देखिए—

"जो सत्य बात होय उसे कहा चाहिए, को बुरा माने कि भला माने। विद्या इस हेतु पढ़ते हैं कि तात्पर्य इसका जो सतोवृत्ति है वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप में लय हूजिए।"

—मुंशी सदासुखलाल

"सिर झुकाकर नाक रगड़ता हूँ उस अपने बनानेवाले के सामने जिसने हम सबको बनाया और बात की बात में वह कर दिखाया कि जिसका भेद किसी ने न पाया। आतियाँ, जातियाँ जो साँसें हैं, उसके

२५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिन ध्यान सब फाँसे हैं। यह कल का पुतला जो अपने उस खिलाड़ी की सुध रक्खे तो खटाई में क्यों पड़े और कड़वा कसैला क्यों हो ?"

—सैयद इंशा अल्लाखाँ

"बात होय, को (कोई के लिये), हेतु, तात्पर्य इसका........है" इत्यादि पद मुंशीजी में पंडिताऊपन के प्रमाण हैं। आजकल भी कथा-वाचकों में और साहित्य का ज्ञान न रखनेवाले कोरे संस्कृत के अन्य पंडितों में इस प्रकार की व्यंजनात्मक परिपाटी पाई जाती है। इसके अतिरिक्त इनमें आवता, जावता इत्यादि का प्रयोग भी बहुलता से मिलता है। इसी पंडिताऊपन का रूप हमें स्वर्गीय पंडित अम्बिकादत्तजी व्यास की रचना में भी मिलता है। मुंशीजी के समय में यह उतना बड़ा दोष नहीं माना जा सकता था जितना व्यासजी के काल में। अस्तु, इन संस्कार-जनित दोषों को छोड़कर इनकी रचना में हमें आगम का चित्र स्पष्ट दिखाई पड़ने लगता है। 'तात्पर्य', 'सत्तोवृत्ति', 'प्राप्त', 'स्वरूप' इत्यादि संस्कृत के तत्सम शब्दों के उचित प्रयोग भाषा के परिमार्जित होने की आशा दिखाते हैं। रचना के साधारण स्वरूप को देखने से एक प्रकार की स्थिरता और गंभीरता की झलक दिखाई पड़ती है। यह स्पष्ट आशा हो जाती है कि एक दिन आ सकता है जब मार्मिक विषयों की विवेचना सरलता से होगी।

उद्भावना-शक्ति के विचार से जब हम खाँ साहब की कृति को देखते हैं तब निर्विवाद मान लेना पड़ता है कि उनका विषय एक नवीन आयोजन था। उनकी कथा का आधार नहीं था। मुंशीजी का कार्य इस विचार से सरल था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खाँ साहब को अपनी इस नवीनता में बड़ी सफलता मिली। कथा का निर्वाह संगठित और क्रम-बद्ध है। भाषा चमत्कार-पूर्ण और आकर्षक है। उसमें अच्छा चलतापन है। यह सब होते हुए भी मानना पड़ेगा कि इस प्रकार की भाषा गूढ़ विषयों के प्रतिपादन के लिये उपयोगी नहीं हो सकती। इसमें चटक मटक इतनी है कि पढ़ते पढ़ते एक मीठी हँसी आ ही जाती है। यही शैली क्रमशः विकसित होकर पंडित पद्मसिंहजी शर्मा की भाषा में मौजूद है। इस शैली की भाषा में धींगा-धींगी तो सफलता के साथ हो सकती है; किंतु गूढ़ गवेषणा को उसमें कोई स्थान नहीं प्राप्त हो सकता। इसके अतिरिक्त इनमें तुक लगाते चलने की धुन भी विलक्षण थी। इसी का परिवर्द्धित रूप लल्लूजीलाल की रचना में भी मिलता है। अभी तक साहित्य केवल पद्यमय था। अतः सभी के कान श्रुतिमधुर तुकांतों की ओर आकृष्ट होते थे। "हम सबको बनाया, कर दिखाया, किसी ने न पाया" में यह बात स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

कृदंत और विशेषण के प्रयोग में 'वचन' का विचार रखना एक प्राचीन परिपाटी या परंपरागत रूढ़ि थी जो कि अपभ्रंश काल में तो प्रचलित थी, परंतु खाँ साहब के कुछ पूर्व तक इधर नहीं मिलती थी। अकस्मात् इनकी रचना में फिर वह रूप दिखाई पड़ा। ऊपर दिए हुए अवतरण के 'आतियाँ जातियाँ जो साँसें हैं' में यह बात स्पष्ट है। वास्तव में इस समय 'आती जाती' लिखा जाना चाहिए, इसके अतिरिक्त इनकी रचना में कहावतों का सुंदर उपयोग और निर्वाह पाया जाता है। यह भाषा मुसलमानों के उपयोग में सैकड़ों वर्ष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से आ रही थी। अतः उनके लिये वह एक प्रकार से परिमार्जित हो चुकी थी। उनके लिये कहावतों का सुंदर प्रयोग करना कोई बड़ी बात न थी। इनकी वाक्य-योजना में फ़ारसी का ढंग है। 'सिर झुकाकर नाक रगड़ता हूँ अपने बनानेवाले के सामने' में रूप ही उलटा है। इसी को पंडित सदल मिश्र ने लिखा है—'सकल सिद्धिदायक वो देवतन में नायक गणपति को प्रणाम करता हूँ।' क्रिया का वाक्य के अंत में रहना समीचीन है।

सारांश यह कि इंशा अल्लाखाँ की भाषा शैली उर्दू ढंग की है और उस समय के सभी लेखकों में यह "सब से चटकीली मटकीली मुहाविरेदार और चलती" है, परंतु यह मान लेना भ्रमात्मक है कि खाँ साहब की शैली उच्च गद्य के लिये उपयुक्त है। इस ओर स्वतः लेखक की प्रवृत्ति सिद्ध नहीं की जा सकती। वह लिखते समय हाव भाव कूद फाँद और लपक झपक दिखाना चाहता है। ऐसी अवस्था में गंभीरता का निर्वाह कठिन हो जाता है। उसने फड़कती हुई भाषा का बड़ा सुंदर रूप लेखक ने सामने रखा है, यही कारण है जो तात्त्विक विषयों का पर्यालोचन इसकी भाषा में नहीं किया जा सकता। हाँ यह बात अवश्य है कि खाँ साहब ने अपने विषय के अनुकूल भाषा का उपयोग किया है। उसमें लेखक का प्रतिरूप दिखाई पड़ता है। उछलती हुई भाषा का वह बहुत ही आकर्षक रूप है।

जिस समय इधर मुंशी सदासुखलाल और सैयद इंशा अल्लाखाँ अपनी वृत्तियों को लेकर साहित्यक्षेत्र में अवतीर्ण हुए उस समय उधर कलकत्ते में गिलक्रिस्ट साहब भी गद्य के निर्माण में सहायक हुए। फोर्ट विलियम कालेज की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्यक्षता में लल्लूजीलाल ने 'प्रेमसागर' और सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' लिखा। लल्लूजीलाल के लिये चतुर्भुज-दास का भागवत और सदल मिश्र के लिये संस्कृत का नासिकेतोपाख्यान प्राप्त था। दोनों को वस्तुनिर्माण की आवश्यकता नहीं पड़ी। पुराने ढाँचे पर इमारत खड़ी करना अधिक कुशलता का परिचायक नहीं है। इस दृष्टि से इंशा अल्लाखाँ का कार्य सबसे दुरूह था। खाँ साहब और मुंशीजी ने स्वान्तः-सुखाय रचना की और लल्लूजीलाल और मिश्रजी ने केवल दूसरों के उत्साह से ग्रंथ निर्माण किए।

लल्लूजीलाल की भाषा चतुर्भुजदास की भाषा का प्रतिरूप है। उसकी कोई स्वतंत्र सत्ता ही नहीं दिखाई पड़ती। उस समय तक गद्य का जो विकास हो चुका था उसकी आभा इनकी शैली में नहीं दिखाई पड़ती। भाषा में नियंत्रण और व्यवस्था का पूर्ण अभाव है। शब्दचयन के विचार से वह धनी ज्ञात होती है। तत्सम शब्दों का प्रयोग उसमें अधिक हुआ है। परंतु इन शब्दों का रूप विकृत भी यथेष्ट हुआ है। देशज शब्द स्थान स्थान पर विचित्र ही मिलते हैं। अरबी फ़ारसी की शब्दावली का व्यवहार नहीं हुआ है। अपवाद स्वरूप संभव है कहीं कोई विदेशी शब्द आ गया हो। इनकी भाषा सानुप्रास और तुकांतपूर्ण है। उदाहरण देखिए—

"ऐसे वे दोनों प्रिय प्यारी बतराय पुनि प्रीति बढ़ाय अनेक प्रकार से काम कलोल करने लगे और विरही की पीर हरते। आगे पान की मिठाई, मोती माल की शीतलाई और दीपज्योति की मंदताई देख एक बार तो सब द्वार मूँद ऊषा बहुत घबराय घर में आय अति प्यार कर प्रिय को कंठ लगाय लेटी।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार की भाषा कथावार्ताओं में ही प्रयुक्त की जा सकती है। उस समय भाषा का जो रूप प्रयोजनीय था वह इन्होंने नहीं खड़ा किया। इनकी भाषा अधिकांश शिथिल है। स्थान स्थान पर ऐसे वाक्यांश आए हैं जिनका संबंध आगे पीछे के वाक्यों से बिलकुल नहीं मिलता। इन सब दोषों के रहते हुए भी इनकी भाषा बड़ी मधुर हुई। स्थान स्थान पर वर्णनात्मक चित्र बड़े सुंदर हैं। यदि लल्लूजीलाल भी सदल मिश्र की भाँति भाषा को स्वतंत्रतापूर्वक विचरण करने देते तो संभव है उनकी प्राचीनता इतनी न खटकती, और कुछ दोषों का परिमार्जन भी इस प्रकार हो जाता। अरबी फ़ारसी के लटकों से बचने में इनकी भाषा मुहाविरेदार और आकर्षक नहीं हो सकी और उसमें अधिक तोड़ मरोड़ करना पड़ा।

लल्लूजीलाल के साथी सदल मिश्र की भाषा व्यावहारिक है। इसमें न तो ब्रजभाषा का अनुकरण है और न तुकांत का लटका। इन्होंने अरबी-फ़ारसी-पन को एक दम अलग नहीं किया। इसका परिणाम बुरा नहीं हुआ, क्योंकि इससे भाषा में मुहाविरों का निर्वाह सफलता के साथ हो सका है और कुछ आकर्षण तथा रोचकता भी आ गई है। वाक्यों के संगठन में खाँ साहब की उलट फेरवाली प्रवृत्ति इनमें भी मिलती है। 'जलविहार हैं करते' 'उत्तम गति को हैं पहुँचते' 'अबही हुआ है क्या' इत्यादि में वही धुन दिखाई देती है। इस में स्थान स्थान पर वाक्य असंपूर्ण अवस्था में ही छोड़ दिए गए हैं। अंतिम क्रिया का पता नहीं है। जैसे 'जहाँ देखो तहाँ देवकन्या सब गातीं'। साधारणतः देखने से भाषा असंयत ज्ञात होती है। 'और' के लिये 'औ' तथा 'वो' दोनों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप मिलते हैं। बहुवचनरूप भी दो प्रकार के मिलते हैं। 'काजन' 'हाथन' 'सहस्रन' और 'कोटिन्ह' 'मोतिन्ह' 'फूलन्ह' 'बहुतेरन्ह' इत्यादि। मुंशी सदासुखलाल की भाँति इनमें भी पंडिताऊपन मिलता है। 'जाननिहारा' 'आवता' 'करनहारा' 'रहे' (थे के लिये) 'जैसी आशा करिये' 'आवने' इत्यादि इसी के संबोधक हैं। एक ही शब्द दो रूपों में लिखे गए हैं। उदाहरणार्थ 'कदही' भी मिलता है और 'कधी', 'नहीं' के स्थान में सदैव न लिखा गया है। मिश्रजी कलकत्ते में तो रहते ही थे; इसी कारण उनकी भाषा में बँगला का भी प्रभाव दृष्टिगत होता है 'गाछ'—'काँदना' बँगला भाषा के शब्द हैं 'सो मैं नहीं सकता हूँ' में बँगलापन स्पष्ट है। 'जहाँ कि' को सर्वत्र 'कि जहाँ' लिखा है।

यों तो मिश्रजी की भाषा अव्यवस्थित और अनियंत्रित है और उसमें एकरूपता का अभाव है; परंतु उसमें भाव-प्रकाशन की पद्धति सुंदर और आकर्षक है। तत्सम शब्दों का अच्छा प्रयोग होते हुए भी उसमें तद्भव और प्रांतिक शब्दों की भरमार है। सभी स्थलों पर भाषा एक सी नहीं है। कहीं कहीं तो उसका सुचारु और संयत रूप दिखाई पड़ता है, पर कहीं कहीं अशक्त और भद्दा। ऐसी अवस्था में इनकी भाषा को 'गठीली' और 'परिमार्जित' कहना युक्तिसंगत नहीं है। एकस्वरता का विचार अधिक रखना चाहिए। इस विचार से इनकी भाषा को देखने पर निराश होना पड़ेगा; परंतु साधारण दृष्टि से वह मुहाविरेदार और व्यावहारिक थी इसमें कोई संदेह नहीं। कहीं कहीं तो इनकी रचना आशा से अधिक संस्कृत दिखाई पड़ती है जैसे—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"उस वन में व्याघ्र और सिंह के भय से वह अकेली कमल के समान चंचल नेत्रवाली व्याकुल हो ऊँचे स्वर से रो रो कहने लगी कि अरे विधना! तैंने यह क्या किया? और बिछुरी हुई हरनी के समान चारों ओर देखने लगी। उसी समय तक ऋषि जो सत्यधर्म में रत थे ईंधन के लिये वहाँ जा निकले।

ऐसे विशुद्ध स्थल कम हैं। यह भाषा भारतेंदु हरिश्चंद्र के समीप पहुँचती दिखाई पड़ती है। इसमें साहित्य की अच्छी झलक है। भाव-व्यंजन में भी कोई बाधा नहीं दिखाई पड़ती। ऐसे समय में जब कि मुंशी सदासुखलाल, इंशा अल्लाखाँ, लल्लूजीलाल और सदल मिश्र गद्य का निर्माण कर रहे थे, ईसाइयों के दल अपने धर्म का प्रचार करने की धुन में संलग्न थे। इन लोगों ने देखा कि साधारण जनता जिनके बीच उन्हें अपने धर्म का प्रचार करना अभीष्ट था अधिक पढ़ी लिखी नहीं थी। उसकी बोलचाल की भाषा खड़ी बोली थी। अतएव इन ईसाई प्रचारकों ने अरबी फ़ारसी मिली हुई भाषा को त्यागकर विशुद्ध खड़ी बोली को ग्रहण किया। उन्होंने उर्दूपन को दूरकर सदासुखलाल और लल्लूजीलाल की ही भाषा को आदर्श माना। इसका भी कारण था। उन्हें विश्वास था कि मुसलमानों में वे अपने मत का प्रचार नहीं कर सकते थे। मुसलमान स्वयं इतने कट्टर और धर्मांध होते हैं कि अपने धर्म के आगे वे दूसरों की नहीं सुनते। इसके सिवा शाही शासकों के प्रभाव से हिंदुओं की साधारण अवस्था शोचनीय थी। वे अधिकांश में दरिद्र थे। अतः आर्थिक प्रलोभन में पड़कर ईसाई धर्म स्वीकार कर लेते थे। इन अवस्थाओं का विचार करके इन ईसाई प्रचारकों ने खड़ी बोली को ही ग्रहण किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्हें मालूम था कि साधारण हिंदू जनता, जिसमें उन्हें अपना धर्म फैलाना था, इसी भाषा का व्यवहार करती है।

संवत् १८७५ में जब ईसाइयों की धर्म-पुस्तक का अनुवाद हिंदी भाषा में हुआ तब देखा गया कि उसमें विशुद्ध हिंदी भाषा का ही उपयोग हुआ है। इस समय ऐसी अनेक रचनाएँ तैयार हुईं जिनमें साधारणतः ग्रामीण शब्दों को तो स्थान मिला परंतु अरबी फ़ारसी के शब्द प्रयुक्त नहीं हुए। 'तक' के स्थान पर "लौं", 'वक्त' के स्थान पर 'जून' 'कमरबंद' के लिये 'पटुका' का ही व्यवहार हुआ है। केवल शब्दों का ही परिष्कार नहीं हुआ वरन् इस भाषा में शब्दावली, भावभंगी और ढंग सभी हिंदी—विशुद्ध हिंदी—के थे। एतत्कालीन ईसाई-रचनाओं में भाषा विशुद्ध और परिमार्जित रूप में प्रयुक्त हुई है।

इन ईसाइयों ने स्थान स्थान पर विद्यालय स्थापित किए। इनकी स्थापित पाठशालाओं के लिये पाठ्य पुस्तकें भी सरल परंतु शुद्ध हिंदी में लिखी गईं। कलकत्ते और आगरे में ऐसी संस्थाएँ निश्चित रूप से स्थापित की गईं, जिनका उद्देश्य ही पठन पाठन के योग्य पुस्तकों का निर्माण करना था। इन संस्थाओं ने उस समय हिंदी का बड़ा उपकार किया। राजा शिवप्रसाद प्रभृति हिंदी के उन्नायकों के लिये अनुकूल वातावरण इन्हीं की बदौलत तैयार हुआ। इन ईसाइयों ने भूगोल, इतिहास, विज्ञान और रसायन शास्त्र प्रभृति विषयों की पुस्तकें प्रकाशित कीं। कुछ दिनों तक यही क्रम चलता रहा। बाद को प्रकाशित पुस्तकों की भाषा पर्याप्त रूप में परिमार्जित हो गई थी। जैसे—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"भट्ट ने पहले यह बात लिखी है कि देवताओं के कुकर्म सुकर्म हैं क्यों शास्त्र ने इनको सुकर्म ठहराया है। यह सच है परंतु हमारी समझ में इन्हीं बातों से हिंदू शास्त्र झूठे ठहरते हैं। ऐसी बातों में शास्त्र के कहने का कुछ प्रमाण नहीं। जैसे चोर के कहने का प्रमाण नहीं जो चोरी करे फिर कहे कि मैं तो चोर नहीं। पहले अवश्य है कि शास्त्र सुधारे जाएँ और अच्छे अच्छे प्रमाणों से ठहराया जाय कि यह पुस्तक ईश्वर की है तब इसके पीछे उनके कहने का प्रमाण होगा। यह निश्चय जानो कि यदि ईश्वर अवतार लेता तो ऐसा कुकर्म कभी न करता और अपनी पुस्तक में कभी न लिखता कि कुकर्म सुकर्म है"।

ऊपर का उद्धृत अवतरण संवत् १८०६ में प्रकाशित एक पुस्तक का है। इसकी भाषा से यह स्पष्टतया विदित हो जाता है कि इस समय तक इसमें इतनी शक्ति आ गई थी कि योग्यता-पूर्वक वाद-विवाद चल सके। इसमें शक्ति दिखाई पड़ती है। यह भाषा लचर नहीं है। इसमें भाषा का व्यवस्थित रूप दिखाई पड़ता है। पूरी पुस्तक इसी शैली में लिखी गई है। इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि इस समय तक भाषा में एक-स्वरता अच्छी तरह से आ गई थी। सभी विषयों की छान-बीन इसमें हुई है। अतएव यह कथन अत्युक्ति-पूर्ण न होगा कि इसकी व्यापकता बढ़ रही थी। अब यह केवल कथा कहानी की भाषा न रही, वरन् तथ्यातथ्य-निरूपण, वाद-विवाद और आलोचना की भाषा भी हो चली।

ईसाइयों का प्रचार-कार्य चलता रहा। खंडन मंडन की पुस्तकें विशुद्ध हिंदी भाषा में छपती रहीं। पठन पाठन का कार्य आरंभ हो चुका था। उर्दू पाठशालाएँ स्थापित हो चुकी थीं। इन संस्थाओं में पढ़ाने के लिये पुस्तकें भी लिखी जा रही थीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार व्यापक रूप में न सही, पर संतोषप्रद रूप में प्रयास किया जा रहा था। इसी समय सरकार ने भी मदरसे स्थापित करने का आयोजन आरंभ किया। नगरों के अतिरिक्त गाँवों में भी पढ़ाने लिखाने की व्यवस्था होने लगी। इन सरकारी मदरसों में अँगरेजी के साथ साथ हिंदी उर्दू को भी स्थान प्राप्त हुआ। यह आरंभ में ही लिखा जा चुका है कि जिस समय मुसलमान लेखकों ने कुछ लिखना प्रारंभ किया उस समय व्रजभाषा और अवधी में ही उन लोगों ने अपने अपने काव्यों का प्रणयन किया। इसके बाद कुछ लोगों ने खड़ी बोली में रचनाएँ प्रारंभ कीं। पहले किसी में भी यह धारणा न थी कि इसी हिंदी के ढाँचे में अरबी फ़ारसी की शब्दावली का सम्मिश्रण कर एक नवीन कामचलाऊ भाषा का निर्माण कर लें। परंतु आगे चलकर अरबी फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग खड़ी बोली में क्रमशः वृद्धि पाने लगा। शब्दों के अतिरिक्त मुहावरे, भावव्यंजना तथा वाक्य-रचना का ढंग भी धीरे धीरे बदल गया। खड़ी बोली के इसी बदले हुए रूप को मुसलमान लोगों ने उर्दू के नाम से प्रतिष्ठित किया। ये लोग कहने लगे कि इस भाषा विशेष का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है।

उर्दू की व्यापकता

पहले अदालतों में विशुद्ध फ़ारसी भाषा का प्रयोग होता था। पश्चात् "सरकार की कृपा से खड़ी बोली का अरबी-फ़ारसीमय रूप लिखने पढ़ने की अदालती भाषा होकर सब के सामने आया"। वास्तविक खड़ी बोली की प्रगति को इस परिवर्तन से बड़ा व्याघात पहुँचा। अदालत के कार्यकर्त्ताओं के लिये इस नवाविष्कृत गढ़ंत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषा का अध्ययन अनिवार्य हो गया, क्योंकि इसके बिना उनकी रोटी कमाना दुष्कर हो गया। इस विवशता से इस उर्दू कही जानेवाली खिचड़ी भाषा की व्यापकता बढ़ने लगी। अब एक विचारणीय प्रश्न यह उपस्थित हुआ कि सरकारी मदरसों में नियुक्त पाठ्य ग्रंथों का निर्माण किस भाषा में हो, हिंदी खड़ी बोली में हो अथवा अरबी-फ़ारसी-मय नवीन रूपधारिणी उर्दू नाम से पुकारी जानेवाली इस खिचड़ी भाषा में ?

राजा शिवप्रसाद

काशी के राजा शिवप्रसाद इस समय शिक्षा-विभाग के निरीक्षक के पद पर नियुक्त थे। वे हिंदी के उन हितैषियों में से थे जो लाख विघ्न, बाधाओं तथा अड़चनों के उपस्थित होने पर भी भाषा के उद्धार के लिये सदैव प्रयत्न-शील रहे। इस हिंदी उर्दू के झगड़े में राजा साहब ने बड़ा योग दिया। उनकी स्थिति बड़ी विचारणीय थी। उन्होंने देखा कि शिक्षा-विभाग में मुसलमानों का दल अधिक शक्तिशाली है। अतः उन्होंने किसी एक पक्ष का स्वतंत्र समर्थन न कर मध्यवर्ती मार्ग का अवलंबन किया। नीति भी उनके इस कार्य का अनुमोदन करती है। पढ़ने के लिये पुस्तकों का अभाव देखकर राजा साहब ने स्वयं तो लिखना आरंभ ही किया, साथ ही अपने मित्रों को भी प्रोत्साहन देकर इस कार्य में संयोजित किया। "राजा साहब जी जान से इस उद्योग में थे कि लिपि देवनागरी हो और भाषा ऐसी मिलीजुली रोजमर्रा की बोल चाल की हो कि किसी दलवाले को एतराज न हो।"

इसी विचार से प्रेरित हो उन्होंने अपनी पहले की लिखी पुस्तकों में भाषा का मिला जुला रूप रक्खा। लोगों का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह कहना कि "राजा साहब की भाषा वर्तमान भाषा से बहुत मिलती है, केवल यह साधारण बोलचाल की ओर अधिक झुकती है और इसमें कठिन संस्कृत अथवा फ़ारसी के शब्द नहीं हैं" उनकी संपूर्ण रचनाओं में नहीं चरितार्थ होता। उनकी पहले की भाषा अवश्य मध्यवर्ती मार्ग की थी। इसमें उन्होंने स्थान स्थान पर साधारण उर्दू और फ़ारसी के तथा अरबी के भी शब्दों का प्रयोग किया है। साथ ही संस्कृत के चलते और साधारण प्रयोगों में आनेवाले तत्सम शब्दों को भी उन्होंने लिया है। इसके अतिरिक्त 'लेवे' ऐसे रूप भी वे रख देते थे। देखिए—"सिवाय इसके मैं तो आप चाहता हूँ कि कोई मेरे मन की थाह लेवे और अच्छी तरह से जाँचे। मारे व्रत और उपवासों के मैंने अपना फूल सा शरीर काँटा बनाया, ब्राह्मणों को दान दक्षिणा देते देते सारा खजाना खाली कर डाला, कोई तीर्थ बाकी न रखा, कोई नदी तालाब नहाने से न छोड़ा, ऐसा कोई आदमी नहीं कि जिसकी निगाह में मैं पवित्र पुण्यात्मा न ठहरूँ"। कुछ दिन लिखने पढ़ने के उपरांत राजा साहब के विचार बदलने लगे और अंत में आते आते वे हमें उस समय के एक कट्टर उर्दू-भक्त के रूप में दिखाई पड़ते हैं। उस समय उनमें न तो वह मध्यम मार्ग का सिद्धांत ही दिखाई पड़ता है और न विचार ही। उस समय वे निरे उर्दूदाँ बने दिखाई पड़ते हैं। भाव-प्रकाश की विधि, शब्दावली और वाक्य-विन्यास आदि सभी उनके उर्दू ढाँचे में ढले दिखाई पड़ते हैं। जैसे—

"इसमें अरबी, फारसी, संस्कृत और अब कहना चाहिए अँगरेजी के भी शब्द कंधे से कंधा भिड़ाकर यानी दोश-बदोश चमक दमक और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रौनक पावें, न इस बेतर्तीबी से कि जैसा अब गड़बड़ मच रहा है, बल्कि एक सल्तनत के मानिंद कि जिसकी हदें कायम हो गई हों और जिसका इंतिज़ाम मुंतज़िम की अक्लमंदी की गवाही देता है"।

क्या घोर परिवर्तन है! कितना उथल-पथल है!! एक शैली पूरब को जाती है तो दूसरी बेलगाम पच्छिम को भागी जा रही है। उपर्युक्त अवतरण में हिंदीपन का आभास ही नहीं मिलता 'न इस बेतर्तीबी से कि' से तथा अन्य स्थान में प्रयुक्त 'तरीका उसका यह रक्खा था' 'दिन दिन बढ़ावें प्रताप उसका' से वही गंध आती है जो पहले इंशाअल्लाह खाँ की वाक्य-रचना में आती थी। इसके अतिरिक्त उर्दू लेखकों के एक वर्ग के अनुसार वे 'पूँजी हासिल करना चाहिए' ही लिखा करते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि राजा साहब 'सितारे-हिंद' से 'सितार-ए-हिंद' बन गए थे।

राजा शिवप्रसाद की इस शैली का विरोध प्रत्यक्ष रूप में राजा लक्ष्मणसिंह ने किया। ये महाशय यह दिखाना चाहते थे कि बिना मुसलमानी व्यवस्था के भी खड़ी बोली का अस्तित्व स्वतंत्र रूप से रह सकता है।

राजा लक्ष्मणसिंह

उनके विचार से "हिंदी और उर्दू दो बोली न्यारी न्यारी" थीं। इन दोनों का सम्मेलन किसी प्रकार नहीं हो सकता—यही उनकी पक्की धारणा थी। बिना उर्दू के दलदल में फँसे भी हिंदी का बहुत सुंदर गद्य लिखा जा सकता है। इस बात को उन्होंने स्वयं सिद्ध भी कर दिया है। उनके जो दो अनुवाद लिखे गए और छपे हैं उनकी "भाषा सरल, एवं ललित है और उसमें एक विशेषता यह भी है कि अनुवाद शुद्ध हिंदी में किया गया है। यथासाध्य कोई शब्द फ़ारसी अरबी का नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आने पाया है।" "इस पुस्तक की बड़ी प्रशंसा हुई और भाषा के संबंध में मानो फिर से लोगों की आँखें खुलीं"।

पूर्व के लेखकों में भाषा का परिमार्जन नहीं हुआ था। वह आरंभ की अवस्था थी। उस समय न कोई शैली थी और न कोई विशेष उद्देश्य ही था, जो कुछ लिखा गया उसे काल की प्रगति एवं व्यक्ति विशेष की रुचि समझना चाहिए। उस समय तक भाषा का कोई रूप भी निश्चित नहीं हुआ था। न उसमें कोई स्थिरता ही आई थी। उस समय 'मुंडे मुंडे मतिर्भिन्ना' थी। इसके सिवा सितार-ए-हिंद साहब अपनी दोरंगी दुनिया के साथ मैदान में हाजिर हुए। इनकी चाल दोरुखी रही। अतः इनकी इस दोरुखी चाल की वजह से भाषा अव्यवस्थित ही रह गई। उसका कौन सा रूप स्थिर माना जाय, इसका पता लगाना कठिन था।

भाषा के एक निश्चयात्मक रूप का सम्यक् प्रसाद हम राजा लक्ष्मणसिंह की रचना में पाते हैं। कुछ शब्दों के रूप चाहे बेढंगे भले ही हों पर भाषा उनकी एक ढर्रे पर चली है। "मैंने इस दूसरी बार के छापे में अपने जाने सब दोष दूर कर दिये हैं;" तथा "जिन्ने", 'सुन्ने,'' "इस्से", 'उस्से,' "वहाँ जानो कि," "जान्ना," "मान्नी" इत्यादि विलक्षण रूप भी उनकी भाषा में पाए जाते हैं। 'मुझे (मुझमें) यह तो (इतना तो) सामर्थ्य है" "तुझै (तुझको अथवा तुमको) लिवाने' आदि सरीखे प्राचीन रूप भी प्राप्त होते हैं। कहावत के स्थान पर 'कहनावत' का प्रयोग किया गया है। 'अवश्य' सदैव 'आवश्यक' के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है। इतना सब होते हुए भी भाषा अपने स्वाभाविक मार्ग पर चली है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जितना पुष्ट और व्यवस्थित गद्य हमें इनकी रचना में मिलता है उतना इनके पूर्व के किसी भी लेखक की रचना में नहीं उपलब्ध हुआ था। गद्य के इतिहास में इतनी स्वाभाविक विशुद्धता का प्रयोग आगे किसी ने नहीं किया था। इस दृष्टि से राजा लक्ष्मणसिंह का स्थान तत्कालीन गद्य साहित्य में सर्वोच्च है। यदि राजा साहब विशुद्धता लाने के लिये बद्धपरिकर होने में कुछ भी आगा पीछा करते तो भाषा का आज कुछ और ही रूप रहता। जिस समय इन्होंने यह उत्तरदायित्व अपने सिर पर लिया वह समय गद्य साहित्य के विकास के परिवर्त्तन का था। उस समय की रंच मात्र की असावधानी भी एक बड़ा अनर्थ कर सकती थी। इनकी रचना में हमें जो गद्य का निखरा रूप प्राप्त होता है वह एकांत उद्योग और कठिन तपस्या का प्रतिफल है। राजा साहब की भाषा का कुछ नमूना उद्धृत किया जाता है।

"याचक तो अपना अपना वांछित पाकर प्रसन्नता से चले जाते हैं परंतु जो राजा अपने अंतःकरण से प्रजा का निर्धार करता है नित्य वह चिंता ही में रहता है। पहले तो राज बढ़ाने की कामना चित्त को खेदित करती है फिर जो देश जीतकर वश किए उनकी प्रजा के प्रतिपालन का नियम दिन रात मन को विकल रखता है जैसे बड़ा छत्र यद्यपि घाम से रक्षा करता है परंतु बोझ भी देता है।"

इस समय तक हम देख चुके हैं कि गद्य में दो प्रधान शैलियाँ उपस्थित थीं। एक तो अरबी फ़ारसी के शब्दों से भरी-पुरी खिचड़ी थी जिसके प्रवर्तक

हरिश्चंद्र

राजा शिवप्रसादजी थे और दूसरी विशुद्ध हिंदी की शैली थी जिसके समर्थक और उन्नायक राजा लक्ष्मण-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिद्ध थे। अभी तक यह निश्चय नहीं हो सका था कि किस शैली का अनुकरण कर उसकी वृद्धि करनी चाहिए। स्थिति विचारणीय थी। इस उलझन को सुलझाने का भार भारतेंदु हरिश्चंद्र पर पड़ा। बाबू साहब हिंदू मुसलमानों की एकता के इतने एकांत भक्त न थे। वे नहीं चाहते थे कि एकता की सीमा यहाँ तक बढ़ा दी जाय कि हम अपनी मातृ-भाषा का अस्तित्व ही मिटा दें। वे शिवप्रसादजी की उर्दू-मय शैली को देखकर बड़े दुखित होते थे। उनका विचार था कि एक ऐसी परिमार्जित और व्यवस्थित भाषा का निर्माण हो जो पठित समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त कर आदर्श का स्थान ग्रहण कर सके। इस विचार से प्रेरित होकर बाबू साहब इस कार्य के संपादन में आगे बढ़े और घोर उद्योग के पश्चात् अंततो गत्वा उन्होंने भाषा को एक व्यवस्थित रूप दे ही डाला। भारतेंदु के इस अथक उद्योग के पुरस्कार स्वरूप यदि उन्हें 'गद्य का जन्मदाता कहें तो अनुचित न होगा'।

उन्होंने समझ लिया कि एक ऐसे मार्ग का अवलंबन करना समीचीन होगा जिसमें सब प्रकार के लेखकों को सुविधा हो। उन्हें दिखाई पड़ा कि न उर्दू के तत्सम शब्दों से भरी तथा उर्दू वाक्य-रचना-प्रणाली से पूर्ण ही शैली सर्वमान्य हो सकती है और न संस्कृत के तत्सम शब्दों से भरी-पुरी प्रणाली ही सर्वत्र प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकती है। अतः इन दोनों प्रणालियों की मध्यस्थ शैली ही इस कार्य के लिये सर्वथा उपयुक्त होगी। इसमें किसी को असंतोष का कारण न मिलेगा और इसलिये वह सर्वमान्य हो जायगी। अतः उन्होंने इन दोनों शैलियों का सम्यक् संस्कार कर एक अभूत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रचना-प्रणाली का रूप स्थिर किया। यह उसका बहुत ही परिमार्जित और निखरा रूप था। "भाषा का यह निखरा हुआ शिष्ट सम्मान्य रूप भारतेंदु की कला के साथ ही प्रकट हुआ"। इसी मध्यम मार्ग का सिद्धांत उन्होंने अपनी सभी रचनाओं में रखा है। हम यदि केवल इनकी गद्य-शैली के नवीन और स्थिर स्वरूप का ही विचार करें तो "वर्तमान हिंदी की इनके कारण इतनी उन्नति हुई कि इनको इसका जन्मदाता कहने में भी कोई अत्युक्ति न होगी"। इस मध्यम मार्ग के अवलंबन का फल यह हुआ कि भारतेंदु की साधारणतः सभी रचनाओं में उर्दू के तत्सम शब्दों का व्यवहार नहीं मिलता। अरबी फ़ारसी के शब्द प्रयुक्त हुए हैं पर बहुत चलते। ऐसे शब्द जहाँ कुछ विकृत रूप में पाए गए वहाँ उसी रूप में रखे गए, राजा शिवप्रसाद की भाँति तत्सम रूप में नहीं। 'लोहू,' 'कफन,' 'कलेजा', 'जाफत,' 'खजाना', 'जवाब' के नीचे नुकते का न लगाना ही इस विषय में प्रमाण है। 'जंगल,' 'मुर्दा,' 'मालूम,' 'हाल,' ऐसे चलते शब्दों का उन्होंने बराबर उपयोग किया है। इधर संस्कृत शब्दों के तद्भव रूपों का भी बड़ी सुंदरता से व्यवहार किया गया है। इसमें उन्होंने बोल चाल के व्यावहारिक रूप का विशेष ध्यान रखा है। उनके प्रयुक्त शब्द इतने चलते हैं कि आज भी हम लोग उन्हीं रूपों में उनका प्रयोग अपनी नित्य की भाषा में करते हैं। वे न तो भद्दे ही ज्ञात होते हैं और न उनके प्रयोग में कोई अड़चन ही उपस्थित होती है। 'भलेमानस', 'हिया', 'गुनी', 'आपुस', 'लच्छन', 'जोतसी', 'आँचल', 'जोबन', 'अगनित', 'अचरज' इत्यादि शब्द कितने मधुर हैं, वे कानों को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किंचित् मात्र भी अखरनेवाले नहीं हैं। इनका प्रयोग भी बड़ी सुंदरता से किया गया है। इन तद्भव रूपों के प्रयोग से भाषा में कहीं शिथिलता या न्यूनता आ गई हो यह बात भी नहीं है, वरन् इसके विपरीत भाषा और भी व्यावहारिक और मधुर हो गई है। इसके अतिरिक्त इनका प्रयोग भी इतने सामान्य और चलते ढंग से हुआ है कि रचना की अधिकता में इनका पता भी नहीं लगता। इस प्रकार बाबू साहब ने दोनों शैलियों के बीच एक ऐसा सफल सामंजस्य स्थापित किया कि भाषा में एक नवीन जीवन आ गया और इसका रूप और भी व्यावहारिक और मधुर हो गया। यह भारतेंदु की नई उद्भावना थी।

लोकोक्तियों और मुहावरों से भाषा में शक्ति और चमक उत्पन्न होती है इसका ध्यान भारतेंदु ने अपनी रचना में बराबर रखा है, क्योंकि इनकी उपयोगिता उनसे छिपी न थी। इनका प्रयोग इतनी मात्रा में हुआ है कि भाषा में बल आ गया है। 'गूँगे का गुड़', 'मुँह देखकर जीना', 'वैरी की छाती ठंढी होना', 'अंधे की लकड़ी', 'कान न दिया जाना', 'झख मारना' इत्यादि मुहावरों का उन्होंने प्रचुरता से प्रयोग किया है। यही कारण है कि उनकी भाषा इतनी शक्तिशालिनी और जीवित होती थी। भाव-व्यंजना में भी इन लोकोक्तियों के द्वारा बहुत कुछ सरलता उत्पन्न हो गई। उनकी लोकोक्तियों में कहीं भी अभद्रता नहीं आने पाई है, जैसा कि हम पंडित प्रतापनारायणजी मिश्र की भाषा में पाते हैं। जहाँ लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग हुआ है वहाँ शिष्ट और परिमार्जित रूप में, उनमें नागरिकता की झलक सदैव वर्तमान रहती थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन विशेषताओं के साथ साथ उनमें कुछ पंडिताऊपन का भी आभास मिलता है, पर उनकी रचनाओं के विस्तार से इसका कुछ पता नहीं लगता। 'भई' (हुई), 'करके' (कर), 'कहाते हैं' (कहलाते हैं), 'ढकौ' (ढको), 'सो' (वह), 'होई' (होही), 'सुनै', 'करै' आदि में पंडिताऊपन, अवधीपन या व्रजभाषापन की झलक भी मिलती है। इस त्रुटि के लिये हम उन्हें दोषी नहीं ठहरा सकते; क्योंकि उस समय तक न तो कोई आदर्श ही उपस्थित हुआ था और न भाषा का कोई व्यवस्थित रूप ही। ऐसी अवस्था में इन साधारण विषयों का सम्यक् पर्य्यालोचन हो ही कैसे सकता था? इसके अतिरिक्त कुछ व्याकरण संबंधी भूलें भी उनसे हुई हैं। स्थान स्थान पर 'विद्यानुरागिता' (विद्यानुराग के लिये), 'श्यामताई' (श्यामता) पुल्लिंग में, 'अधीरजमना' (अधीरमना), 'कृपा किया है' (कृपा की है), 'नाना देश में' (नाना देशों में) व्यवहृत दिखाई पड़ते हैं। इसके लिये भी उनको विशेष दोष नहीं दिया जा सकता है क्योंकि उस समय तक व्याकरण संबंधी विषयों का विचार हुआ ही न था। इस प्रकार भाषा का परिमार्जन होना आगे के लिये बचा रहा। इसके अतिरिक्त एक कारण यह भी था कि उन्हें अपने जीवन में इतना लिखना था कि विशेष विचारपूर्वक लिखना नितांत असंभव था। कार्यभार के कारण उनका ध्यान इन साधारण विषयों की ओर नहीं जा सका।

कार्यभार इस बात का था कि अभी तक भाषा साहित्य के कई विषयों का, जो साहित्य के आवश्यक अंग थे, आरंभ तक न हुआ था और उनकी दृष्टि बड़ी व्यापक थी। उन्हें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषा साहित्य के सब अंगों पर कुछ कुछ मसाला उपस्थित करना आवश्यक था, क्योंकि अभी तक गद्य साहित्य का विकास इस विचार से हुआ ही न था कि मानव-जीवन के सब प्रकार के भावों का प्रकाशन उसमें हो। अभी तक लिखनेवाले गंभीर मुद्रा ही में बोलते थे। हास्य विनोद के मनोरंजक साहित्य का निर्माण भी समाज के लिये आवश्यक है इस ओर उनके पूर्व के लेखकों का ध्यान ही आकर्षित न हुआ था। "हिंदी लेखकों में भारतेंदु हरिश्चंद्र ने ही पहले पहल गद्य की भाषा में हास्य और व्यंग्य का पुट दिया।" इस प्रकार रचना का श्रीगणेश कर उन्होंने बड़ा ही स्तुत्य कार्य किया, क्योंकि इससे भाषा साहित्य में रोचकता उत्पन्न होती है। जिस प्रकार प्रचुर मात्रा में मिष्टान्नभोजी को मिष्टान्न भक्षण की रुचि को स्थिर रखने तथा बढ़ाने के लिये बीच बीच में चटनी की आवश्यकता पड़ती है, ठीक उसी प्रकार गंभीर भाषा साहित्य की चिरस्थायिता तथा विकास के लिये मनोरंजक साहित्य का निर्माण नितांत आवश्यक है। चटनी के अभाव में जैसे सेर भर मिठाई खानेवाला व्यक्ति आध सेर, ढाई पाव मिठाई खाने पर ही घबड़ा उठता है और भूख रहने पर भी जी के ऊब जाने से वह अपना पूरा भोजन नहीं कर सकता, उसी प्रकार सदैव गंभीर साहित्य का अध्ययन करते करते जनसमाज का चित्त ऊब उठता है। ऐसी अवस्था में वह 'मनफेर' का सामान न पाकर उससे एक दम संबंध त्याग बैठता है। उसमें एक प्रकार की नीरसता आ जाती है। हास्यप्रधान साहित्य के विकास का ध्यान रखकर ही उन्होंने 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' ऐसे लेखों का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशन किया है। स्वप्न में आपने एक "गगनगत अविद्या-वरुणालय" की स्थापना की। उस अविद्या-वरुणालय की नियमावली सुनाते सुनाते आप हाजरीन जलसह से फरमाते हैं—"अब आप सज्जनों से यही प्रार्थना है कि आप अपने अपने लड़कों को भेजें और व्यय आदि की कुछ चिंता न करें क्योंकि प्रथम तो हम किसी अध्यापक को मासिक देंगे नहीं और दिया भी तो अभी दस पाँच वर्ष पीछे देखा जायगा यदि हमको भोजन की श्रद्धा हुई तो भोजन का बंधान बाँध देंगे, नहीं, यह नियत कर देंगे कि जो पाठशाला संबंधी द्रव्य हो उसका वे सब मिलकर 'नास' लिया करें। अब मैं केवल पाठशाला के नियत किए हुए नियम सो आपको जल्दी सुनाए देता हूँ। शेष स्त्रीशिक्षा का जो विचार था वह आज रात को हम घर पूँछ लें तब कहैंगे।" भाषा भाव के अनुरूप होती है। उसी प्रकार उसकी प्रकाशन-प्रणाली भी हो जाती है। 'बंधान बाँध देंगे', 'सब मिलकर नास लिया करें', 'घर पूँछ लें', इत्यादि में प्रकाशन-प्रणाली की विचित्रता के अतिरिक्त शब्द-संचयन में भी एक प्रकार का भाव विशेष छिपा है। इसी लिये कहा जाता है कि विषय का प्रभाव भाषा पर पड़ता है। ठीक यही अवस्था भारतेंदु की उस भाषा की हुई है जिसका प्रयोग उन्होंने अपने गवेषणापूर्वक मनन किए हुए तथ्यातथ्य निरूपण में किया है। भाव-गांभीर्य के साथ साथ भाषा-गांभीर्य का आ जाना नितांत स्वाभाविक बात है। जब किसी ऐसे मननशील विषय पर उन्हें लिखने की आवश्यकता पड़ी है जिसमें सम्यक् विवेचन अपेक्षित था तब उनकी भाषा भी गंभीर हो गई है। ऐसी अवस्था में यदि भाषा का चट-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पटापन जाता रहे और उसमें कुछ नीरसता आ जाय तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। इस प्रकार की भाषा का प्रमाण हमें उनके उस लेख में मिलता है जो उन्होंने 'नाटक-रचना-प्रणाली' पर लिखा है। उसका थोड़ा सा अंश हम उदाहरणार्थ उद्धृत करते हैं—

"मनुष्य लोगों की मानसिक वृत्ति परस्पर जिस प्रकार अदृश्य है हम लोगों के हृदयस्थ भाव भी उसी रूप अप्रत्यक्ष हैं, केवल बुद्धि वृत्ति की परिचालना द्वारा तथा जगत् के कतिपय बाह्य कार्य पर सूक्ष्म दृष्टि रखकर उसके अनुशीलन में प्रवृत्त होना पड़ता है। और किसी उप-करण द्वारा नाटक लिखना रूख मारना है।"

इस लेख की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्द प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त हुए हैं। तद्भव शब्दों का प्रायः लोप सा है। वाक्य-रचना भी दुरूहता से बरी नहीं है। भारतेंदु की साधारण भाषा से इस लेख की भाषा की भिन्नता स्पष्ट रूप से लक्षित होती है। यह भाषा उनकी स्वाभाविक न होकर बनावटी हो गई है। इसमें मध्यम मार्ग का सिद्धांत नहीं दिखाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त उनकी साधारण भाषा में जो व्यावहारिकता मिलती है वह भी इसमें नहीं प्राप्त होती। उनकी अन्य रचनाओं में एक प्रकार की स्निग्धता और चलतापन दिखाई पड़ता है। उनका शब्द-चयन भी सरल और प्रचलित है। जैसे—"संसार के जीवों की कैसी विलक्षण रुचि है। कोई नेम धर्म में चूर है, कोई ज्ञान के ध्यान में मस्त है, कोई मतमतांतर के झगड़े में मतवाला हो रहा है। हर एक दूसरे को दोष देता है अपने को अच्छा समझता है। कोई संसार को ही सर्वस्व मानकर परमार्थ से चिढ़ता है। कोई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परमार्थ को ही परम पुरुषार्थ मानकर वर बार तृण सा छोड़ देता है। अपने अपने रंग में सब रँगे हैं; जिसने जो सिद्धांत कर लिया कर लिया है, वही उसके जी में गड़ रहा है और उसी के खंडन मंडन में वह जन्म बिताता है।" यही उनकी वास्तविक शैली है। भाषा का कितना परिमार्जित और व्यवस्थित रूप है। इसी में मध्यम मार्ग का अवलंबन स्पष्टतः लक्षित होता है। इसमें भाषा का प्रौढ़ रूप है, वाक्य-रचना भली भाँति गढ़ी हुई और मुहावरेदार है। इसमें आकर्षण भी है और चलतापन भी। छोटे छोटे वाक्यों में कितनी शक्ति होती है इसका पता इस उद्धरण से स्पष्ट लग जाता है।

अब हमें साधारण रीति से यह विचार करना है कि उनका भाव-शैली के विकास में कितना हाथ है। कुछ लोगों का यह कहना कि उन्होंने जन साधारण की रुचि एकदम उर्दू की ओर से हटाकर हिंदी की ओर प्रेरित कर दी थी अंशतः भ्रामक है, क्योंकि उन्होंने 'एकदम' नहीं हटाया। सम्यक् विवेचन करने पर यही कहना पड़ता है कि उन्होंने किसी भाषा विशेष का तिरस्कार मध्यम मार्ग का अवलंबन करने पर भी नहीं किया। उन्होंने यही किया कि परिमार्जन एवं शुद्धि करके दूसरे की वस्तु को अपनी बना ली। इसमें वे विशेष कुशल और समर्थ थे। उनके गद्य की एक पुष्ट नींव डालने से अपने आप ही लोगों की प्रवृत्ति राजा शिवप्रसादजी की अरबी फ़ारसी मिश्रित हिंदी लेखन-प्रणाली की ओर से हट गई; और उन्हें विश्वास हो गया कि हिंदी में भी वह ज्योति और जीवन वर्तमान है जो अन्यान्य जीवित भाषाओं में दृष्टिगोचर होता है। हाँ उसका उद्योगशील विकास एवं परिमार्जन आवश्यक है। इसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतिरिक्त यह कहना कि "गद्यशैली को विषयानुसार बदलने का सामर्थ्य उनमें कम था" ध्रुव सत्य नहीं है। उनका ध्यान इस विषय विशेष की ओर था ही नहीं, अन्यथा यह कोई बड़ी बात नहीं थी। यदि वे केवल इसी के विचार में रहते तो आज ऐसा कहने का अवसर उपस्थित न होता। उनका ध्यान एक साथ इतने अधिक विषयों पर था कि सबका एक सा उतरना असंभव था। स्वभावतः जिन विषयों का अभी उन्हें आरंभ करना था अथवा जिन विषयों पर उन्होंने कम लिखा उन विषयों के उपयुक्त भाषा का सम्यक् निर्धारण वे न कर सके। उनके सामने अच्छे आदर्श भी उपस्थित न थे। फिर अपनी रचना का वे स्वयं तुलनात्मक विवेचन करते इसका उन्हें अवसर ही न था। अतएव उन्हें इसके लिये दोषी ठहराना अन्याय है।

भारतेंदुजी की गद्य-शैली एक नवीन वस्तु थी। इस समय उन्होंने भाषा का एक परिमार्जित और चलता रूप स्थिर किया था। उनका महत्त्व इसी में है कि उन्होंने गद्य-शैली को "अनिश्चितता के कर्दम से निकालकर एक निश्चित दशा में रखा"। इसके लिये एक ऐसे ही शक्तिशाली लेखक की आवश्यकता थी और उसकी पूर्ति उनकी लेखनी से हुई। भारतेंदु के ही जीवन-काल में कई विषयों पर लिखना आरंभ हो चुका था। उनके समय तक इतिहास, भूगोल, विज्ञान, वेदांत इत्यादि आवश्यक विषयों के कतिपय ग्रंथों का निर्माण भी हो चुका था। अनेक पत्र पत्रिकाएँ भी प्रकाशित हो रही थीं। उत्तरी भारत में हिंदी का प्रसार दिन दूना रात चौगुना बढ़ रहा था। यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण था कि अब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिंदी भाषा की व्यापकता बढ़ती जा रही थी। उसमें श आ रहा था। भाव-प्रकाशन में शब्दों की न्यूनता दिन दिन दूर होती जा रही थी; किसी भी विषय और ज्ञान विशेष लिखते समय भाव-व्यंजन में ऐसी कोई अड़चन नहीं होती थी जिसका दोष भाषा की निर्बलता को दिया ज सकता। इस समय तक लोगों ने अनेक स्वतंत्र विषयों लिखना प्रारंभ कर दिया था। उन्हें आधार विशेष की आवश्यकता न रह गई थी। बाबू हरिश्चंद्र ने भाषा का स्थिर कर दिया था। अब भाषा और गद्य साहित्य के विका की आवश्यकता थी। ज्ञान का उदय हो चुका था, अब परिचित रूप में लाना रह गया था। इस कार्य संपादन करने के लिये एक दल भारतेंदुजी की उपस्थि में ही उत्पन्न हो चुका था। पंडित बालकृष्ण भट्ट, पंडित बद नारायण चौधरी, पंडित प्रतापनारायण मिश्र, लाला श्रीनिवास दास, ठाकुर जगमोहनसिंह प्रभृति लेखक साहित्य-क्षेत्र अवतीर्ण हो चुके थे। इस समय के अधिकांश लेखक कि न किसी पत्र-पत्रिका का संपादन कर रहे थे। इन पत्र पत्रिकाओं और इन लेखकों की प्रतिभाशाली रचनाओं भाषा में सजीवता और प्रौढ़ता आने लगी थी। उस समय जितने लेखक लिख रहे थे उनमें कुछ न कुछ शैली विषयक विशेषता स्पष्ट दिखाई पड़ती थी।

यों तो सभी विषयों पर कुछ न कुछ लिखा जा रहा था परंतु निबंध-रचना का स्वच्छ और परिष्कृत रूप भट्टजी तथा मिश्रजी ने उपस्थित किया। छोटे छोटे विषयों पर अपने स्वतं विचार इन लोगों ने लिपिबद्ध किए। इस प्रकार निबंध-रचना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का भी हिंदी गद्य में समारंभ हुआ। इन लोगों के निबंध वास्तव में निबंध की कोटि में आते हैं। पर अभी तक उनमें वैयक्तिक अनुभूति की सम्यक् व्यंजना नहीं होती थी। यह आरंभिक काल था अतः पुष्टता का अभाव रहना स्वाभाविक ही था। रचना का यह प्रकार उत्तरोत्तर वृद्धि पाता गया और अविरत रूप में आज तक चला आ रहा है। क्रमशः अनुभूति, व्यंजन और तर्क का समुच्चय हुआ।

बालकृष्ण भट्ट

जिस समय पंडित बालकृष्ण भट्ट ने लिखना आरंभ किया था उस समय तक लेखन-प्रणाली में तीन प्रकार की भाषाओं का उपयोग होता था—एक तो वह जिसके प्रवर्तक राजा शिवप्रसादजी थे और जिसमें उर्दू शब्द तत्सम रूप में ही प्रयुक्त होते थे; दूसरा वह जिसमें अन्य भाषाओं के शब्दों का संपूर्ण बहिष्कार ही समीचीन माना जाता था और जिसके उन्नायक राजा लक्ष्मणसिंह थे; तीसरा रूप वह था जिसका निर्माण भारतेंदुजी ने किया और जिसमें मध्यम मार्ग का अवलंबन किया जाता था। इसमें शब्द तो उर्दू के भी लिए जाते थे परंतु वे या तो बहुत चलते होते थे या विकृत होकर हिंदी बने हुए। भट्टजी उर्दू शब्दों का प्रयोग प्रायः करते थे और वह भी तत्सम रूप में। ऐसी अवस्था में हम उन्हें शुद्धिवादियों में स्थान नहीं दे सकते। कहीं कहीं तो वे हमें राजा शिवप्रसाद के रूप में मिलते हैं। जैसे—

"मृतक के लिये लोग हज़ारों लाखों ख़र्च कर आलीशान रौज़े, मक़बरे क़ब्रें संगमर्मर या संगमूसा की बनवा देते हैं, क़ीमती पत्थर माणिक ज़मुर्रद से उन्हें आरास्ता करते हैं पर वे मक़बरे क्या उसकी रूह को उतनी राहत पहुँचा सकते हैं जितनी उसके दोस्त आँसू टपकाकर पहुँचाते हैं?"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्हें भाषा को व्यापक बनाने की विशेष चिंता थी। यह बात उनकी रचनाओं को देखने से स्पष्ट प्रकट होती है। अँगरेजी राज्य के साथ साथ अँगरेजी सभ्यता और भाषा का प्राबल्य बढ़ता ही जाता था। उस समय एक नवीन समाज उत्पन्न हो रहा था। अतएव एक ओर तो हिंदी शब्दकोश की अव्यावहारिकता और दूसरी ओर नवीन भावों के प्रकाशन की आवश्यकता ने उन्हें यहाँ तक उत्साहित किया कि स्थान स्थान पर वे भावद्योतन की सुगमता के विचार से अँगरेजी के शब्द ही उठाकर रख देते थे, जैसे Character, Feeling, Philosophy, Speech आदि। यहीं तक नहीं, कभी कभी शीर्षक तक अँगरेजी के दे देते थे। इसके अतिरिक्त उनकी रचना में स्थान स्थान पर पूर्वी ढंग के 'समझाय, बुझाय' आदि प्रयोग तथा 'अधिकाई' जैसे रूप भी दिखाई पड़ते हैं।

इस समय के प्रायः सभी लेखकों में एक बात सामान्य रूप में पाई जाती है। वह यह कि सभी की शैलियों में उनके व्यक्तित्व की छाप मिलती है। पंडित प्रतापनारायण मिश्र और भट्टजी में यह बात विशेष रूप से थी। उनके शीर्षकों और भाषा की भावभंगी से ही स्पष्ट हो जाता है कि यह उन्हीं की लेखनी है। भट्टजी की भाषा में मिश्रजी की भाषा की अपेक्षा नागरिकता की मात्रा कहीं अधिक पाई जाती है। उनकी 'हिंदी भी अपनी ही हिंदी थी'। इसमें बड़ी रोचकता एवं सजीवता थी। कहीं भी मिश्रजी की ग्रामीणता की झलक उसमें नहीं मिलती। उनका वायुमंडल साहित्यिक था। विषय और भाषा से संस्कृति टपकती है। मुहावरों का बहुत ही सुंदर प्रयोग हुआ है। स्थान स्थान पर मुहावरों की लड़ी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सी गुथी दिखाई पड़ती है। इन सब बातों का प्रभाव यह पड़ा कि भाषा में कांति, ओज और आकर्षण उत्पन्न हो गया।

उनके विषय-चयन में भी विशेषता थी। साधारण विषयों पर भी इन्होंने सुंदर लेख लिखे हैं, जैसे कान, नाक, आँख, बातचीत इत्यादि। इनकी गृहीत शैली का अच्छा उदाहरण इनके इन लेखों में पाया जाता है। भाषा में दृढ़ता की मात्रा दिखाई पड़ती है। मुहावरों के सुंदर प्रयोग से एक गठन विशेष उत्पन्न हो गई है, जैसे "वही हमारी साधारण बातचीत का ऐसा घरेलू ढंग है कि उसमें न करतलध्वनि का कोई मौक़ा है, न लोगों के क़हक़हे उड़ाने की कोई बात उसमें रहती है। हम तुम दो आदमी प्रेमपूर्वक संलाप कर रहे हैं। कोई चुटीली बात आ गई हँस पड़े तो मुसकुराहट से ओठों का केवल फरक उठना ही इस हँसी की अंतिम सीमा है। स्पीच का उद्देश्य अपने सुननेवालों के मन में जोश और उत्साह पैदा कर देना है। घरेलू बातचीत मन रमाने का एक ढंग है। इसमें स्पीच की वह सब संजीदगी बेक़दर हो धक्के खाती फिरती है।"

इसके अतिरिक्त भट्टजी उस गद्य काव्य के निर्माता हैं जिसका प्रचार आजकल बढ़ रहा है। किसी किसी विषय को लेकर पद्यात्मक प्रणाली से गद्य में लिखना आजकल साधारण बात है। परंतु उस समय इस प्रकार लिखने में अधिक विचार करने और बना बनाकर लिखने में समय लगता रहा होगा। भट्टजी ने इस प्रकार के पद्यात्मक गद्यों की भी भावपूर्ण रचना की है। इस प्रकार की रचनाओं में काल्पनिक विचारशैली की अत्यंत आवश्यकता पड़ती है। पर कल्पना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की दौड़ में भी हम भट्टजी को किसी से पीछे नहीं देखते। उनके 'चंद्रोदय' और 'आँसू' वाले लेख इसके प्रमाण हैं। जैसे—

कुँई की कलियों को विकसित करते, मृगनयनियों के मान को समूल उन्मीलित करते, छिटकी हुई चाँदनी से दशों दिशाओं को धवलित करते, अन्धकार को निकालते, सीढ़ी पर सीढ़ी शिखर के समान आकाशरूपी विशाल पर्वत के मध्य भाग में चढ़ा चला आ रहा है; क्षपा-तमस्काण्ड का हटानेवाला यह चंद्रमा ऐसा मालूम होता है मानो आकाश महासरोवर में श्वेत कमल खिल रहा है। उसमें बीच बीच में कलंक की कालिमा है सो मानो भौंरे गूंज रहे हैं।

इस प्रकार की भाषा सामान्य भाषा नहीं कही जा सकती; यह उसका गढ़ा हुआ रूप है, अतः विचारवर्द्धक और व्यावहारिक नहीं है। इस प्रकार की रचना के अतिरिक्त इन्होंने भावात्मक लेख भी लिखे हैं; जैसे 'कल्पना', 'आत्मनिर्भरता' आदि। इस प्रकार के लेखों में इनकी भाषा संयत एवं सुंदर हुई है। साधारणतः देखने से इनकी प्रबंध-कल्पना बड़ी ही उच्च कोटि की हुई है। भाषा मुहावरे के साथ बड़ी ही रोचक एवं आकर्षक ज्ञात होती है। यों तो इनकी रचनाओं का आकार उतना विस्तृत नहीं है जितना कि भारतेंदु का, पर कई अंशों में इनका कार्य नवीन ही रहा।

भट्टजी का वर्णन उस समय तक समाप्त नहीं कहा जा सकता जब तक पंडित प्रतापनारायण मिश्र का भी वर्णन न हो जाय।

प्रतापनारायण मिश्र

इन दोनों व्यक्तियों ने हिंदी गद्य में एक नवीन आयोजन उपस्थित किया था। उसका स्फुरण भी इन्हीं लोगों ने भली भाँति किया था। मिश्रजी भी भट्टजी की भाँति अच्छे निबंध-लेखक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहे जा सकते हैं। इन्होंने भी 'बात', 'वृद्ध', 'भौं', 'दाँत' इत्यादि साधारण और व्यावहारिक विषयों पर स्वच्छंद विचार किया है। इस प्रकार के विषयों पर लिखने से बड़ा ही उपकार हुआ। नित्य व्यवहार में आनेवाली वस्तुओं पर भी कुछ तथ्य की बातें कही जा सकती हैं, इसका बड़ा ही सुंदर और आदर्श रूप इन छोटे छोटे निबंधों से प्राप्त होता है। उनके इस प्रकार के विषयों पर अधिक लिखने से कुछ लोगों की यह धारणा कि 'उनकी प्रतिभा केवल सुगम साहित्य की रचना में ही आबद्ध रही और उसे अपने समय के साहित्यिक धरातल से ऊँचे उठने का कम अवकाश मिला' नितांत भ्रमात्मक है; क्योंकि 'मनोयोग', 'स्वार्थ' ऐसे भावात्मक विषयों पर विचारपूर्ण विवेचन करना साधारण बात न थी। यह दूसरी बात है कि इन विषयों पर उन्होंने इतना अधिक न लिखा हो अथवा उतनी भावुक व्यंजना न की हो जितनी कि भट्टजी ने की है। परंतु जो कुछ उन्होंने लिखा है अच्छा लिखा है, इसमें कोई संदेह नहीं।

हमें उनकी लेखन-प्रणाली में एक विशेष चमत्कार मिलता है। संभव है जिसे लोग 'विदग्ध साहित्य' कहते हैं उसका निर्माण उन्होंने न किया हो परंतु उनकी लेखनी के साथ साधारण समाज की रुचि अवश्य थी। उनके लेखों में उनकी निजी छाया सदैव रही है। जैसा उनका स्वभाव था वैसा ही उनका विषय-निर्वाचन भी था। इसके अतिरिक्त उनकी रचना में आत्मीयता का भाव अधिक मात्रा में रहता था। साधारण विषय को सरल रूप में रखकर वे सुननेवाले का विश्वास अपनी ओर आकृष्ट कर लेते थे। अभी तक हिंदी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पढ़नेवालों के समाज का सम्यक् प्रसार नहीं हुआ था। इनकी लेखनी के हँसमुख स्वभाव ने एक नवीन पाठक-समूह उत्पन्न किया। उन्होंने भट्टजी के साथ हाथ मिलाकर एक साधारण और व्यावहारिक साहित्य का आविष्कार कर यह दिखला दिया कि भाषा केवल विचारशील विषयों के प्रतिपादन एवं आलोचन के लिये ही नहीं है, वरन् उसमें नित्य के व्यवहृत विषयों पर भी आकर्षक रूप में विवेचन संभव है।

भट्टजी के विचारों में इनके विचारों से एक विषय में घोर विभिन्नता थी। भट्टजी ने भारतेंदु की भाँति नागर साहित्य का निर्माण किया। परंतु ये साधारण जन-समुदाय को नहीं छोड़ना चाहते थे। इस धारणा के निर्वाह के विचार से इन्हें अपने भाव-प्रकाशन के ढंग में भी परिवर्तन करना पड़ा, दिहाती भाषा एवं मुहावरों को भी अपनी रचना में स्थान देना पड़ा। इन प्रयोगों के कारण कहीं कहीं पर अशिष्टता और ग्रामीणता भी आ गई है। पर मिश्रजी अपने उद्देश्य की पूर्ति के सामने इस पर कभी ध्यान ही न देते थे। यों तो इनकी भाषा साधारण मुहावरों के बल पर ही चलती थी। इन मुहावरों के प्रयोग से चमत्कार का अच्छा समावेश हुआ है। कहीं कहीं तो इनकी झड़ी लग गई है। इसका प्रमाण हमें इस अवतरण में भली भाँति मिलता है—

"डाकखाने अथवा तारघर के सहारे से बात की बात में चाहे जहाँ की जो बात हो जान सकते हैं। इसके अतिरिक्त बात बनती है, बात बिगड़ती है, बात आ पड़ती है, बात जाती रहती है, बात जमती है, बात उखड़ती है, बात खुलती है, बात छिपती है, बात चलती है, बात अड़ती है, हमारे तुम्हारे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी सभी काम बात ही पर निर्भर हैं। बात ही हाथी पाइए बातहि हाथी पाँव। बात ही से पराए अपने और अपने पराए हो जाते हैं।" भाषा में मुहावरों का प्रयोग करना तो एक ओर रहा, लेखों के शीर्षक तक पूरे पूरे मुहावरों ही में होते थे। जैसे 'किस पर्व में किसकी बन आती है', 'मरे का मारै शाह मदार', इत्यादि।

इनकी भाषा का रूप बड़ा अस्थिर था। अपने समय तक की प्रतिष्ठित भाषा का भी ये अनुसरण न कर सके। इस विचार से इनकी शैली बहुत पिछड़ी रह गई। साधारणतः देखने पर इनकी भाषा में पंडिताऊपन और पूरबीपन झलकता है। 'आनंद लाभ करता है' 'बनाओगे' 'तौ भी' 'बात रही' (थी) 'शरीर भरे की' 'चाय की सहाय से' 'कहाँ तक कहिए' 'हैं कै जने' इत्यादि से भाषा में व्यवस्था एवं परिमार्जन की न्यूनता सूचित होती है। इसके अतिरिक्त इनकी रचना में विराम आदि चिह्नों का अभाव है। इससे शैली में अव्यवस्था उत्पन्न हो गई है। स्थान स्थान पर तो भाव भी विच्छिन्न दिखाई पड़ते हैं। पढ़ते पढ़ते रुकना पड़ता है। भाव के समझने में बड़ी उलझन उपस्थित हो जाती है। जो विचार विराम आदि चिह्नों के प्रयोग से पाठ्य-सरल बनाए जा सकते हैं वे भी उनकी अनुपस्थिति के कारण अस्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। मिश्रजी के समय तक इन विषयों की कमी नहीं रह गई थी। शैली में स्थिरता एवं परिपक्वता आ चली थी। ऐसी अवस्था में भी इनकी भाषा बड़ी अव्यवस्थित और पुरानी ही रह गई है। जैसे—"पर केवल इन्हीं के तर्क में दूसरे को कुछ नहीं, फिर क्यों इनकी निंदा की जाय?" यह वाक्य बिल्कुल अस्पष्ट है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषा संबंधी इन त्रुटियों के अतिरिक्त व्याकरण सं भूलें इन्होंने बहुत की हैं। इनकी रचना से व्याकरण अस्थिरता स्पष्ट झलकती है। 'जात्याभिमान' 'उपरोक्त' ' सात बरस में' 'भाषा इत्यादि सभी निर्जीव से हो रहे हैं' इ भूलें इनकी रचना में साधारणतः पाई जाती हैं। 'अ का (के) कारण' 'हुई' (हैं ही) 'के' (कर) 'मु (से) एक वार' इत्यादि असुविधाजनक प्रयोग भी अधि से मिलते हैं। इन न्यूनताओं के कारण इनकी भाषा त्रुटि एवं शिथिल रह गई है। परंतु इतना सब होते हुए उसमें जो कहने का आकर्षक ढंग है वह बड़ा ही मनोहर होता है, उसमें एक विचित्र बाँकापन मिलता है जो दू लेखकों में नहीं मिलता। इनकी रचना में भट्टजी की भाँ वैयक्तिक छाप स्पष्ट दिखाई पड़ती है। साधारण रूप में भा में बड़ी रोचकता है।

'यदि सचमुच हिंदी का प्रचार चाहते हो तो आपस के जितने का पत्तर लेखा जोखा टीप तमस्सुक हों सबमें नागरी लिखी जाने का उद्यो करो। जिन हिंदुओं के यहाँ मौलवी साहब बिसमिल्लाह कराते उनके पंडितों से अक्षरारंभ कराने का उपकार करो चाहे कोई हँसे चा धमकावै जो हो सो हो तुम मनसा वाचा कर्मणा उर्दू की तुलू सन्नद्ध हो इधर सरकार से भी झगड़े खुशामद करो दाँत निकालो दिखाओ मेमोरियल भेजो एक बार दुतकारे जाओ फिर धन्ने धरो भाँति हतोत्साह न हो हिम्मत न हारो जो मनसाराम कविराने यह मंत्र सुना दो......बस फिर देखना पाँच सात बरस में फारसी सी उड़ जायगी। नहीं तो होता तो परमेश्वर के किए है हम यही कहा करैंगे "पीसैं का चुक्करा आवैं का छीता हरन" "घूरे के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रिनै कनातन का डौल बाँधै" हमारी भी कोई सुनैगा ? देखें कौन माई का लाल पहले सिर उठाता है ?

इस प्रकार की भाषा मिश्रजी अपनी उन रचनाओं में नहीं प्रयुक्त करते थे जो अधिक विवेचनापूर्ण होती थीं। विरामादि चिह्नों का तथा भावभंगी का तो वही रूप रहता था पर शब्दावली में अंतर होता था। इसके अतिरिक्त भाषा भी भाव के अनुकूल बनकर संयत एवं गंभीर हो जाती थी।

"अकस्मात् जहाँ पढ़ने लिखने आदि में कष्ट सहते हो वहाँ मन को सुयोग्य बनाने में भी त्रुटि न करो, नो चेत् दिव्य जीवन लाभ करने में अयोग्य रह जाओगे। इसलिये सब कर्तव्यों की भाँति उपर्युक्त विचार का अभ्यास करते रहना मुख्य कार्य समझो तो थोड़े ही दिनों में मन तुम्हारा मित्र बन जायगा और सर्व काल उत्तम पथ में विचरण करने तथा उत्साहित रहने का उसे स्वभाव पड़ जायगा, तथा दैवयोग से यदि कोई विशेष खेद का कारण उपस्थित होगा जिसे नित्य के अभ्यास उपाय दूर न कर सकैं उस दशा में भी इतनी घबराहट तो उपयोगी नहीं जितनी अनभ्यासियों की होती है क्योंकि विचार शक्ति इतना अवश्य समझा देगी कि सुख दुःख सदा आया ही जाया करते हैं।"

भारतेंदु के प्रयास एवं भट्टजी के तथा मिश्रजी के सतत उद्योग से हिंदी का गद्य साहित्य बलिष्ठ हो चला था। उसमें

बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'

परिपकता का आभास आने लगा था, भिन्न प्रकार के विषयों का दिग्दर्शन होने लगा था। इस समय के गद्य की अवस्था उस पक्षि-शावक के समान थी जो अभी स्फुरण शक्ति का संचय कर रहा हो। इसी समय 'प्रेमघन' जी ने एक नवीन रूप धारण किया। भाषा में बल आ ही रहा था। इन्होंने उस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बल को दिखाना आरंभ किया। भाषा को सानुप्रास ब-
का बीड़ा उठाना, उसमें अलौकिकता उपस्थित करने का प्र-
करना, इसको स्वच्छ और दिव्य बनाए रखने की साधना क-
'प्रेमघन' ही का कार्य था। इसका प्रभाव उनकी भाषा
यह पड़ा कि वह दुरूह और अव्यावहारिक बनने लगी। अ-
इतनी उन्नति होने पर भी भाषा का इतना अच्छा परिमा-
नहीं हुआ था कि उसमें जटिलता और विदग्धता दिखाने
सफल प्रयास किया जा सकता। बड़े बड़े वाक्य लिखना बु-
नहीं। परंतु इनके वाक्यों का प्रस्तार तथा तात्पर्य-बोधन ब-
दुरूह होता था। कहीं कहीं तो वाक्यों की दुरूहता
लंबाई से जी ऊब उठता है। उनमें से एक प्रकार
रुखाई उत्पन्न हो पड़ती है। उनकी यह वाक्य-विन्यास
केवल गद्य वाक्यात्मक प्रबंधों में ही नहीं आबद्ध रहती
वरन् साधारण रचनाओं और भूमिका-लेखन तक में
दिखाई पड़ती है। जैसे—

"प्रयाग की बीती युक्त प्रांतीय महाप्रदर्शिनी के सुबृहत् आयोजन और उसके समारंभोत्कर्ष के आख्यान का प्रयोजन नहीं है; क्योंकि वह स्वतः विश्वविख्यात है। उसमें सहृदय दर्शकों के मनोरंजन और कु-हलवर्धनार्थ जहाँ अन्य अनेक अद्भुत और अनोखी क्रीड़ा, कौतुक और विनोद के सामग्रियों के प्रस्तुत करने का प्रबंध किया गया था, वहाँ सुप्रसिद्ध प्राचीन घटनाओं का ऐतिहासिक दृश्य दिखाना भी निश्चित हुआ और उसके प्रबंध का भार नाट्यकला में परम प्रवीण प्रयाग युनि-वर्सिटी के ला कालेज के प्रिंसिपल श्रीयुत मिस्टर आर० के० सोराबजी एम० ए० बैरिस्टर-ऐट-ला को सौंपा गया; जिन्होंने अनेक प्रसिद्ध ऐति-हासिक घटनाओं को छाँट और उन्हें एक रूपक के रूप में ला सुविधा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समारोह के सहित उनकी लीला (पेजेंट) दिखाने के अभिप्राय से कथा प्रबंध रचना में कुछ भाग का तो स्वयं निर्माण करना एवं कुछ में औरों से सहायता लेनी स्थिर कर उनपर उसका भार अर्पण किया।"

जिस समय बड़हर की रानी का कोर्ट आफ वार्ड्स छूटा था उसका समाचार इन्होंने यों प्रकाशित किया था—

"दिव्य देवी श्रीमहारानी बड़हर लाख झंझट झेल और चिर काल पर्यंत बड़े बड़े उद्योग आर मेल से दुःख के दिन सकेल अचल 'कोर्ट' का पहाड़ ढकेल फिर गद्दी पर बैठ गईं। ईश्वर का भी कैसा खेल है कि कभी तो मनुष्य पर दुःख की रेल पेल और कभी उसी पर सुख की कलोल है।"

कितनी साधारण सी बात थी परंतु उसका इतना तूल इस प्रकार की रचना में संभव है। यह स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि भाषा हथौड़ा लेकर बड़ी देर तक गढ़ी गई है। लिखने-वाले का अभ्यास बढ़ जाने पर इस प्रकार भाव प्रकाशन में उसे विशेष असुविधा तो नहीं रह जाती, परंतु उसकी रचना साधारणत: अव्यावहारिक सी हो जाती है। चौधरीजी की भाषा इस विषय में प्रमाण मानी जा सकती है। भारतेंदु की चमत्कार रहित एवं व्यावहारिक शैली के ठीक विपरीत यह शैली है। इसमें चमत्कार एवं आलंकारिकता का विशेष भाग पाया जाता है। किसी साधारण विषय को भी बढ़ा चढ़ाकर लिखना इसमें अभीष्ट होता है। इस प्रकार इसकी स्वाभाविकता का क्रमागत ह्रास होता है और चलतापन नष्ट हो जाता है।

यों तो प्रेमघनजी की रचना में भी "आन पड़ा", 'कराकर' 'तौ भी' इत्यादि मिलता है परंतु भाषा का जितना पुष्ट रूप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसमें दिखाई पड़ता है वह स्तुत्य है। उन्होंने भाषा को काव्योचित बनाने में सोद्देश्य चेष्टा की। इसके अतिरिक्त कभी कभी अवसर पड़ने पर उन्होंने आलोचनात्मक लेख भी लिखे हैं। इन्हीं लेखों को हम आलोचनात्मक साहित्य का एक प्रकार से आरंभ कह सकते हैं। यों तो उन लेखों की भाषा आलोचना की भाषा नहीं होती थी फिर भी उनमें विषय विशेष का प्रवेश मिलता है।

धीरे धीरे उर्दू की तत्समता का ह्रास और संस्कृत की तत्समता का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। पंडित बदरीनारायण चौधरी की रचना में उर्दू की संतोषजनक कमी थी परंतु लाला श्रीनिवासदास में उर्दू तत्समता भी अच्छी मिलती है। इस कथन का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि राजा शिवप्रसादजी की भाँति इसमें उर्दू का प्राबल्य था। अब उर्दू ढंग की वाक्य-रचना प्रायः लुप्त हो रही थी। उर्दू शब्दों का प्रयोग भी दिन पर दिन घटता जाता था। इसके सिवा लालाजी में हमें दोरंगी दुनिया नहीं दिखाई पड़ती, जैसी पंडित बालकृष्ण भट्ट की रचना में थी। इनकी भाषा संयत, सुबोध और दृढ़ थी। यों तो इनके उपन्यास—परीक्षा-गुरु—और नाटकों की भाषाओं में अंतर है, परंतु वह केवल इतना ही है कि जितना केवल विषय परिवर्तन में प्रायः हो जाता है। नाटकों की भाषा वक्तृता के अनुकूल होती थी और परीक्षा-गुरु की भाषा वर्णनात्मक हुई है। इसमें साधारणतः दिल्ली की प्रांतिकता और पछाहींपन प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। 'इस्की' 'उस्की' और 'उस्से' हीं नहीं वरन् 'किस्पर', 'इस्तरह', 'तिस्पर' ऐसे प्रयोग भी पाए जाते

श्रीनिवासदास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। इनके अतिरिक्त ये 'तुम्हो' न लिखकर 'तुमही', 'ठहर' न लिखकर 'ठैर' आदि अधिक लिखा करते थे। विभक्तियों का प्रयोग भी प्रांतिकता से पूर्ण होता था। जैसे—'सै' (से) 'मैं' (में) इत्यादि। इसके उपरांत 'करै' 'देखे पर भी' 'रहैंगे' 'जाँती' 'वहाँ' (वहाँ) 'सुनैं' इत्यादि व्रज के रूप भी स्थान स्थान पर प्राप्त होते हैं। 'ब' और 'व' के उपयोग का तो इन्हें कुछ विचार ही न था। किसी किसी शब्द को भी ये शायद भ्रमवश अशुद्ध ही लिखा करते थे। जैसे 'धैर्य' के लिये 'धीर्य या धीर्य्य' तथा 'शांत' के अर्थ में 'शांति' का प्रयोग प्रचुरता से करते थे। इसके अतिरिक्त व्याकरण संबंधी साधारण भूलों का होना तो उस समय की एक विशेषता थी। जैसे "पृथ्वीराज—(संयोगिता से) प्यारी! ..तुम ही मेरा वैभव और तुमही मेरे सर्वस्व हो।" "छत्तीस वर्ष में," ऐसे प्रयोग स्थान स्थान पर बराबर मिलते हैं। इन सब त्रुटियों के रहते हुए भी भाषा में संयम दिखाई पड़ता है। परिमार्जन का सुंदर रूप मिलता है। न उछल कूद रहती है और न भद्दा चमत्कार ही। सीधा साधा व्यावहारिक रूप ही प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार की भाषा में उच्च विचारों का भी निदर्शन हो सकता है और सामान्य विषयों का भी। जैसे—

"अब इन वृत्तियों में से जिस वृत्ति के अनुसार मनुष्य करे वह उसी मेल में गिना जाता है। यदि धर्म प्रवृत्ति प्रबल रही तो वह मनुष्य अच्छा समझा जायगा और निकृष्ट प्रवृत्ति प्रबल रही तो वह मनुष्य नीच गिना जायगा और इस रीति से भले बुरे मनुष्यों की परीक्षा समय पाकर अपने आप हो जायगी, बल्कि अपनी वृत्तियों को पहचान-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर मनुष्य अपनी परीक्षा भी आप कर सकेगा। राजपाट, धन दौलत, विद्या स्वरूप वंश मर्यादा से भले बुरे मनुष्य की परीक्षा नहीं हो सकती।"

"पृथ्वीराज—(प्रीति से संयोगिता की ओर देखकर) मेरे नयनों के तारे, मेरे हिए के हार, मेरे शरीर का चंदन, मेरे प्राणाधार इस समय इस लोकाचार से क्या प्रयोजन है ? जैसे परस्पर के मिलाप में मोतियों के हार भी हृदय के भार मालूम होते हैं, इसी तरह ये लोकाचार भी इस समय मेरे व्याकुल हृदय पर कठिन प्रहार हैं। प्यारी! रक्षा करो अब तक तो तुम्हारे नयनों की बाण-वर्षा से छिन्नकवच हो मैंने अपने घायल हृदय को सम्हाला पर अब नहीं सम्हाला जाता।"

इस समय के गद्य साहित्य का सुंदर उदाहरण ठाकुर जगमोहनसिंह जी की रचनाओं में प्राप्त होता है। ठाकुर साहब हिंदी साहित्य के अतिरिक्त संस्कृत एवं अँगरेजी भाषा के भी अच्छे जानकार थे। इसकी छाप उनकी लेखनी से स्पष्ट झलकती है। उनकी रचनाओं में न तो पंडित प्रतापनारायण की भाँति विरामादि चिह्नों की अव्यवस्था मिलती है और न लाला श्रीनिवासदास की भाँति मिश्रित भाषा एवं शब्दों के अनियंत्रित रूप ही मिलते हैं। यों तो 'शाखी' 'तुम्हैं समर्पित है' 'जिसै दूँ' 'हम क्या करैं' 'चाहती हैं' और 'धरे हैं' इत्यादि पूर्वी रूप मिलते हैं परंतु फिर भी भाषा का जितना बोधगम्य, स्वाभाविक, तथा परिष्कृत परिमाण हमें इनकी रचनाओं में प्राप्त होता है उतना साधारणत: सामान्य लेखकों में नहीं मिलता। ठाकुर साहब भी स्थान स्थान पर ठीक वैसी ही गद्य काव्यात्मक भाषा का उपयोग करते थे जैसी कि हमें भट्टजी की

जगमोहनसिंह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रचना में प्राप्त हुई थी। शैली के विचार से इनकी लेखन-प्रणाली स्पष्ट और अलंकृत होती थी परंतु उसमें 'प्रेमघन' की उलझनवाली वाक्य-रचना नहीं रहती थी। उनकी शैली में तड़क भड़क न होते हुए भी चमत्कार और अनोखापन है जो केवल उन्हीं की वस्तु कही जा सकती है। उसमें एक व्यक्तित्व विशेष की झलक पाई जाती है। संस्कृत-ज्ञान का उपयोग उन्होंने अपने शब्द-चयन में किया है। शब्दों की सुंदर सजावट से उनकी भाषा में कांति आ गई है। इस कांति के साथ मधुरता एवं संस्कृति का सामंजस्य है। जैसे—

"जहाँ के शल्लकी वृक्षों की छाल में हाथी अपना बदन रगड़ रगड़कर खुजली मिटाते हैं और उनमें से निकला क्षीर सब वन के शीतल समीर को सुरभित करता है मंजु वंजुलकी लता और नील निचुल के निकुंज जिनके पत्ते ऐसे घने कि सूर्य के किरणों को भी नहीं निकलने देते इस नदी के तट पर शोभित हैं। ऐसे दंडकारण्य के प्रदेश में भगवती चित्रोत्पला जो नीलोत्पलों की झाड़ियों और मनोहर पहाड़ियों के बीच होकर बहती हैं, कंकगृद्ध नामक पर्वत से निकलकर अनेक दुर्गम विषम और असम भूमि के ऊपर से, बहुत से तीर्थों और नगरों को अपने पुण्य जल से पावन करती पूर्व समुद्र में गिरती है।"

"लो......वह श्यामलता थी, यह उसी लता मंडप के मेरे मान-सरोवर की श्यामा सरोजिनी है, इसका पात्र और कोई नहीं जिसे दूँ। हाँ एक भूल हुई कि श्यामा-स्वप्न एक 'प्रेमपात्र' को अर्पित किया गया। पर यदि तुम ध्यान देकर देखो तो वास्तव में भूल नहीं हुई। हम क्या करें तुम आप चाहती हो कि ढोल पिटे; आदि ही से तुमने गुप्तता की रीति एक भी नहीं निबाही, हमारा दोष नहीं तुम्हीं विचारो मन चाहे तो अपनी 'तहरीर' और 'एक़बाल' देख लो दफ़्र के दफ़्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिसिलबंदी होकर घेरे हैं, अपने कहकर बदल जाने की रीति अधि थी इसलिए 'प्रेमपात्र' को स्वप्न समर्पित कर शाची बनाया, अब को बदलोगी !''

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के बाल्यकाल में ही आर्य-समाज के प्रचार ने हिंदी की गद्य शैली में कई आवश्यक परिवर्तन किए।

आर्य-समाज और स्वामी दयानंद

वास्तव में गद्य के विकास के लिये यह आवश्यक होता है कि उसमें इतना बल आ जाय कि वाद-विवाद भली भाँति हो सके, विषय का सम्यक् प्रतिपादन हो सके। यह उसी समय संभव है जब कि भाषा में बल का संचार व्यापक रूप से होने लगे। वाद-विवाद का ही विशद रूप व्याख्यान है, उसमें वाद-विवाद का मननशील एवं संयत आभास रहता है। किसी विषय का सम्यक् गवेषण करने के उपरांत बलिष्ठ और स्पष्ट भाषा में जो विचार-धारा निःसृत होती है उसी का नाम है व्याख्यान। इस धर्म विचार को व्यापक बनाने के लिये जो व्याख्यानों और वक्तृताओं की धूम मची उससे हिंदी गद्य को बड़ा प्रोत्साहन मिला। इस धार्मिक आंदोलन के कारण भी उत्तरी भारत में हिंदी का प्रसार हुआ। इसका कारण यह था कि आर्य-समाज के प्रतिष्ठापक स्वामी दयानंदजी ने, गुजराती होने पर भी, हिंदी का ही आश्रय लिया था। इस चुनाव का कारण हिंदी की व्यापकता थी। अस्तु हिंदी के प्रचार के अतिरिक्त जो प्रभाव गद्य शैली पर पड़ा वह अधिक विचारणीय है। व्याख्यान अथवा वाद-विवाद को प्रभाव-शाली बनाने के लिये एक ही बात को कई बार से घुमा फिरा-कर कहने की भी आवश्यकता होती है। सुननेवालों पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस रीति के भाव-व्यंजन का प्रभाव बहुत अधिक पड़ता है। इस प्रकार की शैली का प्रभाव हिंदी गद्य पर भी पड़ा और यही कारण है कि गद्य की नित्य भाषा भी इस प्रकार की हो गई—

"क्या कोई दिव्यचक्षु इन अक्षरों की गुलाई, पंक्तियों की सुघाई और लेख की सुघड़ाई को अनुत्तम कहेगा? क्या यही सौम्यता है कि एक सिर आकाश पर और दूसरा सिर पाताल पर छा जाता है? क्या यही जल्दपना है कि लिखा आलूबुखारा और पढ़ा उल्लू बिचारा, लिखा छन्नू पढ़ने में आया झब्बू। अथवा मैं इस विषय पर इतना जोर इसलिये देता हूँ कि आप लोग सोचें समझें विचारें और अपने नित्य के व्यवहार में प्रयोग में लावें। इससे आपका नैतिक जीवन सुधरेगा, आपमें परोक्ष की अनुभूति होगी और होगी देश तथा समाज की भलाई।"

इसके अतिरिक्त गद्य शैली में जो व्यंग भाषा का रुचिकर रूप दिखाई पड़ता है वह भी इसी धार्मिक आंदोलन का अप्रत्यक्ष परिणाम है। इस आर्य-समाज के प्रतिपादकों को जिस समय भिन्न धर्मावलंबियों से वाद-विवाद करना पड़ता था उस समय ये अपने दिली गुबारों को बड़ी मनोरंजक, आकर्षक तथा व्यंग भाषा में निकालते थे। यही नहीं, वरन् वाद-विवाद एवं वक्तृताओं के सिलसिले में ये लोग "सीधी, तीव्र और लकड़तोड़ भाषा" का प्रयोग करते थे। इन सब विशेषताओं का प्रभाव स्पष्ट रूप से उस समय के गद्य-लेखकों पर पड़ा। बालकृष्ण भट्ट प्रभृति लेखकों की रचनाओं में व्याख्यान की भाषा का आभास प्रकट रूप में दिखाई पड़ता है। इन सब बातों के अतिरिक्त हम यह देखते हैं कि नाटकों में प्रयुक्त कथोपकथन की भाषा का भी आधार यही वाद-विवाद की भाषा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उस समय नाटक अधिक लिखे गए और उन नाटकों के कथोपकथन में जिस भाषा-शैली का प्रयोग हुआ वह वही वाद-विवाद की भाषा-शैली है। इस प्रकार यह निश्चित है कि इस समय के धार्मिक आंदोलन का जो रूप समस्त उत्तरी भारत में फैला वह हिंदी गद्य-शैली की अभिवृद्धि का बहुत सहायक हुआ। जिस भाषा-शैली को संयत एवं सुघड़ बनाने के लिये सैकड़ों वर्षों की आवश्यकता होती वह इस आंदोलन के उथल-पुथल में अविलंब ही सुधर गई।

इसी समय गद्य संसार में पंडित गोविंदनारायण मिश्र के समान धुरंधर लेखक प्रादुर्भूत हुए। अभी तक गद्य साहित्य में प्रचंड पांडित्य का प्रदर्शन किसी की शैली में नहीं हुआ था। यों तो पंडित बदरीनारायण चौधरी की भाषा का रूप भी पांडित्यपूर्ण एवं गद्य-काव्यात्मक था, परंतु उनमें उतनी दीर्घ समासांत पदावली नहीं पाई जाती जितनी कि मिश्रजी की रचना में प्रचुरता से प्राप्त होती है। इनमें गद्य-काव्यात्मकता की इतनी अधिकता है कि स्थान स्थान पर भावनिदर्शन अरुचिकर एवं अस्पष्ट हो गया है। अस्पष्ट वह इस विचार से हो जाता है कि वाक्य के अंत तक आते आते पाठक की स्मरण-शक्ति इतनी भाराक्रांत हो जाती है कि उसे वाक्यांशों अथवा वाक्यों के संबंध तक का ध्यान नहीं रह जाता। इस प्रकार की रचना केवल दर्शनीय और पठनीय ही होती है बोधगम्य नहीं। भाषा के गुण भी इसमें नहीं मिल सकते; क्योंकि इसमें न तो भावों का विनिमय सरलता से हो सकता है और न भाषा बोधगम्य ही होती है। संसार का कोई भी प्राणी इस प्रकार की भाषा में

गोविंदनारायण मिश्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विचारों का आह्वान प्रदान नहीं करता। स्वतः लेखक को घंटों लग जाते हैं परंतु फिर भी वाक्यों का निर्माण नहीं हो पाता। यह बात दूसरी है कि इस प्रकार का लेखक लिखते लिखते इतना अभ्यस्त हो जाता है कि उसे इस विधि विशेष से वाक्य-रचना में कुशलता प्राप्त हो जाती है। परंतु इस रचना को न तो हम गद्य काव्य ही कह सकते हैं और न कथन का चमत्कारिक ढंग ही। यह तो भाषा की वास्तविक परिभाषा से कोसों दूर पड़ जाता है। भाषा की उद्बोधन शक्ति एवं उसके व्यावहारिक प्रचलन का इसमें पता ही नहीं लगता। इस प्रकार की रचना का यदि एक ही वाक्य-समूह पढ़ा जाय तो संभव है कि उसकी बाह्य आकृति पांडित्यपूर्ण और सरस ज्ञात हो, परंतु जिस समय उसके भावों के समझने का प्रयत्न किया जायगा उस समय मस्तिष्क के ऊपर इतना बोझ पड़ेगा कि थोड़े ही समय में वह थककर बैठ जायगा। परमात्मा की सदिच्छा थी कि इस प्रकार के पांडित्य प्रदर्शन एवं वाग्जाल की ओर लेखकों की प्रवृत्ति नहीं झुकी, अन्यथा भाषा का व्यावहारिक तथा बोधगम्य रूप तो नष्ट हो ही जाता, साथ ही साहित्य के विकास पर भी धक्का लगता। इस प्रकार की भावना अथवा अरुचि का विनाश भी स्वाभाविक ही था; क्योंकि वास्तव में जिस वस्तु का आधार सत्य पर आश्रित नहीं रहता उसका विकास हो ही नहीं सकता। यही कारण है कि मिश्रजी की शैली का आगे विकास नहीं हो सका। मिश्रजी की रचना की एक झलक यहाँ दिखाई जाती है—

"जिस सुजन समाज में सहस्रों का समागम बन जाता है जहाँ पठित कोविद, कूर, सुरसिक, अरसिक, सब श्रेणी के मनुष्य मात्र का समा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेश है, वहाँ जिस समय सुकवि, सुपंडितों के मस्तिष्क सोते के अग्र प्रवाह-मय अगल्भ प्रतिभा-स्रोत से समुत्पन्न कल्पना-कलित अभिनव माधुरी भरी छलकती अति मधुर रसीली स्रोतःस्वती उस हंसवाहि हिंदी सरस्वती की कवि की सुवर्ण विन्यास समुत्सुक सरस रसना सुचमत्कारी उत्स (झरने) से कलरव कल कलित अति सुल प्रबल प्रवाह सा उमड़ा चला आता, मर्मज्ञ रसिकों को श्रवणपुटरंध्र राह मन तक पहुँच सुधा से सरस अनुपम काव्यरस चखाता है, समय उपस्थित श्रोता मात्र यद्यपि छंद-बंद से स्वच्छंद समुच्चारित शब्द लहरी-प्रवाह-पुंज का सम भाव से श्रवण करते हैं परंतु उसका चमत्का आनंद रसास्वादन सबको स्वभाव से नहीं होता। जिसमें जितनी योग्यता है जो जितना मर्मज्ञ है और रसज्ञ है शिक्षा से सुसंस्कृत जिसका मन जितना अधिक सर्वांगसुंदरतासंपन्न है, जिसमें जैसी धारणा शक्ति बुद्धि है वह तदनुसार ही उससे सारांश ग्रहण तथा रस का आस्वाद भी करता है। अपने मन की स्वच्छता, योग्यता और संपन्नता के अनु रूप ही उस चमत्कारी अपरूप रूप का चमकीला प्रतिबिंब भी उसके मन पर पड़ता है। परम वदान्य मान्यवर-कवि कोविद तो सुधा-वारि से सब पर सम भाव से खुले जी खुले हाथों सुरस बरसाते हैं, परंतु र सिक समाज पुष्प वाटिका किसी प्रांत में पतित ऊसर समान मूसरचंद मंदमति मूर्ख और अरसिकों के मनमरुस्थल पर भाग्यवश सुसंसर्ग प्रभाव से निपतित उन सुधा से सरस बूँदों के भी अंतरिक्ष में ही स्वाभाविक विलीन हो जाने से बिचारे उस नवेली नव रस से भरी बरसात में भी उत्तस प्यासे और जैसे थे वैसे ही शुष्क नीरस पड़े धूल उड़ाते हैं। कवि कोविदों की कोमल कल्पना कलिता कमनीय कांति की छाया उनके वैसे प्रगाढ़ तमाच्छन्न मलिन मन पर कैसे पड़ सकती है?"

एक अँगरेजी भाषा के आलोचक ने डाक्टर जानसन की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गद्य-शैली का विवेचन करते हुए लिखा है कि उसमें ऐसी भयंकरता मिलती है मानो मांस के लोथड़े बरस रहे हों। मेरा भी ठीक यही विचार मिश्रजी की शैली के संबंध में है। इनकी शैली में वाक्यों की लंबी दौड़ और तत्सम शब्दों के व्यवहार की बुरी लत के अतिरिक्त इतनी विचित्रता है कि भयंकरता आ जाती है। उपसर्गों के अनुकूल प्रयोग से शब्दार्थों में विशिष्ट व्यंजना प्रकट होती है परंतु जब वह व्यर्थ का आडंबर बना लिया जाता है तब एक विचित्र भद्दापन प्रकट होने लगता है। जैसे 'पंडित' 'रस' और 'ललित' के साथ 'सु', 'तुल्य' और 'उच्चरित' के साथ 'सम्' लगाकर अजनबी जानवर तैयार करने से भाषा में अस्वाभाविकता और अव्यावहारिकता बढ़ने के अतिरिक्त और कोई भलाई नहीं उत्पन्न हो सकती। इस संस्कृत की तत्सम शब्दावली तथा समासांत पदावली के बीच बीच में तद्भव शब्दों का प्रयोग करना मिश्रजी को बड़ा प्रिय लगता था। परंतु तत्समता के प्रकांड तांडव में बेचारे 'राह' 'पहुँच' 'बरसात' 'मूसरचंद' 'बूँद' आदि शब्दों की दुर्गति हो रही है। मिश्रजी सदैव 'सुचा देना' 'अनेकों घेर' और 'यह ही' का प्रयोग करते थे। विभक्तियों को ये केवल शब्दों के साथ मिलाकर लिखते ही भर न थे प्रत्युत इनका प्रयोग आवश्यकता से अधिक करते थे। इसके फल स्वरूप उनकी रचना शिथिल हो जाती थी। 'भाषा की प्रकृति के बदलने में' अथवा 'किसी प्रकार की हानि का होना संभव नहीं था' में यह बात स्पष्ट दिखाई पड़ती है। 'भाषा की प्रकृति बदलने में' अथवा 'किसी प्रकार हानि होना संभव नहीं था' लिखना कुछ बुरा न होता।' "तत्व-निर्णय का होना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असंभव समझिए" में यदि 'का' विभक्ति तत्व के साथ प्र दी जाय तो भाव अधिक बोधगम्य हो जायगा।

इस भाँति हम देखते हैं कि मिश्रजी की भाषा चाहे प्रा प्रासिक होने के कारण श्रुतिमधुर भले ही लगे परंतु वास्तव बड़ी अव्यावहारिक एवं बनावटी है। उनके एक एक वाक्य निहाई पर रखकर हथौड़े से गढ़े गए जान पड़ते हैं। इ गद्य-काव्यात्मक कही जानेवाली भाषा के अतिरिक्त मिश्रजी अपने विचार से जो साधारण भाषा लिखते थे वह भी उसी ढंग की होती थी। उसमें भी व्यावहारिकता की मात्रा न्यून ही रहती थी, उत्कृष्ट शब्दावली का प्रयोग और तद्भवता का प्राय: लोप उसमें भी रहता था। भाव-व्यंजना में भी सर लता नहीं रहती थी। डाक्टर जानसन की grand elo- quent snoquipidalian phraseology का आनंद हिंदी गद्य में मिश्रजी की ही शैली में मिलता है। जब वे साधारण वाद- विवाद के आलोचनात्मक विषय पर भी लिखते थे उस समय भी उनकी भाषा और शैली उसी कोटि की होती थी। उनको साधारण विचार-विवेचना के लिये भी गवेषणात्मक भाषा ही आवश्यक रहती थी। जैसे—

"साहित्य का परम सुंदर लेख लिखनेवाला यदि व्याकरण में पूर्ण अभिज्ञ न होगा तो उससे व्याकरण की अनेकों अशुद्धियाँ अवश्य होंगी। वैसे ही उत्तम वैयाकरण व्याकरण से विशुद्ध लेख लिखने पर भी अलंकार-शास्त्रों के दूषणों से अपना पीछा नहीं छोड़ा सकता है। अलंकार-भूषित साहित्य-रचना की शैली स्वतंत्र है। इसकी अभि- ज्ञता उपार्जन करने के शास्त्र भिन्न हैं जिनके परमोत्तम विचार में व्याकरण का अशुद्धि-विशिष्ट लेख भी साहित्य में सर्वोत्तम माना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता है। सारांश यह कि अत्यंत सुविशाल शब्दारण्य के अनेकों विभाग वर्तमान हैं उसमें एक विषय की योग्यता वा पांडित्य के लाभ करने से ही कभी कोई व्यक्ति सब विषयों में अभिज्ञ नहीं हो सकता है। परंतु अभागी हिंदी के भाग्य में इस विषय का विचार ही आना विधाता ने नहीं लिखा है। जिन महाशयों ने समाचारपत्रों में स्वनामांकित लेखों का मुद्रित कराना कर्तव्य समझा और जिनके बहुत से लेख प्रकाशित हो चुके हैं, सर्व साधारण में इस समय वे सब के सब हिंदी के भाग्य-विधाता और सब विषयों के ही सुपंडित माने जाते हैं। मैं इस भेड़ियाधसान को हिंदी की उन्नति के विषय में सबसे बढ़कर बाधक और भविष्य में विशेष अनिष्टोत्पादक समझता हूँ। अनधिकार चर्चा करनेवाले से बात बात में भ्रम प्रमाद संघटित होते हैं। नामी लेखकों के भ्रम से अशिक्षित समुदाय की ज्ञानोन्नति की राह में विशेष प्रतिबाधक पड़ जाते हैं। यह ही कारण है कि तत्त्वदर्शी विज्ञ पुरुष अपने भ्रम का परिज्ञान होते ही उसे प्रकाशित कर सर्व साधारण का परमोपकार करने में क्षणमात्र भी विलंब नहीं करते, बल्कि विलंब करने को महा पाप समझते हैं।"

यह मिश्रजी की आलोचनात्मक भाषा का उदाहरण है। इसमें भी गुणवाची शब्दों एवं उपसर्गों की भरमार है। इसमें भी उन्होंने किसी बात को साधारण ढंग से न कहकर अपने द्रविड़ प्राणायाम का ही अवलंबन किया है। "अपने लेख छपाए" के स्थान पर "समाचारपत्रों में स्वनामांकित लेखों का मुद्रित कराना अपना कर्तव्य समझा" लिखना ही वे लिखना समझते थे। किसी विषय को साधारण रूप में कहना उन्हें बिलकुल अच्छा न लगता था। नित्य की बोलचाल में वे असाधारण शब्दावली का प्रयोग करते थे। मैं तो जब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनसे मिलता और बात चीत करने का अवसर पाता तो मैं उनकी बातें सचेष्ट होकर सुनता था क्योंकि मुझे इस बात का भय लगा रहता था कि कहीं कुछ समझने में भूल कर अंडबंड उत्तर न दे दूँ। अस्तु, भाषा की दुरूहता तथा विचित्रता को एक ओर रखकर हमें यह मानने में कोई विवाद नहीं है कि मिश्रजी ने व्याकरण संबंधी नियमन में बड़ा उद्योग किया था। यही तो समय था जब कि लोगों का ध्यान व्याकरण के औचित्य की ओर खिंच रहा था और अपनी भाषा संबंधी त्रुटियों पर विचार करना आरंभ हो रहा था। इन्होंने विभक्तियों को शब्दों के साथ मिलाकर लिखने का प्रतिपादन किया और स्वयं उसी प्रणाली का अनुसरण किया।

मिश्रजी के ठीक उलटे बाबू बालमुकुंद गुप्त थे। एक ने अपने प्रखर पांडित्य का आभास अपने समासांत पदों और संस्कृत की प्रकांड तत्समता में झलकाया, दूसरे ने साधारण चलते उर्दू के शब्दों को संस्कृत के व्यावहारिक तत्सम शब्दों के साथ मिलाकर अपनी उर्दूदानी की गजब बहार दिखाई। एक ने अपने वाक्य-विस्तार का प्रकांड तांडव दिखाकर मस्तिष्क को मथ डाला, दूसरे ने चुभते हुए छोटे छोटे वाक्यों में अजब रोशनी घुमाई। एक ने अपने द्रविड़ प्राणायामी विधान से लोगों को व्यस्त कर दिया, दूसरे ने रचना-प्रणाली द्वारा अखबारी दुनिया में वह मुहावरेदानी दिखाई कि पढ़नेवालों के उभड़ते हुए दिलों में तूफानी गुदगुदी पैदा हो गई। एक को सुनकर लोगों ने कहना शुरू किया "बस करो! बस करो।" दूसरे को सुनते ही "क्या खूब! भाई जीते रहो!! शाबाश!!!" की

बालमुकुंद गुप्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आवाजें आने लगीं। इसका कारण केवल एक था, वह यह कि एक तो अपने को संसार से परे रखकर केवल एक शब्द-मय जगत् रचना चाहता था और दूसरा वास्तविक संसार के हृदय से हृदय मिलाकर व्यावहारिक सत्ता का आभास देना चाहता था।

गुप्तजी कई वर्षों तक उर्दू समाचारपत्र का संपादन कर चुके थे। वे उर्दू भाषा के अच्छे ज्ञाता थे। उन्होंने भाषा को रुचि-पूर्ण बनाना भली भाँति सीख लिया था। मुहावरों का सुंदर और उपयुक्त प्रयोग वे अच्छी तरह जानते थे। नित्य समा-चारपत्र की चलती भाषा लिखते लिखते इन्हें इस विषय में स्वाभाविक ज्ञान प्राप्त हो गया था कि छोटे छोटे वाक्यों में किस प्रकार भावों का निदर्शन हो सकता है। बीच बीच में मुहावरों के व्यापक प्रयोग से भाषा में किस प्रकार जान डालनी होती है यह भी वे भली भाँति जानते थे। यों तो उनकी रचना में स्थान स्थान पर उर्दू की अभिज्ञता की झलक स्पष्ट पाई जाती है, पर वह किसी प्रकार आपत्तिजनक नहीं है; क्योंकि पहले तो ऐसे प्रयोग कम हैं, दूसरे उनका प्रयोग बड़े सुंदर रूप में हुआ है। इनके वाक्य छोटे होने पर भी संगत और दृढ़ होते थे। उनमें विचारों का निराकरण बड़ा ही स्पष्ट बोधगम्य होता था। इन्हीं का सहारा लेकर गुप्तजी सुंदर चित्रों का मनोहर रूप अंकित करते थे। जैसे—

"शर्माजी महाराज बूटी की धुन में लगे हुए थे। सिल बट्टे से भंग रगड़ी जा रही थी। मिर्च मसाला साफ हो रहा था। बादाम इलायची के छिलके उतारे जाते थे। नागपुरी नारंगियाँ छील छील-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर रस निकाला जाता था। इतने में देखा कि बादल उमड़ रहे हैं, चीलें नीचे उतर रही हैं, तबीअत भुरभुरा उठी। इधर घटा बहार ... बहार। इतने में वायु का वेग बढ़ा, चीलें अदृश्य हुईं, अँधेरा छा... बूँदें गिरने लगीं। साथ ही तड़तड़ धड़धड़ होने लगी, देखा ओले गिर रहे हैं। ओले थमे, कुछ वर्षा हुई। बूटी तयार हुई, बम भोला कह शर्माजी ने एक लोटा भर चढ़ाई। ठीक उसी समय लालडिग्गी पर बड़े लाट मिंटो ने बंग देश के भूतपूर्व छोटे लाट उडबर्न की मूर्ति खोली। ठीक एक ही समय कलकत्ते में यह दो आवश्यक काम हुए। भेद इतना ही था कि शिवशंभु के बरामदे के छत पर बूँदें गिरती थीं और लार्ड मिंटो के सिर या छाते पर।"

"चिंता-स्रोत दूसरी ओर फिरा। विचार आया कि काल अनंत है। जो बात इस समय है वह सदा न रहेगी। इससे एक समय अच्छा भी आ सकता है। जो बात आज आठ आठ आँसू रुलाती है वही किसी दिन बड़ा आनंद उत्पन्न कर सकती है। एक दिन ऐसी ही काली रात थी। इससे भी घोर अँधेरी भादों कृष्ण अष्टमी की अर्धरात्रि। चारों ओर घोर अंधकार—वर्षा होती थी बिजली कौंदती थी घन गरजते थे। यमुना उत्ताल तरंगों में बह रही थी। ऐसे समय में एक दृढ़ पुरुष एक सद्यजात शिशु को गोद में लिए मथुरा के कारागार से निकल रहा था—वह और कोई नहीं थे यदुवंशी महाराज वसुदेव थे और नवजात शिशु कृष्ण। वही बालक आगे कृष्ण हुआ, व्रजप्यारा हुआ, उस समय की राजनीति का अधिष्ठाता हुआ। जिधर वह हुआ उधर विजय हुई। जिसके विरुद्ध हुआ पराजय हुई। वही हिंदुओं का सर्वप्रधान अवतार हुआ और शिवशंभु शर्मा का इष्टदेव। वह कारागार हिंदुओं के लिये तीर्थ हुआ।"

इन अवतरणों से इनकी व्यावहारिकता का पता लग जाता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। अपने विषय को किस प्रकार गुप्तजी छोटे छोटे परंतु शक्तिशाली वाक्यों में प्रकट करते थे। स्थान स्थान पर एक बात दुहरा दी गई है। इससे भाव-व्यंजना में दृढ़ता और विशेषता आ गई है। "जिधर वह हुआ उधर विजय हुई। जिसके विरुद्ध हुआ पराजय हुई।" यहाँ केवल एक ही वाक्य से अभीष्ट अर्थ की पूर्ति हो सकती थी; पर उस अवस्था में उसमें इतना बल संचारित न होता जितना वर्तमान रूप में है। इनकी भाषा का प्रभाव देखकर तो स्पष्ट कहना पड़ता है कि यदि गुप्तजी नाटक लिखते तो भाषा के विचार से अवश्य ही सफल रहते। कथन प्रणाली का ढंग वार्तिक है। इसके अतिरिक्त भाषा भी बड़ी परिमार्जित पाई जाती है। शैली बड़ी ही चलती और व्यावहारिक है। कहीं भी हमें ऊबड़ खाबड़ नहीं मिलता। वाक्यों का उतार चढ़ाव बिलकुल भाव के अनुकूल हुआ है। वास्तव में गुप्तजी की भाषा प्रौढ़ रूप की प्रतिनिधि है। उच्च विचारों का इस प्रकार छोटे छोटे मुहावरेदार वाक्यों में और इतनी सरलता से व्यक्त करना टेढ़ी खीर है।

गुप्तजी आलोचक भी अच्छे थे। भाषा पर अच्छा अधिकार रहने से उनकी आलोचना में भी चमत्कार रहता था। किस बात को किस ढंग से कहना चाहिए इसका विचार वे सदैव रखते थे। साथ ही कथन-प्रणाली रूखी न हो इस विचार से बीच बीच में व्यंग्य के साथ वे विनोद की मात्रा भी पूर्ण रूप में रखते थे। इस प्रकार के लेखों में वे पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की भाँति भाषा का खिचड़ी रूप ही प्रयोग में लाते थे। क्योंकि वे भी समझते थे कि इस प्रकार उनका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेख साधारणतः अधिक व्यापक एवं व्यावहारिक हो सकेगा। जैसे—

"सरकार ने भी कवि-वचन-सुधा की सौ कापियाँ खरीदी थीं। जब उक्त पत्र पाक्षिक होकर राजनीति संबंधी और दूसरे लेख स्वाधीन भाव से लिखने लगा तो बड़ा आंदोलन मचा, यद्यपि हाकिमों में बाबू हरिश्चंद्र की बड़ी प्रतिष्ठा थी, वह आनरेरी मैजिस्ट्रेट नियुक्त किए गए थे तथापि वह निडर होकर लिखते रहे और सर्व साधारण में उक्त पत्र का आदर होने लगा। यद्यपि हिंदी भाषा के प्रेमी उस समय बहुत कम थे तो भी हरिश्चंद्र के ललित ललित लेखों ने लोगों के जी में ऐसी जगह कर ली थी कि कवि-वचन-सुधा के हर नंबर के लिये लोगों को टकटकी लगाए रहना पड़ता था। जो लोग राजनीतिक दृष्टि से उसे अपने विरुद्ध समझते थे वह भी प्रशंसा करते थे। दुःख की बात है कि बहुत जल्द कुछ चुगुलखोर लोगों की दृष्टि उस पर पड़ी। उन्होंने कवि-वचन-सुधा के कई लेखों को राजद्रोहपूरित बताया, दिल्लगी की बातों को भी वह निंदासूचक बताने लगे। मरसिया नामक एक लेख उक्त पत्र में छपा था, यार लोगों ने छोटे लाट सर विलियम म्योर को समझाया कि यह आप ही की खबर ली गई है। सरकारी सहायता बंद हो गई। शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर केंपसन साहब ने बिगड़कर एक चिट्ठी लिखी। हरिश्चंद्रजी ने उत्तर देकर बहुत कुछ समझाया बुझाया। पर वहाँ यार लोगों ने जो रंग चढ़ा दिया था वह न उतरा। यहाँ तक कि बाबू हरिश्चंद्रजी की चलाई "हरिश्चंद्र-चंद्रिका" और "बालाबोधिनी" नामक दो मासिक पत्रिकाओं की सौ सौ कापियाँ प्रांतीय गवनमेंट लेती थी वह भी बंद हो गई।"

प्रत्येक विषय के इतिहास में एक सामान्य बात दिखाई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पड़ती है, वह यह है कि काल विशेष में उसके भीतर एक ऐसी अवस्था उत्पन्न होती है जब कि अकस्मात् कुछ ऐसे कारण उपस्थित हो जाते हैं जिनके कारण एक प्रबल परिवर्तन हो जाता है। ये कारण वस्तुतः कुछ दिनों से उपस्थित रहते हैं, परंतु अवसर विशेष पर ही उनसे प्रेरित घटना का विस्फोटन होता है। यही नियम साहित्य के इतिहास में भी घटित होता है। उसमें भी किसी विशेष समय पर कई कारणों के आकस्मिक संघर्ष से विशेष उलट-फेर हो जाता है। हिंदी गद्य के धारावाहिक इतिहास में सन् १९०० ई० वास्तव में इसी प्रकार का समय विशेष था। यों तो लेखन-कला के प्रसार का आरंभ बहुत समय पूर्व ही हो चुका था, और अब तक कितने ही प्रतिभाशाली लेखक उत्पन्न हो चुके थे जो अपनी रचनाओं की विशेषता की छाप हिंदी साहित्य पर लगा चुके थे; परंतु सन् १९०० में न्यायालयों में हिंदी का प्रवेश, काशी की नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा सरकार की सहायता से हिंदी की हस्तलिखित पुस्तकों की खोज और प्रयाग में 'सरस्वती' ऐसी उन्नतिशील पत्रिका का प्रकाशन एक साथ ही आरंभ हुआ। गद्य की व्यापकता का क्रमिक विकास होते देखकर सतर्क लेखकों के हृदय में यह विचार उत्पन्न हुआ कि भाषा की व्यवस्था आवश्यक है।

अभी तक तो गद्य का प्रकाशन ही प्रकाशन होता रहा। लोगों का विचार यही था कि भाषा का किसी प्रकार स्वरूप स्थिर हो और उसके आवश्यक विषयों पर कुछ न कुछ लिखा जाय। यही कारण है कि उस समय के प्रधान लेखकों में भी व्याकरण की घोर अवहेलना प्रायः पाई जाती है। गुण-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाचक 'शांत' को 'शांति' भाववाचक संज्ञा, और 'नाना शे' में', 'श्यामताई', 'जात्याभिमान', 'उपरोक्त', '३६ वर्ष से' 'इच्छा किया,' 'आशा किया' आदि प्रयोग भाषा व्याकरण की अवहेलना के स्पष्ट परिचायक हैं। इस प्रकार की त्रुटियाँ कुछ तो प्रमादवश हुई हैं और कुछ व्याकरण की अज्ञानता-वश। इसके अतिरिक्त विरामादिक चिह्नों के प्रयोग के विषय में भी इस समय के लेखक विचारहीन थे। प्रत्येक लंबे वाक्य के वाक्यांशों के बीच कुछ चिह्नों की आवश्यकता अवश्य पड़ती है, क्योंकि इनकी सहायता से हमें यह शीघ्र ही ज्ञात हो जाता है कि एक वाक्यांश का संबंध दूसरे वाक्यांश के साथ किस प्रकार का है और उसका साधारण स्थान क्या है। इन चिह्नों के अभाव में सदैव इस बात की आशंका बनी रहेगी कि वाक्य का वस्तुतः अभीष्ट अर्थ क्या है। साथ ही ऐसे अवसर उपस्थित हो सकते हैं कि उनका साधारण अर्थ ही समझना कठिन हो जाय। यदि व्याकरण के इस अंग पर ध्यान दिया जाता तो संभव है कि पंडित प्रतापनारायण मिश्र की शैली अधिक व्यवस्थित तथा स्पष्ट होती। मिश्रजी इन चिह्नों का केवल कहीं कहीं प्रयोग करते थे। इन चिह्नों के सामान्य संस्थान एवं व्यवहार के अभाव के कारण उनकी भाषा-शैली की व्यावहारिकता एवं बोधगम्यता नष्ट हो गई है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी

गद्य के इस वर्तमान काल में पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का स्थान बड़े महत्व का है। पूर्व काल में भाषा की जो साधारण शिथिलता थी अथवा व्याकरण-संबंधी जो निर्बलता थी उसका परिहार द्विवेदीजी के मत्थे पड़ा। अभी तक जो जैसा चाहता था,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिखता रहा। कोई उसकी आलोचना करनेवाला न था। अतएव इन लेखकों की दृष्टि भी अपनी त्रुटियों की ओर नहीं गई थी। द्विवेदीजी ऐसे सतर्क लेखक इसकी अवहेलना न कर सके, अतएव इन्होंने उन लेखकों की रचना-शैली की आलोचना आरंभ की जो कि व्याकरणगत दोषों का विचार अपनी रचनाओं में नहीं करते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि लोग सँभलने लगे और लेखादि विचारपूर्वक लिखे जाने लगे। उन साधारण दुर्बलताओं का क्रमशः नाश होने लगा जिनका कि हरिश्चंद्र काल में प्राबल्य था। सतर्क होकर लिखने से विरामादिक चिह्नों का प्रयोग व्यवस्थित रूप में होने लगा, साधारणतः लेख सुस्पष्ट और शुद्ध होने लगे। इसके अतिरिक्त इन्होंने गद्य-शैली के विकास के विचार से भी स्तुत्य कार्य किया। इस समय तक विशेष विशेष विषयों की शैलियाँ निश्चित नहीं हुई थीं। यों तो भाषा भाव के अनुकूल स्वभावतः हुआ ही करती है, परंतु आदर्श के लिये निश्चित स्वरूप उपस्थित करना आवश्यक होता है। यह कार्य द्विवेदीजी ने किया।

भाषा की विशुद्धता के विचार से द्विवेदीजी उदार विचार के कहे जायँगे। अपने भाव-प्रकाशन में यदि केवल दूसरी भाषा के शब्दों के प्रयोग से ही विशेष बल के आने की संभावना हो तो उचित है कि वे शब्द अवश्य व्यवहार में लाए जायँ। द्विवेदीजी साधारणतः हिंदी, उर्दू, अँगरेजी, आदि सभी भाषाओं के शब्दों को व्यवहार में लाते हैं। परंतु ऐसा वे स्थान स्थान पर उपयुक्तता के विचार से करते हैं। इसके अतिरिक्त उनका शब्द-चयन बड़ा शक्तिशाली और व्यवस्थित होता है। प्रत्येक शब्द शुद्ध रूप में लिखा जाता है, और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ठीक उसी अर्थ में जो अर्थ अपेक्षित रहता है। इनकी वाक्य-रचना भी विशुद्ध होती है। उसमें कहीं भी उर्दू ढंग का विन्यास न मिलेगा। शब्दों के अच्छे उपयोग और गठन से सभी वाक्य दृढ़ एवं भावप्रदर्शन में स्पष्ट होते हैं। छोटे छोटे वाक्यों में कांति तथा चमत्कार लाते हुए गूढ़ विषयों तक की सम्यक् अभिव्यंजना करना द्विवेदीजी के बाएँ हाथ का खेल है। इनके वाक्यों में ऐसी उठान और प्रगति दिखाई पड़ती है जिससे भाषा में वही बल पाया जाता है जो अभिभाषण में। पढ़ते समय एक प्रकार का प्रवाह दिखाई पड़ता है। उनके वाक्यों में शब्द भी इस प्रकार बैठाए जाते हैं कि यह स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि वाक्य के किस शब्द पर कितना बल देना उपयुक्त होगा; और वाक्य को किस प्रकार पढ़ने से उस भाव की व्यंजना होगी जो लेखक को अभिप्रेत है।

द्विवेदीजी के पूर्व के लेखकों को जब हम वाक्य-रचना एवं व्याकरण में अपरिपक्व पाते हैं तब उनमें वाक्य-सामंजस्य खोजना अथवा वाक्य-समूह का विभाजन तथा विन्यास देखना व्यर्थ ही है। एक विषय की विवेचना करते हुए उसके किसी अंग का विधान कुछ वाक्य-समूहों में और उस अंग के किसी एक अंश का विधान एक स्वतंत्र वाक्य-समूह में सम्यक् रूप से करना तथा इस विवेचन-परंपरा का दूसरे वाक्य-समूह की विवेचन-परंपरा के साथ सामंजस्य स्थापित करना द्विवेदीजी ने आरंभ किया। इस विचार से इनकी भाषा में सामंजस्य का सुंदर प्रसार पाया जाता है। इसी के साथ उसमें अनोखापन और चमत्कार आ गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम यह भी देखते हैं कि इनकी रचना में स्थान स्थान पर एक ही बात भिन्न भिन्न शब्दों में बार बार कही गई है। इससे भाव तो स्पष्टतया बोधगम्य हो जाता है पर कभी कभी एक प्रकार की विरक्ति सी होने लगती है। साधारणतः देखने से ही यह ज्ञात हो जाता है कि द्विवेदीजी ने आधुनिक गद्य-रचना को एक स्थिर रूप दिया है। इन्होंने उसका संस्कार किया; उसे व्याकरण और भाषा संबंधी भूलों से निवृत्त कर विशुद्ध किया और मुहावरों का चलती भाषा में सुंदरता से उपयोग कर उसमें बल का संचार किया। सारांश यह कि इन्होंने भाषा-शैली को एक नवीन रूप देने की पूर्ण चेष्टा की। उसको परिमार्जित, विशुद्ध एवं चमत्कारपूर्ण बनाकर भी व्यवहार-क्षेत्र के बाहर नहीं जाने दिया।

भाव-प्रकाशन के तीन प्रकार होते हैं—व्यंग्यात्मक, आलोचनात्मक और गवेषणात्मक। इन तीनों प्रकारों के लिये द्विवेदीजी ने तीन भिन्न भिन्न शैलियों का विधान रखा। इस प्रकार के कथन का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि इस प्रकार की शैलियाँ इनके पूर्व प्रयुक्त ही नहीं हुई थीं, वरन् विचार यह है कि उनको निश्चयात्मक रूप अथवा स्थिरता नहीं प्राप्त हुई थी। इन तीनों शैलियों की भाषा भी भिन्न प्रकार की है। भाव के साथ साथ उसमें भी अंतर उपस्थित हुआ है। यह स्वाभाविक भी है। इनकी व्यंग्यात्मक शैली की भाषा एकदम व्यावहारिक है। जिस भाषा में कुछ पढ़ी लिखी, अँगरेजी का थोड़ा बहुत ज्ञान रखनेवाली, साधारण जनता बातचीत करती है, उसी का उपयोग इस शैली में किया गया है। इसमें उछल कूद, वाक्य-सरलता, एवं लघुता के साथ साथ भाव-व्यंजन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की प्रणाली भी सरल पाई जाती है। भाषा इसकी मानो चिकोटी काटती चलती है। इसमें एक प्रकार का मसखरापन कूट कूटकर भरा रहता है। व्यंग्य भाव भी स्पष्ट समझ में आ जाता है।

"इस म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन (जिसे अब कुछ लोग कुरसीमैन भी कहने लगे हैं) श्रीमान् बूचा शाह हैं। बाप दादे की कमाई का लाखों रुपया आपके घर भरा है। पढ़े लिखे आप राम का नाम ही हैं। चेयरमैन आप सिर्फ़ इसलिये हुए हैं कि अपनी कारगुज़ारी गवर्नमेंट को दिखाकर आप रायबहादुर बन जायँ और ख़ुशामदियों से आठ पहर चौंसठ घड़ी घिरे रहें। म्युनिसिपैलिटी का काम चाहे चले चाहे न चले, आपकी बला से। इसके एक मेंबर हैं बाबू बख़्शिशराय। आपके साले साहब ने फ़ी रुपए तीन चार पंसेरी का भूसा (म्युनिसिपैलिटी को) देने का ठीका लिया है। आपका पिछला बिल १० हज़ार रुपए का था। पर कूड़ा-गाड़ी के बैलों और भैंसों के बदन पर सिवा हड्डी के मांस नज़र नहीं आता। सफ़ाई के इंसपेक्टर हैं लाला सतगुरुदास। आपकी इंसपेक्टरी के ज़माने में, हिसाब से कम तनख़्वाह पाने के कारण, मेहतर लोग तीन दफ़े हड़ताल कर चुके हैं। फ़ज़ूल ज़मीन के एक टुकड़े का नीलाम था। सेठ सर्वसुख उसके ३ हज़ार देते थे। पर उन्हें वह टुकड़ा न मिला। उसके ६ महीने बाद म्युनिसिपैलिटी के मेंबर पं० सत्यसर्वस्व के ससुर के साले के हाथ वही ज़मीन एक हज़ार पर बेंच दी गई।"

इस वाक्य-समूह के शब्द शब्द में व्यंग्य की झलक पाई जाती है। शब्दावली के संचय में भी कुशलता है; क्योंकि उनका यहाँ बल विशेष है। इसके उपरांत जब हम उनकी उस शैली के स्वरूप पर विचार करते हैं जिसका उपयोग उन्होंने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रायः अपनी आलोचनात्मक रचनाओं में किया है तो हमें ज्ञात होता है कि इसी भाषा को कुछ और गंभीर तथा संयत करके, उसमें से मसखरापन निकालकर उन्होंने एक सर्वांग नवीन रूप का निर्माण कर लिया है। भाषा का वही स्वरूप और वही मुहावरेदानी है परंतु कथन की प्रणाली आलोचनात्मक तथा तथ्यातथ्य-निरूपक होने के कारण उसमें गांभीर्य और ओज झलकता है। जैसे—

"इसी से किसी किसी का ख़याल था कि यह भाषा देहली के बाज़ार ही की बदौलत बनी है। पर यह ख़याल ठीक नहीं। भाषा पहले ही से विद्यमान थी और उसका विशुद्ध रूप अब भी मेरठ प्रांत में बोला जाता है। बात सिर्फ़ यह हुई कि मुसलमान जब यह बोली बोलने लगे तब उन्होंने उसमें अरबी-फ़ारसी के शब्द मिलाने शुरू कर दिए, जैसे कि आजकल संस्कृत जाननेवाले हिंदी बोलने में आवश्यकता से ज़ियादा संस्कृत शब्द काम में लाते हैं। उर्दू पश्चिमी हिंदुस्तान के शहरों की बोली है। जिन मुसलमानों या हिंदुओं पर फ़ारसी भाषा और सभ्यता की छाप पड़ गई है वे, अन्यत्र भी, उर्दू ही बोलते हैं। बस, और कोई यह भाषा नहीं बोलता। इसमें कोई संदेह नहीं कि बहुत से फ़ारसी-अरबी के शब्द हिंदुस्तानी भाषा की सभी शाखाओं में आ गए हैं। अपढ़ देहातियों ही की बोली में नहीं, किंतु हिंदी के प्रसिद्ध प्रसिद्ध लेखकों की परिमार्जित भाषा में भी अरबी-फ़ारसी के शब्द आते हैं। पर ऐसे शब्दों को अब विदेशी भाषा के शब्द न समझना चाहिए। वे अब हिंदुस्तानी हो गए हैं और उन्हें छोटे छोटे बच्चे और स्त्रियाँ तक बोलती हैं। उनसे घृणा करना या उन्हें निकालने की कोशिश करना वैसी ही उपहासास्पद बात है जैसी कि हिंदी से संस्कृत के धन, वन, हार और संसार आदि शब्दों को निकालने की कोशिश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करना है। अँगरेज़ी में हज़ारों शब्द ऐसे हैं जो लैटिन से आए हैं। यदि कोई उन्हें निकाल डालने की कोशिश करे तो कैसे कामयाब हो सकता है।''

अधिकांश रूप में द्विवेदीजी की शैली यही है। उनकी अधिक रचनाओं में एवं आलोचनात्मक लेखों में इसी भाषा का व्यवहार हुआ है। इसमें उर्दू के भी तत्सम शब्द हैं और संस्कृत के भी। वाक्यों में बल कम नहीं हुआ परंतु गंभीरता का प्रभाव बढ़ गया है। इस शैली के संचार में वह उच्छृंखलता नहीं है, वह व्यंग्यात्मक मसखरापन नहीं है जो पूर्व के अवतरण में था। इसमें शक्तिशाली शब्दावली में विषय का शिथिलतापूर्वक प्रतिपादन हुआ है; अतएव भाषा-शैली भी अधिक संयत तथा धारावाहिक हुई है। इसी शैली में जब वे उर्दू की तत्समता निकाल देते हैं और विशुद्ध हिंदी का रूप उपस्थित करते हैं तब हमें उनकी गवेषणात्मक शैली दिखाई पड़ती है। यों तो भाव के अनुसार भाव-व्यंजना में भी दुरूहता आ ही जाती है, परंतु द्विवेदीजी की लेखन-कुशलता एवं भावों का स्पष्टीकरण एकदम स्वच्छ तथा बोधगम्य होने के कारण सभी भाव सुलझी हुई लड़ियों की भाँति पृथक् पृथक् दिखाई पड़ते हैं। यों तो इस शैली में भी दो एक उर्दू के शब्द आ ही जाते हैं पर वे नहीं के बराबर हैं। इसकी भाषा और रचना-प्रणाली ही चिल्लाकर कहती है कि इसमें गंभीर विषय का विवेचन हो रहा है। परंतु द्विवेदीजी की साधारण शैली के अनुसार यह कुछ बनावटी अथवा गढ़ी हुई ज्ञात होती है। जैसे—

"अपस्मार और विक्षिप्तता मानसिक विकार या रोग हैं। उनका संबंध केवल मन और मस्तिष्क से है। प्रतिभा भी एक प्रकार का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनोविकार ही है। इन विकारों की परस्पर इतनी संलग्नता है कि प्रतिभा को अपस्मार और विक्षिप्तता से अलग करना और प्रत्येक का परिणाम समझ लेना बहुत ही कठिन है। इसी लिये प्रतिभावान् पुरुषों में कभी कभी विक्षिप्तता के कोई कोई लक्षण मिलने पर भी मनुष्य उनकी गणना बावलों में नहीं करते। प्रतिभा में मनोविकार बहुत ही प्रबल हो उठते हैं। विक्षिप्तता में भी यही दशा होती है। जैसे विक्षिप्तों की समझ असाधारण होती है अर्थात् साधारण लोगों की सी नहीं होती, एक विलक्षण ही प्रकार की होती है, वैसे प्रतिभावानों की भी समझ असाधारण होती है। वे प्राचीन मार्ग पर न चलकर नए नए मार्ग निकाला करते हैं; पुरानी लीक पीटना उनको अच्छा नहीं लगता। प्रतिभाशाली कवियों के विषय में किसी ने सत्य कहा है—

लीक लीक गाड़ी चलै लीकहि चलै कपूत।
बिना लीक के तीन हैं शायर, सिंह, सपूत॥

जिनकी समझ और जिनकी प्रज्ञा साधारण है, वे सीधे मार्ग का अतिक्रमण नहीं करते; विक्षिप्तों के समान प्रतिभावान् ही आकाश-पाताल फाँदते फिरते हैं। इसी से विक्षिप्तता और प्रतिभा में समता पाई जाती है।''

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी तक जितना हिंदी गद्य का विकास हो चुका था उसको देखने से यह स्पष्ट होता है कि साधारणतः भाषा में लचरपन नहीं रह गया था। उसमें प्रौढ़ता आ गई थी।

अंबिकादत्त व्यास

परंतु पंडित अंबिकादत्त व्यास ऐसे लेखक, अपवाद-स्वरूप, इस समय भी भाषा की प्राचीनता का आभास दे रहे थे। व्यासजी की भाषा में जो चलतापन और सारल्य था वह बड़ा आकर्षक था। वक्तृता की भाषा में जो एक प्रकार का बल विशेष पाया

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता है वह उसमें अधिकांश रूप में मिलता है। स्थान स्थान पर एक ही बात को वे पुनः इस प्रकार और इस विचार से दोहरा देते थे कि उसमें कुछ विशेष शक्ति उत्पन्न हो जाती थी। यह सब होते हुए भी उनमें त्रुटियाँ अधिक थीं, जो वस्तुतः भाषा की उस उन्नत अवस्था के मेल में न थीं जो उनके समय तक उपस्थित हो चुकी थी। वे अभी तक 'इनने', 'उनने', '...' (कर), 'सो' (अतः अथवा वह), 'रहैं', 'चाहैं', '...' इत्यादि का ही प्रयोग करते थे। 'तो' और 'भारी' की ऐसी अव्यवस्थित भरमार इन्होंने की है कि भाषा में गवाँरूपन और शिथिलता आ गई है। विरामादिक चिह्नों का भी व्यवहार वे उचित स्थान पर नहीं करते थे। "भगवान के शरण", "सूचना करने (देने) वाली", "दर्शन किए" भी लिखते थे। इसके अतिरिक्त स्थान स्थान पर विभक्तियों के भद्दे अथवा अव्यवहार्य प्रयोग प्रायः मिलते हैं। जैसे—'उसी को दिवाली अन्नकूट होता है' (उसी के लिये दिवाली में अन्नकूट होता है)। इतना ही नहीं, कहीं कहीं विभक्तियों को छोड़ भी जाते थे; जैसे—'उसी नाम ले' (उसी का नाम लेकर) इत्यादि। यह सब विचारकर यही कहा जा सकता है कि इनकी भाषा बड़ी भ्रामक हुई है। भ्रामक इस विचार से कि अपने समय का यह स्पष्ट बोध नहीं करा सकती। उसको पढ़कर यह कोई नहीं कह सकता कि यह उस समय की भाषा है जिस समय गद्य में प्रौढ़ता उत्पन्न हो चली थी। उनकी भाषा का छोटा सा अवतरण उपस्थित किया जाता है।

[क्रमशः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

:

साहित्य परिषद्

इस वर्ष साहित्य परिषद् का अधिवेशन सभाभवन में १० और ११ पौष १९८७ (तारीख २५ और २६ दिसंबर १९३०) को होगा जिसका कार्यक्रम नीचे दिया जाता है,—

पहले दिन २ बजे

(१) मंगल गान
(२) सभा के सभापति द्वारा आए हुए सज्जनों का स्वागत
(३) सभापति का चुनाव
(४) सभापति का भाषण
(५) पदक का वितरण
(६) लेखों का पढ़ा जाना
(७) मैजिक लालटैन के साथ संग्रहाध्यक्ष का व्याख्यान

दूसरे दिन २ बजे

(१) राष्ट्र भाषा का गान
(२) सभा के सभापति द्वारा सभा के कार्यों का संक्षिप्त विवरण
(३) संगीत कला पर व्याख्यान तथा संगीत
(४) लेखों तथा कविताओं का पाठ

माधवप्रसाद खन्ना
प्रधान मंत्री
नागरीप्रचारिणी सभा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी साहित्य सम्मेलन

के संबंध में काशी नागरीप्रचारिणी सभा की प्रबंध-समिति का १४ भाद्रपद १९८७ का निश्चय

हिंदी साहित्य सम्मेलन की घोरतर आर्थिक संकट संबंधी अपील उपस्थित की गई।

निश्चय हुआ कि (क) सभा को हिंदी साहित्य सम्मेलन की चिंताजनक आर्थिक स्थिति को जानकर अत्यंत दुःख हुआ है और वह उक्त सम्मेलन के कार्यकर्ताओं को विश्वास दिलाती है कि यदि वे किसी समय सम्मेलन के संचालन में किसी कारण से विशेष कठिनाई देखें तो यह सभा उसके कार्य का भार अपने ऊपर लेने और उसे सँभालने के लिये प्रयत्न कर सकती है। (ख) सभा हिंदी-प्रेमी जनता तथा हिंदी साहित्य सम्मेलन के सभासदों पर यह प्रगट कर देना आवश्यक समझती है कि वह उक्त सम्मेलन की जन्मदाता होने के कारण और हिंदी-भाषा-भाषियों की सहायता के भरोसे पर ही सम्मेलन की स्थिति तथा नाम को बनाए रखने में पूर्ण उद्योग करने के लिये उद्यत है।

माधवप्रसाद खन्ना
प्रधान मंत्री

Printed by A. Bose, at The Indian Press, Ltd, Benares-Branch.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

अर्थात्

प्राचीन शोधसंबंधी त्रैमासिक पत्रिका

[नवीन संस्करण]

भाग ११—अंक २

पुस्तक सं०................
आगत सं०..............
तिथि....................
गुरुकुल ... ...

संपादक

महामहोपाध्याय रा० ब० गौरीशंकर हीराचंद ओझा

—:※:—

काशी-नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

कार्तिक संवत् १९८७] [मूल्य प्रति संख्या २॥) रुपया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषयसूची

विषय पृ

९—हिंदी की गद्य-शैली का विकास [ले०—श्री जगन्नाथ-प्रसाद शर्मा एम० ए०, काशी] २५७

१०—आलोचना—

(३) बालकांड का नया जन्म [ले०—श्यामसुंदरदास बी० ए०] ३७६

(४) बाबू श्यामसुंदरदास-कृत "हिंदी भाषा और साहित्य" पर एक दृष्टि [ले०—रायबहादुर हीरालाल, बी० ए०] ३८१

सूचना

निम्नलिखित नई पुस्तकें छपकर प्रकाशित हो गई—

१—मैथिल कवि विद्यापति ठक्कर कृत कीर्तिलता [संपादक—बाबूराम सकसेना, एम० ए०]

२—अकबरी दर्बार (दूसरा भाग) [अनुवादक—रामचंद्र वर्म्मा]

३—कर्मवाद और जन्मांतर [अनुवादक—लल्लीप्रसाद पांडेय]

४—हिंदी-साहित्य का इतिहास [लेखक—रामचंद्र शुक्ल]

५—हिंदी-रसगंगाधर [लेखक—पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी]

६—रसखान और घनानंद [संपादक—अमीरसिंह]

छप रही हैं

१—मुँहणोत नैणसी की ख्यात (दूसरा भाग)।

२—बाँकीदास ग्रंथावली (दूसरा भाग)।

३—गणित की परिभाषा।

प्रकाशन-मंत्री

नागरीप्रचारिणी सभा,

काशी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"अब फिर उसी प्रश्न की परीक्षा कीजिए देखिए उसमें एक और कितनी बड़ी भारी भूल है। प्रश्न यह है कि "दूसरे के पूजन से दूसरे का संतोष कैसे" प्रश्नकर्त्ता का तात्पर्य ऐसा जान पड़ता है कि तुम पत्थर मिट्टी की पूजा करते हो इससे वह क्योंकर प्रश्न हो सकता है ? पर यह कैसी भूल है !! हम कभी पत्थर मिट्टी की पूजा नहीं करते किंतु पत्थर मिट्टी के आश्रय से उसी सच्चिदानंद परम पुरुषोत्तम की पूजा करते हैं। जिस प्राणप्यारे से मिलने की हमें जन्मजन्मांतर से प्यास चली आती है और जिसके बिना हमें जगत् कट्टर सा जान पड़ता है उसे हम सर्वव्यापक सुनते हैं। हम हाथ जोड़ सिर झुका प्रणाम करना चाहते हैं पर उस सर्वव्यापक को प्रणाम करने के लिये हमारे सिर और हाथ सर्वव्यापक हो नहीं सकते। हम जब सिर झुकावेंगे तो किसी एक ही दिशा की ओर झुकेगा और हाथ भी एक ही ओर जुड़ेगा तो क्या हम हकपकाकर चुप रह जायँ अथवा प्रणाम करें ? चुप रहने से तो भया बस नास्तिक के भी परदादा भए ईश्वर को माना जैसे न माना और सिर झुकाया तो आप ऐसे बुद्धि के अजीर्णवाले पुरुष कह उठेंगे कि आप तो दिक्पूजक हैं यदि हम ईश्वराय नमः कहेंगे तो आप कहेंगे कि आप तो ई-श्व-र इन अक्षरों के पूजक हैं। पर क्या सचमुच आप ऐसी टोंकटाँक कर सकते हैं ! कभी नहीं; क्योंकि संसार में कोई ऐसा है ही नहीं जो ईश्वर के प्रतिनिधि शब्दों के झमेले में न पड़ा हो। मूर्तिपूजा से हमारा तात्पर्य है कि किसी प्रतिनिधि के द्वारा ईश्वर का पूजन। हमारे आप के इतना ही भेद रहा कि—नाम रूप दो प्रतिनिधि होते हैं सो आप नाम प्रतिनिधि तक ही पहुँचे हम रूप प्रतिनिधि तक मानते हैं। और किसी मूर्ति को उसी का प्रतिनिधि मान मूर्ति के द्वारा उसी का पूजन करते हैं न कि दूसरे के पूजन से दूसरे को संतोष पहुँचाते हैं।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस अवतरण के पढ़ते ही यह स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि कोई तार्किक किसी विषय पर वाद-विवाद कर रहा है। तर्क और वाद-विवाद का यह रूप आर्य समाज के प्रचार से प्राप्त हुआ था। इस रूप का रंग हमें उस समय के उन सभी लेखकों में मिलता है जो विषय के खंडन-मंडन की ओर झुके थे। व्यासजी की सरल भाषा इस विषय में बड़ी बलिष्ठ थी। उनकी तर्कना शक्ति का प्रभाव उनकी भाषा में भी स्पष्ट रूप से झलक रहा है। यह सब होते हुए भी उनमें पंडिताऊपन इतना प्रचंड दिखाई पड़ता है कि कहीं कहीं बुरा ज्ञात होने लगता है। "ऐसा जान पड़ता है," "इससे वह क्योंकर प्रश्न हो सकता है", "तो भया नास्तिक के भी परदादा भए", "कहैंगे," "उठैंगे," "हमारे आपके इतना ही भेद रहा", "सो" इत्यादि पद अथवा शब्द केवल व्यासों की कथा-वार्ता में ही प्रयुक्त होने योग्य हैं, न कि गंभीर विषय के विवेचन में। वस्तुतः इस पंडिताऊपन के कारण व्यासजी की भाषा अपने समय से बहुत पूर्व की ज्ञात होती है। इतना ही नहीं वरन् उसमें एक प्रकार की शिथिलता पाई जाती है, जो उस समय की गद्योन्नति के प्रतिकूल थी। इस प्रकार की भाषा उस काल विशेष की प्रतिनिधि नहीं मानी जा सकती।

हिंदी गद्य की आलोचना करते हुए कोई भी लेखक बाबू देवकीनंदन खत्री को नहीं छोड़ सकता। इसलिये नहीं कि उन्होंने कोड़ी दो कोड़ी पुस्तकें हिंदी-साहित्य में उपस्थित की हैं; अथवा किसी ऐसी नवीन अनुभूति की आकर्षक व्यंजना की है कि हम वास्तव में नवीन कल्पना की अनुभूति से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यस्त हो जाते हैं अथवा इसलिये नहीं कि उन्होंने अपना पाठक-जगत् निर्माण किया अथवा साहित्य के एक अंग की पुष्टि की, वरन् इसलिये कि उन्होंने एक ऐसी चलती एवं व्यावहारिक भाषा का उद्घाटन किया कि साधारण से साधारण जनता भी उनकी रचनाओं के पढ़ने में आकृष्ट हो गई। यह उनकी भाषा की बोध-गम्यता थी जिसने अपढ़ लोगों में भी यह विचार उत्पन्न कर दिया कि यदि वे हिंदी की वर्णमाला सीख लें तो उन्हें मनोरंजन का बहुत सा मसाला मिल सकता है। भाषा का ऐसा चलता और सुबोध रूप वास्तव में इनके पूर्व नहीं उपस्थित हुआ था। इनकी भाषा शैली में हिंदी उर्दू का अपूर्व सम्मेलन हुआ है। यह लेखक की सफल कुशलता है। इनकी भाषा उपन्यास-लेखन की परंपरा में रामचरितमानस का कार्य करती है। हिंदी उर्दू का इतना मिला जुला रूप उपस्थित करने में खत्रीजी ने उत्कृष्ट प्रतिभा का परिचय दिया है। इन्होंने हिंदी और उर्दू के शब्दों को ठीक उसी रूप में प्रयुक्त किया है जिसमें कि वे साधारण बोलचाल में आते हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि इनकी रचनाओं की भाषा हम लोगों के नित्य व्यवहार की भाषा जान पड़ती है। इसके अतिरिक्त इन्होंने, आवश्यकता पड़ने पर, स्वाभाविकता के विचार से, अँगरेजी के शब्दों का भी यथास्थान व्यवहार किया है; जैसे—'फ़िलासफ़र', 'कमीशन', 'हिस्ट्री', 'मिस्टरी', 'लाफ़िंग ग्यास' इत्यादि। यह सब कुछ इन्होंने भाषा को चलतापन देने के लिये ही किया है। इस विषय में प्रमाण स्वरूप इन्हीं का कथन हम उपस्थित करते हैं—"जो हो भाषा के

देवकीनंदन खत्री

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय में हमारा वक्तव्य यही है कि वह सरल हो और नागरी वर्णों में हो। क्योंकि जिस भाषा के अक्षर होते हैं, उनका खिंचाव उन्हीं मूल भाषाओं की ओर होता है जिनसे उनकी उत्पत्ति हुई है।" "किसी दार्शनिक ग्रंथ वा पात्र की भाषा के लिये यदि किसी को कोष टटोलना पड़े तो कुछ परवाह नहीं; परंतु साधारण विषयों की भाषा के लिये भी कोष की खोज करनी पड़े तो निःसंदेह दोष की बात है।"

भाषा को सरल बनाते बनाते इन्होंने भी स्थान स्थान पर व्याकरण की अनेक अशुद्धियाँ की हैं। ये भूलें केवल प्रमाद वश हुई हों ऐसी बात नहीं है। वास्तव में वे भाषा व्याकरण की अज्ञानता के कारण हुई हैं। जैसे—"बड़े खुशी की बात है", "गुरुजी ने मुझे जो कुछ ऐयारी सिखाना था सिखा चुके", "अपने भाषा को", "कवियों के दृष्टि में" इत्यादि। इसके अतिरिक्त उनकी रचनाओं में अधिकतर "हैं" (हो), "के" (कर), "होवेगे" (होगे), "सो" (यह), "सों" (से), "करके" मिलता है। "अस्तु" का प्रयोग बिना किसी प्रयोजन के ही हुआ है। इस प्रकार की त्रुटियाँ या तो इस लिये हुई हैं कि ये बोलचाल की प्रगति को अधिक स्थान देना चाहते हैं अथवा उस समय तक गद्य-साहित्य का जो विकास हुआ था उससे ये कुछ दूर थे।

यह सब होते हुए भी इनकी भाषा में न तो किसी प्रकार की जटिलता है और न भाव-प्रकाशन-प्रणाली में कोई क्लिष्टता ही। किसी भी बात को ये सीधे-साधे रूप में ही लिखने में निपुण थे। उनके वाक्य भी सरल और छोटे-छोटे होते थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी भाव को घुमा-फिराकर कहना अथवा रचना-चमत्कार दिखाना इनके विचार के विरुद्ध था। इनकी लेखनी का सीधापन देखिए—

"कुछ दिन की बात है कि मेरे कई मित्रों ने संवादपत्रों में इस विषय का आंदोलन उठाया था कि 'इसका (संतति) कथानक संभव है कि असंभव'। मैं नहीं समझता कि यह बात क्यों उठाई और बढ़ाई गई। जिस प्रकार पंचतंत्र और हितोपदेश बालकों की शिक्षा के लिये लिखे गए उसी प्रकार यह लोगों के मनोविनोद के लिये, पर यह संभव है कि असंभव इस पर कोई यह समझे कि चंद्रकांता और वीरेंद्रसिंह इत्यादि पात्र और उनके विचित्र स्थानादि सब ऐतिहासिक हैं तो बड़ी भारी भूल है। कल्पना का मैदान बहुत विस्तृत है और यह उसका एक छोटा सा नमूना है। अब रही संभव और असंभव की बात अर्थात् कौन सी बात हो सकती है और कौन सी नहीं हो सकती? इसका विचार प्रत्येक पुरुष की योग्यता और देश-काल-पात्र से संबंध रखता है। कभी ऐसा समय था कि यहाँ के आकाश में विमान उड़ते थे, एक एक वीर पुरुषों के तीरों में यह सामर्थ्य थी कि क्षण मात्र में सहस्रों पुरुषों का संहार हो जाता, पर अब वह बातें खाली पौराणिक कथा समझी जाती हैं। पर दो सौ वर्ष पहले जो बातें असंभव थीं आजकल विज्ञान के सहारे वे सब संभव हो रही हैं। रेल, तार, बिजली आदि के कार्यों को पहले कौन मान सकता था? और फिर यह भी है कि साधारण लोगों की दृष्टि में जो असंभव है कवियों के दृष्टि में भी वह असंभव ही रहे, यह कोई नियम की बात नहीं है। संस्कृत साहित्य के सर्वोत्तम उपन्यास कादंबरी की नायिका युवती की युवती ही रही पर उसके तीन जन्म हो गए। तथापि कोई बुद्धिमान् पुरुष इसको

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दोषावह न समझकर गुणाधायक ही समझेगा। चंद्रकांता में त्र बातें लिखी गई हैं वे इसलिये नहीं कि लोग उसकी सच्चाई झुठाई की परीक्षा करें प्रत्युत इसलिये कि उसका पाठ कौतूहलवर्धक हो।"

इस अवतरण में तो कुछ संस्कृत की तत्समता का प्राबल्य आ गया है। यह स्वाभाविक है; क्योंकि यहाँ खत्रीजी अपने विराट् उपन्यास के घेरे से बाहर आकर अपने सिद्धांत का प्रतिपादन कर रहे हैं। उनके उपन्यासों की साधारण भाषा इससे भी सरल है। वस्तुतः उनकी वह भाषा इस योग्य नहीं होती थी कि उसमें तथ्यातथ्य का गवेषणात्मक विवेचन हो सके। यों तो इस अवतरण की भाषा विशेष का विचार कर आशा की जा सकती है कि यदि अन्य विषयों पर भी वे कुछ लिखते तो संभव है अच्छा लिखते; परंतु यदि हम केवल उनके उपन्यासों की भाषा पर ही ध्यान दें तो यह निर्विवाद मान लेना पड़ेगा कि वह भाषा गंभीर विचारों के प्रदर्शन के अयोग्य थी। उसमें किसी घटना का वर्णन भली भाँति हो सकता है; और वही हुआ भी है। यही कारण है कि उन्हें सफलता अच्छी मिली है।

किशोरीलाल गोस्वामी

इसी समय पंडित किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों का प्रकाशन हो रहा था। जिस प्रकार खत्रीजी सरल और व्यावहारिक भाषा के पक्षपाती थे उसी प्रकार गोस्वामीजी संस्कृत की तत्समतामय उत्कृष्ट शब्दावली के। "गोस्वामीजी संस्कृत के अच्छे जानकार, साहित्य के मर्मज्ञ तथा हिंदी के पुराने कवि और लेखक हैं" अत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनकी भाषा भी उसी प्रकार संस्कृत एवं साहित्यिक है। जिस स्थान पर उन्होंने संस्कृत की जानकारी और साहित्य की मर्मज्ञता प्रकट की है वहाँ उनकी भाषा में उत्कृष्टता तो अवश्य उत्पन्न हो गई है परंतु उसी के साथ उसकी व्यावहारिकता लुप्त भी हो गई है। इस स्थान पर उनकी साहित्यिक सेवा का विवेचन अथवा हिंदी साहित्य में उनका स्थान-निर्दर्शन अभिप्रेत नहीं। इस विचार से तो उनका स्थान बड़े महत्त्व का है। परंतु यदि हम केवल उनकी भाषागत अथवा शैली की विशेषताओं की आलोचना सम्मुख रखें तो यह स्पष्ट विदित हो जायगा कि उनका कहीं पता भी नहीं। उनकी कोई भाषा विशेष है अथवा नहीं इस विषय पर संदेह किया जा सकता है। इसके दो कारण हैं—एक तो यह कि उनकी भाव-व्यंजना में कोई वैयक्तिकता तथा चमत्कार नहीं पाया जाता और दूसरी बात यह है कि उनके हिंदू और मुसलमान दोनों बनने की असंगत इच्छा ने बना बनाया खेल भी चौपट कर दिया।

उनकी—"रज़िया बेगम' और "मल्लिकादेवी" की—दोनों भाषाओं को पढ़कर कोई भी निश्चयात्मक रूप से विवेचन नहीं कर सकता कि इन दोनों में से कौन गोस्वामीजी की प्रतिनिधि भाषा है। उनके 'रज़िया बेगम' नामक उपन्यास की भाषा एकदम लचर है। "उर्दू ज़बान और शेर सखुन की बेढंगी नक़ल से, जो असल से कभी कभी साफ़ अलग हो जाती है, उनके बहुत से उपन्यासों का साहित्यिक गौरव घट गया है।" यदि वे उर्दूदानी दिखाने के विचार से अपनी लेखनी न उठाते तो अवश्य ही उनकी भाषा में क्रमशः वैयक्तिकता

पुस्तकालय गुरुकुल कांगड़ी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का अभ्युदय होता। इस अवस्था में दो भिन्न भिन्न शैलियों का रूप सम्मुख देखकर उनकी भाषा का कोई रूप स्थिर करना अनुचित होगा। परंतु इतना मान लेने में कोई आपत्ति नहीं दिखाई पड़ती कि जिस स्थान पर उनकी भाषा उपन्यास के संकुचित क्षेत्र से अलग थी वह स्वच्छ और चमत्कारपूर्ण बनी रही। स्थान स्थान पर मुहावरेदार होने के कारण उसमें कुछ विशेषता अवश्य आ गई है; परंतु सब मिलाकर वह इतनी बलवती नहीं हो सकी है कि गोस्वामीजी के लिये एक स्वतंत्र स्थान निर्माण करे। बाबू देवकीनंदनजी की कथात्मक भाषा-शैली से यह अधिक साहित्यिक है, इसमें कोई संदेह नहीं। इसमें विचारात्मक भावनाओं का प्रकाशन अपेक्षाकृत अधिक दिव्यता से हो सकता है। यही कारण है कि उन्होंने चरित्र-चित्रण और घटना का मनोरम रूप से वर्णन इस भाषा में अच्छा किया है। उन उपन्यासों में जहाँ उन्होंने शुद्ध हिंदी का निर्वाह किया है इन बातों का विवेचन अच्छा दिखाई पड़ेगा, और उनके उपन्यासों के बाहर की भाषा कुछ अधिक चलती और धारावाहिक हुई है। जैसे—

"भारतवर्ष में सदा से सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी राजाओं का राज्य जब तक स्वाधीन भाव से चला आया, तब तक इस देश में सरस्वती और लक्ष्मी का पूरा-पूरा आदर रहा, ब्राह्मणों के हाथ में विधि थी, क्षत्रियों के हाथ में खड्ग था, वैश्यों के हाथ में वाणिज्य था, और शूद्रों के हाथ में सेवा धर्म था; किंतु जब से यह क्रम बिगड़ने लगा ऐक्य के स्थान में फूट ने अपना पैर जमाया और सभी अपने कर्त्तव्य से च्युत होने लगे, देश की स्वतंत्रता भी ढीली पड़ने लगी और बाहरवालों को ऐसे अवसर में अपना मतलब गाँठ लेना सहज हो गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"लाखों बरस अर्थात् सृष्टि के आदि से यह (भारतवर्ष) स्वाधीन और सारे भूमंडल पर आधिपत्य करता आया था, पर महाभारत के पीछे यहाँवालों की बुद्धि कुछ ऐसी बिगड़ गई और आपस के फूट के कारण जयचंद ने ऐसा चौका लगाया कि सदा के लिये यह गुलामी की जंजीर से जकड़ दिया गया, जिससे अब इसका छुटकारा पाना कदाचित् कठिन ही नहीं वरन् असंभव भी है।"

पद्य की छाप गद्य पर स्पष्ट पड़ती है। पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय का गद्य इस बात का साक्षी है। गद्य लिखते समय भी उपाध्यायजी का धारा-प्रवाह वस्तुतः पद्यात्मक ही रहता है। पद्य की सी ही लहर, शब्द-संगठन, भावभंगी एवं माधुर्य उनके गद्य में भी मिलता है। गद्यात्मक सौष्ठव का ह्रास और पद्यात्मक विभूति की उत्कृष्टता इनके गद्य में स्पष्ट दिखाई पड़ती है। इनका गद्य पढ़ते समय काव्यात्मक प्रतिभा का वह चमत्कार, शाब्दिक बाहुल्य का वह भंडार और भाव-निदर्शन की वह विशिष्टता प्राप्त होती है जो कि साधारणतः सामान्य कवियों में भी नहीं दिखाई पड़ती। यही कारण है कि "कभी कभी वे बड़े असाधारण क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग करते हैं।" इसके अतिरिक्त भाव-व्यंजना का प्रकार भी कहीं कहीं इतना पद्यात्मक हो जाता है कि उसे गद्य कहना भ्रमात्मक ज्ञात होता है। परंतु इतना होते हुए भी उनके भावद्योतन में शैथिल्य नहीं दिखाई पड़ता।

अयोध्यासिंह उपाध्याय

कुछ लोगों का कहना है कि "इस प्रकार के गद्य में साधारण विषयों की व्यंजना नहीं हो सकती।" यदि साधारण विषयों से भूगोल तथा इतिहास ऐसे विषयों का तात्पर्य है तो यह कहना समीचीन ज्ञात होता है; क्योंकि इतिवृत्तात्मक

३४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कथानक के लिखने में काव्यात्मक व्यंजना का जितना ही अधिक हो उतना ही अच्छा है। इसके अतिरिक्त जो लोग इनके गद्य में पंडित रामचंद्र शुक्ल की विशिष्टताएँ चाहते हैं वे भी अन्याय करते हैं। उपाध्यायजी में शब्द-बाहुल्य एवं वाक्य-विस्तार अधिक दिखाई पड़ता है जो कि शुक्लजी के ठीक विपरीत है, परंतु इसके लिये उपाध्यायजी को दोषी नहीं ठहराया जा सकता, क्योंकि दोनों लेखकों के दो भिन्न भिन्न मार्ग और विचार हैं। शुक्लजी विषय-प्रतिपादन में अधिक सतर्क रहते हैं और गागर में सागर भरते हैं। इसी में उन्हें अच्छी सफलता मिली है। उनके शब्द और वाक्य-समूह भाव-गांभीर्य से आक्रांत रहते हैं परंतु उपाध्यायजी में ऐसी बात नहीं दिखाई पड़ती। उनका भाव-निदर्शन अधिक काल्पनिक एवं साहित्यिक होता है। उसमें गद्यात्मक गठन भले ही न हो, परंतु मिठास और काव्यात्मक ध्वनि इतनी रहती है कि पाठक उधर ही आकृष्ट हो जाता है। इस ध्वनि विशेष के कारण ही उनमें आलंकारिकता तथा सानुप्रासिकता अधिक स्थानों में दिखाई पड़ती है, और कथन-प्रणाली विस्तृत होती है। निम्नलिखित गद्यांश में ये बातें स्पष्ट दिखाई पड़ेंगी—

"कहते व्यथा होती है कि कुछ कालोपरांत हमारे ये दिन नहीं रहे— हममें प्रतिकूल परिवर्तन हुए और हमारे साहित्य में केवल शांत और शृंगार रस की धारा प्रबल वेग से बहने लगी। शांत रस की धारा ने हमको आवश्यकता से अधिक शांत और उनके संसार की असारता के राग ने हमें सर्वथा सारहीन बना दिया। शृंगार रस की धारा ने भी हमारा अल्प अपकार नहीं किया। उसने भी हमें कामिनी-कुल-शृंगार का लोलुप बनाकर समुन्नति के समुच्च शृंग से अवनति के विशाल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गर्त में गिरा दिया। इस समय हम अपनी किंकर्तव्यविमूढ़ता, अकर्मण्यता, अकर्मपटुता को साधुता के परदे में छिपाने लगे—और हमारी विलासिता, इंद्रिय-परायणता, मानसिक मलिनता भक्ति के रूप में प्रकट होने लगी। इधर निराकार की निराकारिता में रत होकर कितने सब प्रकार बेकार हो गए और उधर आराध्यदेव भगवान् वासुदेव और परम आराधनीया श्रीमती राधिका देवी की आराधना के बहाने पावन प्रेम-पंथ कलंकित होने लगा। न तो लोकपावन भगवान् वासुदेव लौकिक प्रेम के प्रेमिक हैं, न तो वंदनीया वृषभानु-नंदिनी कामनामयी प्रेमिका, न तो भुवन-अभिराम वृंदावन धाम अवैध विलास-वसुंधरा है, न कलकल-वाहिनी कलिंद-नंदिनी-कूल कामकेलि का स्थान। किंतु अनधिकारी हाथों में पड़कर वे वैसे ही चित्रित किए गए हैं। कतिपय महात्माओं और भावुक जनों को छोड़कर अधिकांश ऐसे अनधिकारी ही हैं, और इसलिये उनकी रचनाओं से जनता पथ-च्युत हुई। केहरिपली के दुग्ध का अधिकारी स्वर्ण-पात्र है, अन्य पात्र उसको पाकर अपनी अपात्रता प्रकट करेगा। मध्यकाल से लेकर इस शताब्दी के प्रारंभ तक का ही हिंदी साहित्य उठाकर आप देखें वह केवल विलास का क्रीड़ा-क्षेत्र और काम-वासनाओं का उद्गार मात्र है। संतों की बानी और कतिपय दूसरे ग्रंथ जो हिंदू जाति का जीवनसर्वस्व, उन्नायक और कल्पतरु है, जो आदर्श चरित्र का भंडार और सद्भाव-रत्नों का रत्नागार है, जो आज दस करोड़ से भी अधिक हिंदुओं का सत्पथ-प्रदर्शक है, यदि वह है तो रामचरितमानस है, और वह गोस्वामीजी के महान् तप का फल है।"

इस प्रकार के गद्यांशों में साहित्यिक छटा के अतिरिक्त भाषा-गांभीर्य भी पर्याप्त दिखाई पड़ता है। इस प्रकार की रचनाओं के बीच जब कभी 'करके', 'होवे' और 'होता होवे' इत्यादि शब्दों का प्रयोग दिखाई देता है तो पंडिताऊपन की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुर्गंध आने लगती है। परंतु यह सब होते हुए भी भाषा में शैथिल्य नहीं होने पाता।

उपाध्यायजी ने केवल साहित्यिक गद्य की ही रचना की हो ऐसी बात नहीं है। साधारण जनता के लिये ठेठ भाषा के निर्माण में भी वे सफल हुए हैं। इसके प्रमाण उनका 'ठेठ हिंदी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' नामक उपन्यास हैं। इसमें जिस ठेठ भाषा का प्रयोग हुआ है वह वस्तुतः ग्राम्य जीवन के उपयुक्त है। इसके अतिरिक्त इधर कुछ दिनों से वे मुहाविरेदार पद्य और गद्य का निर्माण कर रहे हैं। उसमें एक प्रकार की सजीवता विशेष दिखाई पड़ती है। कहीं कहीं तो सारी भाव-व्यंजना ही मुहावरों में हुई है। ऐसे स्थानों पर भाषा गठित और भाव-व्यंजना आकर्षक हुई है। इन स्थानों पर भाषा में साहित्यिकता और गांभीर्य न होकर एक प्रकार की चटपटी उछल-कूद दिखाई पड़ती है। उसकी व्यंजनात्मक शक्ति ही निराली है। जैसे—

"हम आसमान के तारे तोड़ना चाहते हैं, मगर काम आँख के तारे भी नहीं देते। हम पर लगाकर उड़ना चाहते हैं, मगर उनके से पाँव भी नहीं उठते। हम पालिसी पर पालिश करके उसके रंग को छिपाना चाहते हैं, पर हमारी यह पालिसी हमारे बने हुए रंग को भी बदरंग कर देती है। हम राग अलापते हैं मेल-जोल का, मगर न जाने कहाँ का खटराग पेट में भरा पड़ा है। हम जाति जाति को मिलाने चलते हैं, मगर ताब अछूतों से आँख मिलाने की भी नहीं। हम जाति-हित की तानें सुनाने के लिये सामने आते हैं, मगर ताने दे दे कलेजा छलनी बना देते हैं। हम कुल हिंदू जाति को एक रंग में रँगना चाहते हैं, मगर जाति जाति के अपनी अपनी डफली और अपने अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राग ने रही सही एकता को भी धता बता दिया है। हम चाहते हैं देश को उठाना, पर आप मुँह के बल गिर पड़ते हैं। हमें देश की दशा सुधारने की धुन है, पर आप सुधारने पर भी नहीं सुधरते। हम चाहते हैं जाति की कसर निकालना, मगर हमारे जी की कसर निकाले भी नहीं निकलती। हम जाति को ऊँचे उठाना चाहते हैं, पर हमारी आँख ऊँची होती ही नहीं। हम चाहते हैं जाति को जिलाना, मगर हमें मर मिटना आता ही नहीं।"

माधव मिश्र

इन प्रतिनिधि लेखकों के बीच में अब दो लेखक ऐसे उपस्थित किए जाते हैं जिनका नाम अधिक प्रसिद्ध नहीं है। जिन लोगों ने इनकी रचना-शैली की विशेषता पर विशेष ध्यान नहीं दिया है उन लोगों को संभवतः ज्ञात भी न होगा कि पंडित माधव मिश्र और सरदार पूर्णसिंहजी भी कोई अच्छे लेखक थे। इन दोनों लेखकों ने इने गिने लेख लिखे हैं परंतु उन लेखों में उनका व्यक्तित्व अंतर्निहित है। इन लोगों की कुछ विशेषताएँ ऐसी थीं जिनका आभास और किसी की रचना में हम नहीं पाते। इनके थोड़े से लेखों के पढ़ने से ही ज्ञात हो जाता है कि यदि लेखक बराबर अपने निकाले पथ पर चलते तो भाषा की वह दिव्यता दिखाते कि एक बार पढ़नेवाले चकपकाकर दंग रह जाते।

पंडित माधव मिश्र की रचना में चमत्कार का बड़ा ही आकर्षक रूप है। इनकी भाषा बड़ी सतर्क हुई है। स्थान स्थान पर क्रमागत भावोदय का सुंदर चित्र मिलता है। ये अपने प्रतिपाद्य विषय का उत्थान बड़ी गंभीरता और शक्ति के साथ करते थे। इनकी वाक्य-रचना में बड़ा ओज और बड़ी प्रकाशन-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शक्ति है। कुछ वाक्य-समूह इस प्रकार ग्रथित मिलते हैं कि उनमें एक ही ढंग का उतार चढ़ाव पाया जाता है। इससे वाक्य-विन्यास और भी चमत्कारपूर्ण हुआ है। इसी वाक्य-विन्यास के कारण इनकी भाषा-शैली में धारा-प्रवाह का एक बँधा रूप दिखाई पड़ता है। वाक्य-समूह के प्रथम वाक्य से यदि पढ़ना आरंभ किया जाय तो जब तक अंत तक न पहुँचें रुकते नहीं बनता; और यदि रुकें तो यह स्पष्ट ज्ञात होगा कि विषय अपूर्ण रह गया है। इस धारावाहिक प्रगति के कारण इनकी रचना में एक वैचित्र्य पाया जाता है जिसे हम वैयक्तिकता कह सकते हैं। शब्द-चयन के विचार से हम यह कह सकते हैं कि इनका झुकाव अधिक संस्कृत तत्सम-मता की ओर था। भाषा संस्कृत-बहुला होने पर भी ऊबड़-खाबड़ नहीं होने पाई है। वह बड़ी ही संस्कृत, संयत एवं सुष्ठु हुई है। इस प्रकार की भाषा में किसी गहन विषय का अच्छा विवेचन तथा प्रतिपादन हो सकता है। इसके अतिरिक्त इनकी भाषा इनकी आंतरिक भावनाओं का इतना मार्मिक चित्र उपस्थित करती है कि शब्दावली से स्पष्ट हो जाता है कि लेखक के हृदय में भावावेश की कैसी प्रबलता है। जिस स्थान पर इनके हृदय में करुणात्मक भावोदय का आरंभ होता है वहाँ भाषा में भी एक प्रकार की कारुणिक ज्योति उत्पन्न हो जाती है। जिस स्थान पर हृदय में क्रोध का आवेश रखकर वे लिखते हैं वहाँ की भाषा में भी कुछ उग्रता झलकती है। जैसे—"निरंकुशता और धृष्टता आजकल ऐसी बढ़ी है कि निरर्गलता से ऐसी मिथ्या बातों का प्रचार किया जाता है। इस भ्रांत मत का प्रचार करनेवाले यदि वेबर साहब यहाँ होते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो हम उन्हें दिखाते कि जिसका वे अपनी विषदग्धा लेखनी से जर्मनी में वध कर रहे हैं वह भारतवर्ष में व्यापक और अमर हो रहा है।"

उनकी गद्य-शैली में प्रधान चमत्कार नाटकत्व का है। इस नाटकत्व और वक्तृता की भाषा में विशेष अंतर न मानना चाहिए। श्रोता किसी विषय को सुनकर अधिक प्रभावित हो, केवल इस विचार से एक ही बात को, इधर उधर कई प्रकार से, कई वाक्यों में कहा जाता है। "राम नाम ही अब केवल हमारे संतप्त हृदय को शांतिप्रद है और राम नाम ही हमारे अंधे घर का दीपक है," "यही डूबते हुए भारतवर्ष का सहारा है और यही अंधे भारत के हाथ की लकड़ी है" इत्यादि वाक्यांशों में वक्तृतामय कथन का आभास स्पष्ट मिलता है। इतना ही नहीं, कथन की यही प्रवृत्ति कभी कभी बड़े विस्तार में उपस्थित होती है। सारांश यह कि मिश्रजी की भाषा बड़ी प्रौढ़, ओजस्विनी, परिमार्जित एवं सतर्क हुई है; उसमें उत्कृष्टता और ओज का अच्छा सम्मेलन है; नाटकत्व और वक्तृत्व का स्थिर सामंजस्य पाया जाता है। एक छोटे से अवतरण से इनकी सारी विशेषताएँ देख ली जा सकती हैं।

"आर्य वंश के धर्म-कर्म और भक्ति-भाव का वह प्रबल प्रवाह—जिसने एक दिन बड़े बड़े सन्मार्ग-विरोधी भूधरों का दर्प दलन कर उन्हें रज में परिणत कर दिया था—और इस परम पवित्र वंश का वह विश्वव्यापक प्रकाश—जिसने एक समय जगत् में अंधकार का नाम तक न छोड़ा था—अब कहाँ है ?......जो अपनी व्यापकता के कारण प्रसिद्ध था, अब उस प्रवाह का प्रकाश भारतवर्ष में नहीं है, केवल उसका नाम ही अवशिष्ट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रह गया है। कालचक्र के बल, विद्या, तेज, प्रताप आदि सब का चकनाचूर हो जाने पर भी उनका कुछ-कुछ चिह्न व नाम बना हुआ है, यही डूबते हुए भारत का सहारा है और यही अंधे भारत के हाथ की लकड़ी है।

"जहाँ महा महा महीधर ढुलक जाते थे और अगाध अतल-स्पर्शी जल था, वहाँ अब पत्थरों में दबी हुई एक छोटी सी सुशीतल वारिधारा बह रही है जिससे भारत के विदग्ध जनों के दग्ध हृदय का यथाकथंचित् संताप दूर हो रहा है। जहाँ के महा प्रकाश से दिक् दिगंत उद्भासित हो रहे थे, वहाँ अब एक अंधकार से घिरा हुआ स्नेहशून्य प्रदीप टिमटिमा रहा है जिससे कभी कभी भूभाग प्रकाशित हो रहा है। पाठक ! जरा विचार कर देखिए, ऐसी अवस्था में यहाँ कब तक शांति और प्रकाश की सामग्री स्थिर रहेगी ? यह किससे छिपा हुआ है कि भारतवर्ष की सुख शांति और भारतवर्ष का प्रकाश अब केवल 'राम नाम' पर अटका है। राम नाम ही अब केवल हमारे संतप्त हृदय को शांतिप्रद है और राम नाम ही हमारे अंधे घर का दीपक है।"

मिश्रजी की भाँति सरदार पूर्णसिंह अध्यापक की भी रचना बहुत कम है। परंतु कम होना असामर्थ्य का प्रमाण नहीं; क्योंकि कुछ लोग ऐसे होते हैं कि लिखते तो बहुत कम हैं परंतु उतने में ही अपनी उद्भावना शक्ति एवं प्रतिभा का पूर्ण परिचय दे देते हैं। अध्यापकजी भी इसी प्रकार के लेखकों में से हैं। लिखा तो इन्होंने बहुत कम है परंतु जो कुछ लिखा है,—जितने लेख इनके संगृहीत हैं, उनसे यह बात स्पष्ट है कि अध्यापकजी कितनी सुंदर एवं प्रौढ़ रचना कर सकते थे। उनकी लेखनी ने कुछ अंशों में

पूर्णसिंह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आजकल की एक विशेष प्रवृत्ति का आभास दिया था। आजकल जो भाषा पांडेय बेचन शर्मा एवं अन्यान्य गल्प-लेखकों में पाई जाती है, जिसमें एक साधारण बात कहकर उसके जोड़तोड़ के सैकड़ों वाक्य उपस्थित कर दिए जाते हैं, वही उनकी साधारण रचनाओं में मिलती है। इस प्रणाली के अनुसरण से एक लाभ यह हुआ कि उनकी भाषा अधिक आकर्षक और चमत्कृत हो गई है। जैसे—"इस सभ्यता के दर्शन से कला, साहित्य और संगीत की अद्भुत सिद्धि प्राप्त होती है। राग अधिक मृदु हो जाता है। विद्या का तीसरा शिव-नेत्र खुल जाता है, चित्रकला मौन राग अलापने लग जाती है, वक्ता चुप हो जाता है, लेखक की लेखनी थम जाती है, मूर्ति बनानेवाले के सामने नए कपोल, नए नयन और नवीन छवि का दृश्य उपस्थित हो जाता है।" इसके अतिरिक्त इन्होंने अपनी भावनाओं को प्रायः रहस्यमय रूप में व्यक्त किया है। रहस्यमय रूप का तात्पर्य केवल इतना ही है कि शब्द-चयन में जो चमत्कारिक वैलक्षण्य है वह तो है ही, भाव-व्यंजना भी अनूठी और दूर तक बढ़ी हुई है। "नाद करता हुआ भी मौन है," "मौन व्याख्यान," "हृदय की नाड़ी में सुंदरता पिरो देता है," "तारागण के कटाक्षपूर्ण प्राकृतिक मौन व्याख्यान का" इत्यादि वाक्यांशों में विशेषण और विशेष्य के विरोधाभास का विलक्षण प्रकार मिलता है। शब्दचयन का यह प्रकार और निर्जीव में सजीवता का आभास इनकी रचना में विशेष आकर्षण उपस्थित करता है।

अध्यापक जी की गद्य-शैली की इस एकांत उत्कृष्टता के बीच-बीच में व्यंग्यात्मक दृष्टांतों के आ जाने से एक रुचिकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और आकर्षक रूप उपस्थित हो गया है। "यह वह आम का पेड़ नहीं है जिसको मदारी एक क्षण में तुम्हारी आँखों में धूल झोंक अपनी हथेली पर जमा दे" अथवा "पुस्तकों के लिखे नुसख़ों से तो और भी बदहज़मी हो जाती है। सारे वेद पुराण और शास्त्र भी यदि घोलकर पी लिए जायँ तो भी आदर्श आचरण की प्राप्ति नहीं हो सकती", अथवा "परंतु अँगरेजी भाषा का व्याख्यान—चाहे वह कारलायल ही का लिखा हुआ क्यों न हो—बनारस के पंडितों के लिये रामरौला ही है। इसी तरह न्याय और व्याकरण की बारीकियों के विषय में पंडितों के द्वारा की गई चर्चाएँ और शास्त्रार्थ संस्कृत-ज्ञान-हीन पुरुषों के लिये स्टीम इंजिन के फप्-फप् शब्द से अधिक अर्थ नहीं रखते।"

इन वाक्यों में कथन की चमत्कारिक प्रणाली का अच्छा उदाहरण मिल सकता है। मिश्रजी की भाँति इनका भी झुकाव भाषा की विशुद्धता की ओर अधिक था। जैसा कि साधारणतः अन्य लेखकों में पाया जाता है कि कथानक के वर्णन करने की भाषा सरल एवं अधिक चलती होती है और विचार-प्रकाशन की कुछ अधिक क्लिष्ट और प्रचंड; उसी प्रकार इनकी लेखन-प्रणाली में भी अंतर रहता है। जिस स्थान पर सीधे-सादे कथानक का वर्णन करना है वहाँ वाक्य भी सरल, स्पष्ट तथा अपेक्षाकृत छोटे हुए हैं। जैसे—

"एक दफे एक राजा जंगल में शिकार खेलते खेलते रास्ता भूल गया। उसके साथी पीछे रह गए। घोड़ा उसका मर गया। बंदूक हाथ में रह गई। रात का समय आ पहुँचा। देश बर्फानी, रास्ते पहाड़ी। पानी बरस रहा है। रात अँधेरी है। ओले पड़ रहे हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ठंढी हवा उसकी हड्डी तक को हिला रही है। प्रकृति ने, इस घड़ी, इस राजा को अनाथ बालक से भी अधिक बे-सरो-सामान कर दिया। इतने में दूर एक पहाड़ी की चोटी के नीचे टिमटिमाती हुई बत्ती की लौ दिखाई दी। कई मील तक पहाड़ के ऊँचे-नीचे उतार-चढ़ाव को पार करने से थका हुआ, भूखा, और सर्दी से ठिठुरा हुआ राजा उस बत्ती के पास पहुँचा। यह एक गरीब पहाड़ी किसान की कुटी थी। इसमें किसान, उसकी स्त्री और उनके दो-तीन बच्चे रहते थे। किसान शिकारी राजा को अपने झोपड़े में ले गया। आग जलाई। उसके वस्त्र सुखाए। दो मोटी मोटी रोटियाँ और साग आगे रक्खा। उसने खुद भी खाया और शिकारी को भी खिलाया। ऊन और रीछ के चमड़े के नरम और गरम बिछौने पर उसने शिकारी को सुलाया। आप बे-बिछौने की भूमि पर सो रहा। धन्य है तू, हे मनुष्य! तू ईश्वर से क्या कम है! तू भी तो पवित्र और निष्काम रचा का कर्त्ता है। तू भी आपन्न जनों का आपत्ति से उद्धार करनेवाला है।"

परंतु जिस स्थान पर कुछ विवेचना की आवश्यकता पड़ी है, कुछ गंभीरता अपेक्षित हुई है वहाँ आपसे आप भाषा भी कुछ क्लिष्ट हो गई है और वाक्यों की लघुता भी लुप्त हो गई है। इसके अतिरिक्त कहीं कहीं तो वाक्य-रचना की दुरूहता के कारण रुककर सोचने विचारने की आवश्यकता पड़ती है। छोटे छोटे वाक्यों में लिखते लिखते अकस्मात् हम देखते हैं कि एक वाक्य इस प्रकार का उपस्थित हो जाता है जो स्वाभाविक गति को रोक देता है। एकाएक इस क्लिष्टता और दुरूहता के कारण भाषा का अधिकार हलका दिखाई पड़ने लगता है और एक प्रकार की अस्वाभाविकता सी जान पड़ने लगती है। इतना ही नहीं, कहीं कहीं पर विभक्तियों की भरमार के कारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषा के प्रवाह में रुकावट भी आ गई है। जैसे—"उन सब को जाति के आचरण के विकाश के साधनों के संबंध में विचार करना होगा।" भाव की दुरूहता का प्रभाव वाक्य-रचना में और भावभंगी में स्पष्ट दिखाई देता है—

"अपने जन्म जन्मांतरों के संस्कारों से भरी हुई अंधकारमय कोठरी से निकलकर ज्योति और स्वच्छ वायु से परिपूर्ण खुले देश में जब तक अपना आचरण अपने नेत्र न खोल सका हो तब तक धर्म के गूढ़ तत्त्व कैसे समझ में आ सकते हैं।" "आचरण के विकाश के लिये नाना प्रकार की सामग्री का जो संसार-संभूत, शारीरिक, प्राकृतिक, मानसिक और आध्यात्मिक जीवन में वर्तमान है, उन सब का क्या एक पुरुष और क्या एक जाति के—आचरण के विकाश के साधनों के संबंध में, विचार करना होगा।" "मानसोत्पन्न शरदृतु के क्लेशातुर हुए पुरुष इसकी सुगंधमय अटल वसंत ऋतु के आनंद का पान करते हैं।"

भाषा भाव की अनुरूपिणी होती है। जैसा विषय होता है वैसी ही भाषा भी आवश्यक होती है। इसके लिये लेखक को चेष्टा नहीं करनी पड़ती। यह बहुत कुछ स्वाभाविक होता है। बहुत दिनों

श्यामसुंदरदास

तक कथा कहानी उपन्यास नाटक एवं अन्य प्रकार के साधारण विषयों का ही प्रणयन होता रहा। साधारण से मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि ऐसे विषयों का लिखना अत्यंत सरल है, वरन मेरा अभिप्राय केवल यह है कि इनमें घटनाओं का सीधा-सादा वर्णन रहता है। सीधे सीधे किसी विषय का विवरण देना अथवा कथानक उपस्थित करना अपेक्षाकृत उतना कठिन कार्य नहीं है। इस समय तक भाषा में जितनी प्रौढ़ता वर्तमान है उसका आश्रय लेकर इन विषयों का विवरण देना अधिक दुरूह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं। कोई समय ऐसा था कि कथा-कहानियों का लिखना भी बड़ी बात माननी पड़ती थी; परंतु आज भाषा का साम्राज्य पर्याप्त रूप से विस्तृत हो चुका है और अनेक प्राचीन विषयों की पुनरावृत्ति एवं नवीन विषयों का समारंभ हो चला है। इस समय यदि भाषा की प्रौढ़ता तथा उद्भावना-शक्ति की परीक्षा करनी हो तो हमें उन रचनाओं की ओर दृष्टिपात करना आवश्यक होगा जो वस्तुतः इस काल की संपत्ति हैं और जिन पर अभी तक कुछ विशेष नहीं लिखा गया है।

नवीन विचार-धारा को व्यक्त करने के लिये भाषा का कोई नया ढंग पकड़ना पड़ता है। ऐसी अवस्था में लेखक के उत्तरदायित्व की परिधि अत्यंत विस्तृत हो जाती है। उसे भाषा में कुछ विशेष विधान उपस्थित करना पड़ता है। उसके लिये भावों का नियंत्रण आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त उसका यह कर्त्तव्य होता है कि भाव-व्यंजना का वह ऐसा सरल रूप सम्मुख रखे जिसका आश्रय लेकर पाठक उन नवीन विषयों की सम्यक् अनुभूति कर सके।

इस प्रकार के लेखक का उत्तरदायित्व बड़ी महत्ता का होता है। बाबू श्यामसुंदरदासजी इसी प्रकार के लेखकों में हैं। उन्हें भाषा को व्यापक बनाना पड़ा है, क्योंकि जिन विषयों पर उन्हें लिखना था उन विषयों का अभी तक हिंदी-साहित्य में जन्म ही नहीं हुआ था, उन्हें लिखकर समझाने का अवसर ही नहीं आया था। इसके अतिरिक्त उन्हें इस बात का विशेष ध्यान रखना पड़ा है कि विषय का भली भाँति निदर्शन हो—और वह निदर्शन भी इतनी सरलता से हो कि नवीन पाठक ठिकाने से उन्हें समझ लें। यही कारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि उनकी शैली में हम उन्हें एक ही विषय को बार बार समझाते हुए पाते हैं। इसके अतिरिक्त स्थान स्थान पर "सारांश यह है" कहकर पुनः प्रतिपाद्य विषय को एकत्र करने की वे चेष्टा करते हैं। यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि लिखते समय लेखक इस विषय में अधिक सचेष्ट है कि कहीं भावों की व्यंजनात्मक शक्ति का क्रमशः ह्रास ते नहीं हो रहा है। यदि किसी स्थान पर उसे इस बात की आशंका हुई है तो वह पुनः, यथा-अवसर, विषय को अधिक स्पष्ट एवं व्यापक बनाने में तत्पर रहा है। यही कारण है कि कहीं कहीं एक ही बात दुहराकर लिख दी गई है।

यों तो इनकी रचना में साधारणतः उर्दू के अधिक प्रचलित शब्द अवश्य आए हैं; जैसे–खाली, दिल, बंद, कैदी, तूफान इत्यादि, परंतु इससे यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकाला जा सकता कि पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की भाँति इन्हें भी दोरंगी दुनिया पसंद है। इन शब्दों के प्रयोग में भी—यह तो निर्विवाद ही है कि—इन्होंने सदैव तद्भव रूप का व्यवहार किया है। इसमें यह आशय गुप्त रूप में वर्तमान है कि इन शब्दों को अपनी भाषा में हड़प लिया जाय। इस विषय में, उन्होंने अपना विचार स्पष्ट लिखा है—"जब हम विदेशी भावों के साथ विदेशी शब्दों को ग्रहण करें तो उन्हें ऐसा बना लें कि उनमें से विदेशीपन निकल जाय और वे हमारे अपने होकर हमारे व्याकरण के नियमों से अनुशासित हों। जब तक उनके पूर्व उच्चारण को जीवित रखकर, हम उनके पूर्व रूप, रंग, आकार, प्रकार को स्थायी बनाए रहेंगे, तब तक वे हमारे अपने न होंगे और हमें उनको स्वीकार करने में सदा खटका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा अड़चन रहेगी।" उन्होंने उर्दू के अधिकाधिक प्रचलित शब्दों का ही व्यवहार किया है और वह भी इतना न्यून कि संस्कृत की तत्समता की धूमधाम में उनका पता भी नहीं लगता। यह धूमधाम क्लिष्टता की बोधक कदापि नहीं हो सकती जैसा कि कुछ उर्दू-मिश्रित भाषा का व्यवहार करने-वालों का विचार है। इनकी संस्कृत तत्समता में अव्या-वहारिक एवं समासांत पदावली का उपयोग नहीं पाया जाता। साथ ही व्यर्थ का शब्दाडंबर भी विशेष नहीं मिलता। इनकी भाषा इस बात का उदाहरण हो सकती है कि हिंदी भाषा के शब्द-विधान में भी कितनी उत्कृष्टता तथा विशदता है। शैली साधारणतः संगठित तथा व्यवस्थित पाई जाती है। इसके अतिरिक्त उसमें एक धारावाहिक प्रवाह भी मिलता है। शैली का यह प्रावाहिक रूप उन स्थानों पर विशेषतः पाया जाता है जहाँ किसी विचार का प्रतिपादन होता है। ऐसे स्थानों पर भाषा कुछ क्लिष्ट—परंतु स्पष्ट और बोधगम्य—वाक्य साधारण विचार से कुछ बड़े—परंतु गठन में सीधे-सादे, भाव-व्यंजना विशद—परंतु सरल और व्यापक हुई है। इसके अतिरिक्त विषय प्रतिपादन के बीच बीच में यदि आवश्यकता पड़ी है तो उन्होंने "जैसे" का प्रयोग कर उसे स्पष्ट बनाने का भी आयोजन किया है। जैसे—

"हिंदी-साहित्य का इसिहास ध्यानपूर्वक पढ़ने से यह विदित होता है कि हम उसे भिन्न भिन्न कालों में ठीक ठीक विभक्त नहीं कर सकते हैं। उस साहित्य का इतिहास एक बड़ी नदी के प्रवाह के समान है जिसकी धारा उद्गम-स्थान में तो बहुत छोटी होती है पर आगे बढ़कर और छोटे छोटे टीलों या पहाड़ियों के बीच में पड़ जाने पर वह अनेक धाराओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में बहने लगती है। बीच बीच में दूसरी छोटी छोटी नदियाँ कहीं तो आपस में दोनों का संबंध करा देती हैं और कहीं कोई धारा प्रबल वेग से बहने लगती है और कोई मंद गति से। कहीं खनिज पदार्थों के संसर्ग से किसी धारा का जल गुणकारी हो जाता है और कहीं दूसरी धारा के गँदले पानी या दूषित वस्तुओं के मिश्रण से उसका जल अशुद्ध हो जाता है। सारांश यह कि जैसे एक ही उद्गम से निकलकर एक ही नदी अनेक रूप धारण करती है और कहीं पीनकाय तथा कहीं क्षीणकाय होकर प्रवाहित होती है और जैसे कभी कभी जल की एक धारा अलग होकर सदा अलग ही बनी रहती और अनेक भूभागों में होकर बहती है वैसे ही हिंदी साहित्य का इतिहास भी आरंभिक अवस्था से लेकर अनेक धाराओं के रूप में प्रवाहित हो रहा है। प्रारंभ के कवि लोग स्वतंत्र राजाओं के आश्रित होकर उनके कीर्तिगान में लगे और देश के इतिहास को कविता के रूप में लिखते रहे। समय के परिवर्तन से साहित्य की यह स्थूल धारा क्रमशः क्षीण होती गई, क्योंकि उसका जल खिँचकर भगवद्भक्ति रूपी धारा, रामानंद और वल्लभाचार्य के अवरोध के कारण दो धाराओं में विभक्त होकर, राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति के रूप में परिवर्तित हो गई। फिर आगे चलकर केशवदास के प्रतिभा-प्रवाह ने इन दोनों धाराओं के रूप को बदल दिया। जहाँ पहले भाव-व्यंजना या विचारों के प्रत्यक्षीकरण पर विशेष ध्यान रहता था, वहाँ अब साहित्य शास्त्र के अंग-प्रत्यंग पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। राम-भक्ति की धारा तो तुलसीदासजी के समय में खूब ही उमड़ चली। उसने अपने अमृतोपम भक्तिरस के द्वारा देश को आप्लावित कर दिया और उसके सामने मानव जीवन का सजीव आदर्श उपस्थित कर दिया।"

शैली के विचार से दासजी में एक और विशेषता है; वह भी उपर्युक्त अवतरण से स्पष्ट हो जाती है। कोई भी विषय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कितना ही कठिन क्यों न हो यदि लेखक सरल प्रणाली का अनुसरण करे तो अपनी प्रतिभा से अपने विषय को शीघ्र बोधगम्य बना सकता है। यही बात हम इस अवतरण में भी पाते हैं। विषय को अत्यंत सरल रूप में सम्मुख उपस्थित करना दासजी भली भाँति जानते हैं। एक साधारण रूपक बाँधकर उन्होंने अपने विषय को अधिक व्यापक बना दिया है। इससे विषय स्पष्ट ही नहीं वरन् शैली रोचक हो गई है। उनका विचार है कि विरामादिक चिह्नों का अधिक प्रयोग व्यर्थ है, और यही कारण है कि उनकी रचनाओं में उनका प्रयोग कम हुआ है। ऊपर दिया हुआ अवतरण उस स्थान का है जहाँ पर एक साधारण विषय का प्रतिपादन हो रहा था। एक तो विषय अपेक्षाकृत सरल था और दूसरी बात यह थी कि उसका प्रतिपादन किया जा रहा था, अतएव भाषा का प्रवाह स्वभावतः चलता और धारावाहिक था। परंतु इस प्रकार की भाषा और उसका प्रवाह सर्वत्र एक सा नहीं मिलेगा। इस बात का समर्थन स्वतः उन्होंने किया है—"जो विषय जटिल अथवा दुर्बोध हों, उनके लिये छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग ही सर्वथा वांछनीय है।" "सरल और सुबोध विषयों के लिये यदि वाक्य अपेक्षाकृत कुछ बड़े भी हों तो उनसे उतनी हानि नहीं होती।" इसी सिद्धांत का अनुसरण उनकी उन रचनाओं में हुआ है जहाँ पर उन्हें किसी जटिल विषय का गवेषणात्मक विवेचन एवं तथ्यातथ्य का निरूपण करना पड़ा है। ऐसे स्थानों में उनके वाक्य अपेक्षाकृत अवश्य छोटे हुए हैं, भाषा अधिक विशुद्ध एवं कुछ क्लिष्ट हुई है। जैसे—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"भाषा विज्ञान ने जातियों के प्राचीन इतिहास अर्थात् उनकी सभ्यता के विकास का इतिवृत्त उपस्थित करने में बड़ी अमूल्य सहायता दी है। पुरातत्व तो प्राप्त भौतिक पदार्थों अथवा उनके अवशेषांशों के आधार पर ही केवल प्राचीन समय का इतिहास उपस्थित करता है। प्राचीन जातियों के मानसिक विकास का ब्योरा देने में वह असमर्थ है। भाषा विज्ञान इस अभाव की भी पूर्ति करता है। मानसिक भावों या विचारों संबंधी शब्दों में उनका पूरा पूरा इतिहास भरा पड़ा है; और उनके आधार पर हम यह जान सकते हैं कि प्राचीन समय में किस जाति के विचार कैसे थे; वे ईश्वर आत्मा आदि के संबंध में क्या सोचते या समझते थे; उनकी रीति नीति कैसी थी तथा उनका गार्हस्थ्य, सामाजिक, धार्मिक, या राजनीतिक जीवन किस श्रेणी या किस प्रकार का था। सारांश यह कि भाषा विज्ञान ने पुरातत्व के साथ मिलकर प्राचीन जातियों के भौतिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास का एक प्रकार से पूरा पूरा इतिहास उपस्थित कर दिया है।"

अथवा—

"यह बात स्पष्ट है कि मानव-समाज की उन्नति उस समाज के अंतर्भूत व्यक्तियों के सहयोग और साहचर्य से होती है; पर इस सहयोग और साहचर्य का साफल्य तभी संभव है जब परस्पर भावों या विचारों के विनिमय का साधन उपस्थित हो। भाषा ही इसके लिये मूल साधन है और इसी की सहायता से मानव-समाज की उन्नति हो सकती है। अतएव भाषा का समाज की उन्नति के साथ बड़ा घनिष्ठ संबंध है; यहाँ तक कि एक के बिना दूसरे का अस्तित्व ही संभव नहीं। पर यहीं उनके संबंध के साफल्य की इतिश्री भी नहीं होती। दोनों साथ ही साथ चलते हैं। समाज की उन्नति के साथ भाषा की उन्नति और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषा की उन्नति के साथ समाज की उन्नति होती रहती है। इसलिये हम कह सकते हैं कि उनका अन्योन्याश्रय संबंध है।"

उपर्युक्त गद्यांश की शैली में भाषा के बलिष्ठ रूप की एक सफल प्रतिभा है। इस प्रतिभा को हम वैयक्तिकता का नाम नहीं दे सकते, यह बात ठीक है; किंतु इसमें गवेषणात्मक विवेचना का बोधगम्य स्वरूप अवश्य उपस्थित किया गया है। "गंभीर बातों पर लिखते समय बड़े अभ्यस्त लेखक को भी शाब्दिक सारल्य से हाथ धोना पड़ता है और उसे सीधे संस्कृत से जटिल शब्द लाकर रखने पड़ते हैं।" उर्दू ऐसे गंभीर विषयों की ओर बहुत नहीं बढ़ सकी है, अतएव उस भाषा के शब्दों की ओर देखना ही व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त उसकी कोई आवश्यकता भी नहीं। इस समय तक हिंदी गद्य ने इतनी प्रौढ़ और उन्नतिशील उन्नति कर ली है कि उसमें उत्कृष्ट विषयों के खंडन-मंडन एवं प्रतिपादन के लिये पर्याप्त सामर्थ्य आ गया है। इसी उन्नति की परिचायक दासजी की भाषा है। उसमें सानुप्रासिक वर्ण-मैत्री का सुंदर और आकर्षक रूप भी मिलता है; उसमें भविष्य की वह महत्वाकांक्षा सन्निविष्ट है जिसके वशीभूत होकर साहित्य-संसार में नित्य वैज्ञानिक एवं आलोचनात्मक ग्रंथों का प्रणयन बढ़ता ही जायगा।

बाबू श्यामसुंदरदास की रचना-शैली के ठीक विपरीत गुलेरीजी की रचना-शैली है। दासजी की भाषा-शैली साहित्यिक एवं साधारण व्यवहार से परे है और गुलेरीजी की नितांत स्पष्ट, सरल एवं व्यावहारिक है। उनकी भावभंगी उत्कृष्ट और इनकी चटपटी

चंद्रधर गुलेरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। उनकी शब्दावली में संस्कृत की छाप और वाक्य-विन्यास में विस्तार है; परंतु इनकी शब्दावली चलती, सरल और विशिष्टतापूर्ण है तथा वाक्य-विन्यास आकर्षक, गठित और मुहावरेदार है। इनके इतिवृत्त की कथन-प्रणाली में भी विभिन्नता है। दासजी इस विचार से अधिक आलंकारिक एवं साहित्यिक हैं और गुलेरीजी मुहावरे पर जान देनेवाले और व्यंग्यपूर्ण हैं। इन विभिन्नताओं का प्रधान कारण है दोनों लेखकों का, साहित्यिक रचना का, उद्देश्य। दोनों दो भिन्न विषयों के लेखक हैं। दासजी के विषय अधिकांश में साहित्यिक आलोचना और भाषा-विज्ञान के हैं और गुलेरीजी प्रधानतः सामयिक विषयों पर लिखते थे। उन सामयिक विषयों में आलोचना, इतिहास और समाज-सुधार के प्रश्न विशेषतः आते हैं। कार्यक्षेत्र एक रहने पर भी दोनों लेखकों के मार्ग सर्वथा भिन्न भिन्न हैं।

गुलेरीजी की रचना-शैली की प्रधानता उसकी व्यावहारिकता में है। उनकी शैली में विचित्र चलतापन है। किसी विषय को सीधी-साधी भाँति सम्मुख उपस्थित करके, विषय का प्रतिपादन करते समय छोटे छोटे और स्पष्ट वाक्यों की आकर्षक मालिका गूँथकर, उसमें मुहावरों के उपयुक्त और सामयिक व्यवहार करके वे जान डाल देना भली भाँति जानते थे। किसी विषय को रोचक बनाने के विचार से वे स्थान स्थान पर उर्दू पदावली का प्रयोग करते थे। इसके अतिरिक्त अँगरेजी शब्दों का व्यवहार भी विशेष ध्यान देने योग्य है। कहीं कहीं तो ये शब्द व्यावहारिक और नित्य बोलचाल में आनेवाले हैं; जैसे—पब्लिक, पालिश और मेंबर इत्यादि,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और कहीं कहीं वे क्लिष्ट, अव्यावहारिक एवं जटिल हैं; जैसे—assumed, dramatic, necessity, conference, Provisional Committee, presentiment और telepathy इत्यादि। इस प्रकार के शब्दों के साधारण व्यवहार से स्थान स्थान पर वाक्यों की बोधगम्यता नष्ट हो जाती है और प्रधानतः उस समय जब पाठक अँगरेजी भाषा का ज्ञाता नहीं है। अन्य भाषा के अव्यावहारिक शब्दों के प्रयोग से अपनी भाषा की असमर्थता प्रकट होती है।

गुलेरीजी संस्कृत भाषा और साहित्य के अच्छे ज्ञाता थे। यह बात उनके गंभीर लेखों से स्पष्ट हो जाती है। जिस समय वे अपने विषय का सतर्क प्रतिपादन करते हुए पाए जाते हैं तब उनकी भाषा परिमार्जित तथा प्रौढ़ ज्ञात होती है। वहाँ उनका साहित्यिक मसखरापन भाव की विशुद्धता से आक्रांत रहता है। यही कारण है कि उस समय की भाषा-शैली में स्वच्छता, वाक्य-विन्यास में संगठन और शब्द-समूह में परिष्कृति दिखाई देती है। उनके गंभीर विषयों पर लिखे गए लेखों की भाषा प्रायः संस्कृत-बहुला है। इस संस्कृत का संस्कार उनके क्रिया-शब्दों पर अधिक पड़ा। उन्होंने प्रायः 'करैं', 'रहैं', 'चाहैं,' 'कहैंगे', 'सुनावैंगे', 'निल्हाया', 'कहलावैं', 'कहलवाते हैं', 'जिनने', 'बेर', 'खैंच' और 'दीखते' इत्यादि का प्रयोग किया है। इस प्रकार के प्रयोगों में अशुद्धि भले ही न हो परंतु पंडिताऊपन अवश्य झलकता है। इस संस्कार का प्रभाव वाक्य-विन्यास और कथन-प्रणाली पर भी पड़ा है। जैसे—"ऋषि (सुकन्या से) बोला 'बाले! हम सब एक साथ दिखाई देते हुए निकलेंगे, तू तब मुझे इस चिह्न से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहचान लेना।' 'वे सब ठीक एकाकार दीखते हुए स्वरूप में अति सुंदर होकर निकले।'

यह सब होते हुए भी उनकी गंभीर रचनाओं में बल है, प्रतिभा है और एक प्रकार का विचित्र आकर्षण है। अपने विषय-प्रतिपादन की क्षमता उनमें अपूर्व थी। ऐसे अवसरों पर वे बड़े बलिष्ठ और अर्थ-गंभीर शब्दों का प्रयोग बहुतायत से करते थे। जैसे—

"प्रथम तो काशी से सामाजिक परिषद् को उड़ाने का जो यत्न किया जा रहा है वह अनर्गल, इति-कर्त्तव्यता-शून्य, उपेक्ष्य और एकदेशी है। इसका प्रधान उद्देश्य मालवीयजी को अपदस्थ करना है और गौण उद्देश्य कुछ आत्मंभरि लोगों की तिलक बनने की लालसा है। युक्तप्रांत में बहुत से लोगों को तिलक बनने की लालसा जग पड़ी है परंतु चाहे वे त्रिवेणी में गोता खावें, चाहे त्रिलोकी घूम आवें, चाहे उन पर न्यायालयों में घृणित से घृणित अभियोग लग जावें, वे तिलक की षोड़शी कला को भी नहीं पा सकते। वर्ष भर तक यार लोग चुप रहे। काशी में सामाजिक परिषद् की स्वागतकारिणी में सुधाकरजी और राममिश्रजी दो महामहोपाध्याय भी चुने गए, वर्ष भर कुछ विरोध नहीं किया। ये लोग भी ताने मारते अवसर तकते रहे। परंतु जब पंडित मालवीयजी के धर्ममहोत्सव का विज्ञापन निकला तो मनुष्य-दुर्बलता से सुप्त अभिमान जाग उठा और सामाजिक परिषद् का होना मालवीयजी के सिर रक्खा गया। क्या हिंदुओं में मालवीयजी का मान ऐसे कच्चे तागे पर है जो यों कम हो सकता है! माना कि सामाजिक परिषद् हिंदू सिद्धांतों की विद्या तक और इसी लिये निष्फल भी है, परंतु उसके न कराने का यत्न क्या उस निंदनीय जलाने बहाने के ज्वर के समान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं है जो डेढ़ दो वर्ष पहले हिंदी साहित्य पर चढ़ा था? यदि विरोधियों का उत्तर उनका मुँह बंद करना ही है तो क्यों "बंदे मातरम्" गाने की मनाई के लिये मि० फुलर का शासन बदनाम किया जाता है? यह भी कथन विकृत है कि सामाजिक परिषद् के नेता "अपनी विकृत वासनाओं को पूरा करने के लिये अपने सुधार या दुर्धार चाहते हैं।" उद्देश्य में भेद हो चाहे न हो, काम के ज्ञान और मार्ग में भेद है, इसलिये वासनाएँ विकृत बताना बड़ी भारी भूल है। न्यायमूर्ति रानाडे या चंदावर्कर प्रभृति के व्यक्तिगत आचरण इतने उज्वल हैं कि छिद्रान्वेषी निगाह उनकी झलक से झँप जाती है और किसी भी समाज-सुधारक का चरित्र इतना कलुषित न होगा, जितना एक पंजाबी धर्म-व्यवसायी का, सच्चे झूठे, लोमहर्षण रीति से, प्रकट हुआ था! परंतु स्वयं कुछ करना नहीं और और लोग अग्रसर हों तो सोशयल कांफ्रेंस न रोकने का दोष उनके मत्थे! खंडन करो, विरोध करो, परंतु स्थान मात्र पर से कांफ्रेंस को हटाकर क्या तुम तिलक बन सकते हो?"

उनके संस्कृत-ज्ञान ने केवल शब्द के व्यावहारिक स्वरूपों और वाक्यों के सामूहिक विन्यास पर ही रंग नहीं जमाया है वरन् भाव-व्यंजना के उपयोग में भी उसी का बोलबाला है। इतिवृत्त के निवेदन में स्थान स्थान पर प्राचीन वैदिक एवं पौराणिक पदों और प्रमाणों का प्रयोग इन्होंने अधिक किया है। उनके इस प्रसंग-गर्भत्व का आनंद उस पाठक को कदापि प्राप्त नहीं हो सकता जिसको उसके जड़ मूल का पता न हो। बात कहते कहते वे एक ऐसे विषय का वर्णन करेंगे जिसका सीधा संबंध नैयायिकों से होगा। उस रोचकता का महत्व वह पाठक कदापि न समझेगा जिसने न्याय शास्त्र का अध्ययन नहीं किया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथवा उस संबंध-विशेष का उसे ज्ञान नहीं है। इसी प्रसंग-गर्भत्व को अँगरेजी भाषा में Allusiveness कहते हैं। जैसे—"यह उस देश में जहाँ कि सूर्य का उदय होना इतना मनोहर था कि ऋषियों का यह कहते कहते तालू सूखता था कि सौ बरस इसे हम उगता देखें, सौ बरस सुनें, सौ बरस बढ़ बढ़कर बोलें, सौ बरस अदीन होकर रहें—सौ बरस ही क्यों सौ बरस से भी अधिक। भला जिस देश में बरस में दो ही महीने घूम फिर सकते हों और समुद्र की मछलियाँ मारकर नमक लगाकर सुखाकर रखना पड़े कि दस महीने के शीत और अँधियारे में क्या खायँगे, वहाँ जीवन से इतनी ग्लानि हो तो समझ में आ सकती है—पर, जहाँ राम के राज में 'अकृष्टपच्या पृथिवी पुटके पुटके मधु' बिना खेती किए फसलें पक जायँ और पत्ते पत्ते में शहद मिले, वहाँ इतना वैराग्य क्यों?" लिखते लिखते यदि प्रसंग आया तो वे अपना वैदिक ज्ञान प्रकट करने में चूके नहीं। यहाँ तो प्रसंग के कारण एक विशेष अवांतर उपस्थित किया गया है! इस प्रकार के अवांतरों एवं प्रासंगिक कथाओं से उनके लेख भरे पड़े हैं। इनसे यह स्पष्ट विदित होता है कि लेखक अध्ययन-शील तथा उदात्त पंडित है! पाठकों को यदि किसी स्थान पर इन अवांतरों के प्रासंगिक रूप का ज्ञान न हो सका तो लेख का वह भाग उनके लिये प्रायः निरर्थक ही समझना चाहिए। परंतु जिसने उसका वास्तविक प्रसंग-गर्भत्व समझा वह उसका पूर्ण आनंद भी उठाता है।

साहित्यिक एवं ऐतिहासिक लेखों के अतिरिक्त गुलेरीजी ने अनेक सामाजिक तथा आलोचनात्मक लेख भी लिखे हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन लेखों की भाषा-शैली सर्वथा भिन्न है। ऐसे लेखों के लिखते समय उनमें एक चुलबुलाहट विशेष दिखाई पड़ती थी। भाव-व्यंजना अत्यंत रोचक और आकर्षक, वाक्य-विन्यास में सरलता और संगठन, तथा शब्द-चयन में विशेष सतर्कता और सामयिकता दिखाई पड़ती है। इन स्थानों पर मुहावरों का इतना सुंदर निर्वाह मिलता है कि कहीं कहीं तो उनकी लड़ी सी गुथी दिखाई पड़ती है। इन्हीं मुहावरों पर सारा खेल आश्रित रहता है। भाषा के मुहावरेदार होने के अतिरिक्त वाक्यों का विस्तार इतना कम और इतना गठित रहता है कि उसमें एक मनोहर आकर्षण मिलता है। जैसे—'वकौल शेक्सपियर के जो मेरा धन छीनता है वह कूड़ा चुराता है, पर जो मेरा नाम चुराता है वह सितम ढाता है। आर्य-समाज ने वह मर्मस्थल पर मार की है कि कुछ कहा नहीं जाता। हमारी ऐसी चोटी पकड़ो है कि सिर नीचा कर दिया, औरों ने तो गाँठ का कुछ न दिया, इन्होंने अच्छे अच्छे शब्द छीन लिए। इसी से कहते हैं 'मारेसि मोहिं कुठाउँ'। अच्छे अच्छे पद तो यों सफाई से लिए हैं कि इस पुरानी जमी हुई दूकान का दिवाला निकल गया !! लेने के देने पड़ गए !!!"

उनकी इस भाषा-शैली में अकृत्रिम वैयक्तिकता है। प्रधानतः उनके सभी सामाजिक और आलोचनात्मक लेख इसी प्रकार की शैली में लिखे गए हैं। इन लेखों की भाषा स्पष्ट और मिश्रित है। वाक्य विस्तार में प्रायः छोटे हैं। कथन-प्रणाली अधिकांश भाग में रोचक, विनोदपूर्ण एवं व्यंग्य से आक्रांत रहती है। इन लेखों के आरंभिक भाग इस बात का प्रमाण देते हैं कि लेखक ने विषय को भली भाँति समझ लिया है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और कथन-आरंभ में विशेष विलंब नहीं लगाना चाहता। उनके आरंभ में विनोदपूर्णता रहती है और समस्त लेख से एक व्यंग्यपूर्ण ध्वनि निकलती ज्ञात होती है। मार्मिक स्थलों पर भावभंगी भी विशेष आकर्षक हो जाती है। जैसे—

"हम तो शिवदासजी गुप्त की इस नई खोज की प्रशंसा में मग्न हैं। क्या बात है! क्या बढ़के बात निकाली है! इधर हमारे हँसोड़ मित्र कह रहे हैं कि जालहंस-वालहंस कोई नहीं है—रोमन लिपि का चमत्कार है और संस्कृत-साहित्य न जाननेवालों की अँगरेजी या बँगला सूँघकर 'गवेषणापूर्ण' लेख लिखने की लालसा पूर्ण करके पाँचवें सवार बनने की धुन का परिहास मात्र दुष्परिणाम है। जल्हण की 'सूक्तिमुक्तावली' प्रसिद्ध है। कवियों के समय निर्णय करने में बड़े काम की वस्तु है। अँगरेजी में रोमन लिपि में जल्हण की Jalhan's(षष्ठ्यंत प्रयोग) लिखा हुआ था और पादरी नोट्स साहब की दुलारी रोमन लिपि के तुफ़ैल से और संस्कृत की जानकारी न होने से जालहंस का जाल बिन जाने रचा गया। जैसे कि 'सोनगरा' राजपूतों का नाम कर्नल टाड के राजस्थान में पढ़कर बंगाली अनुवादक ने सौ नगरों के स्वामी क्षत्रियों का जाति-नाम न समझकर अँगरेजी अक्षर और बंगालियों के गोल गोल उच्चारण के भरोसे 'शनिग्रह' राजपूत कहकर अटकल लड़ाई कि सूर्य, चंद्रवंश की तरह 'शनिग्रह वंशी' राजपूत भी होंगे और मुरादाबादी अनुवादक ने भी हिंदी में बँगला की वही साढ़े साती शनिश्चर की दशा राजपूतों पर ढा दी। वैसे ही लेखक के मानस में जालहंस की किलोलें आरंभ हो गई!!"

रामचंद्र शुक्ल

जब हम आजकल के उत्कृष्ट निबंध-लेखक तथा आलोचनात्मक प्रणाली के उन्नायक पंडित रामचंद्र शुक्ल जी की भाषा-शैली का विवेचन करने बैठते हैं तब जर्मन आलोचक बफ़न के कथन—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Style is the man himself—शैली लेखक की वैयक्तिकता है—का स्वभावतः स्मरण हो आता है। शुक्लजी की व्यक्तिगत गंभीरता उनकी भाषा में व्याप्त रहती है। उनकी भाषा संयत, परिष्कृत, प्रौढ़ तथा विशुद्ध होती है, उसमें एक प्रकार का सौष्ठव विशेष है, जो संभवतः किसी भी वर्तमान लेखक में नहीं पाया जाता। उसमें गंभीर विवेचना, गवेषणात्मक चिंतन एवं निर्भ्रांत अनुभूति की पुष्ट व्यंजना सर्वदा वर्तमान रहती है। साधारण निबंध में, आलोचनात्मक तथा अन्य लेखों में जहाँ देखा जाय वहाँ कुछ चमत्कार विशेष पाया जाता है। कथन का यह चामत्कारिक ढंग शुक्लजी ही का है। उसमें उनकी वैयक्तिकता की गहरी छाया स्पष्ट दिखाई पड़ती है। किसी स्थान से भी दस पाँच पंक्तियाँ निकालकर अन्यत्र रख दी जायँ तो वे पुकारकर कहेंगी कि ये उस प्रौढ़ लेखनी की रचनाएँ हैं जिसने हिंदी गद्य की व्यापक और प्रौढ़तम उत्कृष्टता का वर्तमान रूप एक निर्दिष्ट स्थान पर स्थिर कर दिया है।

शुक्लजी की शैली में वैयक्तिकता की छाप सर्वत्र ही प्राप्त होती है; चाहे वह निबंध-रचना हो चाहे आलोचनात्मक विवेचन। निबंधों में स्वच्छंदता का विशेष अवकाश होने के कारण भाव-व्यंजना भी सरल हुई है। उनमें अपेक्षाकृत वाक्य कुछ बड़े हुए हैं; भाषा अधिक चलती और व्यावहारिक हुई है। यों तो इनकी रचनाओं में धारा-प्रवाह कुछ कम रहता है, परन्तु निबंधों में इसका भी पूरा आनंद प्राप्त होता है। इस प्रकार की रचनाओं में विचार-शक्ति का अच्छा संघटन रहता है अतएव वाक्यों के रूप में बाहर जब इसका स्वरूप उपस्थित होता है तब उसमें आंतरिक और बाह्य भाव-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यंजना में एक वैचित्र्यपूर्ण सामंजस्य दिखाई पड़ता है। एक के उपरांत दूसरे विचार क्रमशः इस प्रकार व्यक्त होते जाते हैं कि धीरे धीरे विचारों की एक लड़ी बन जाती है। इन निबंधों में से यदि कोई एक वाक्य भी बीच में से निकाल लें तो समस्त भावमाला अस्तव्यस्त हो इधर उधर बिखर जायगी। इनकी रचना में शब्दाडंबर का नाम अथवा व्यर्थ के ठुसे हुए शब्द कदापि नहीं मिलेंगे। बिना आवश्यकता के वाक्य-पूरक "है" भी नहीं लिखा गया है। व्यर्थ के शब्दों को लिखना शुक्लजी की प्रकृति के विरुद्ध है। उनके विचार से थोड़े से थोड़े शब्दों में गंभीर से गंभीर भावावेश व्यक्त करना उचित है। भावों के साथ साथ वाक्य भी एक से एक नये रहते हैं। इस प्रकार की रचनाओं में हमें वह दुरूहता नहीं मिलती जो शुक्लजी की गवेषणात्मक विवेचनाओं में बहुधा प्राप्त होती है। इनकी निबंध-रचना इस बात का द्योतन करती है कि व्यावहारिक, सरल और बोधगम्य भाषा में किस प्रकार मानुषिक जीवन से संबद्ध विषयों पर विचार प्रकट किए जाते हैं। मुहावरों का प्रयोग शुक्लजी ने अपनी इस प्रकार की रचनाओं में अवश्य किया है अतएव यह कथन कि "उनके लेखों की भाषा में कहावतों और मुहावरों का अभाव सा है" व्यापक नहीं माना जा सकता। हाँ,—यदि आलोचनात्मक एवं गवेषणात्मक प्रबंधों में ये बातें नहीं मिलतीं तो यह स्वाभाविक ही है; क्योंकि वहाँ भाषा की उछल कूद भावों की गंभीरता से आक्रांत रहती है। इसके अतिरिक्त लेखक को इन निबंधों के लिखते समय भी यदि इस बात की आशंका होती है कि बात भी सर्वथा स्पष्ट नहीं हुई तो वाक्य-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समूह के अंत में आकर वह "सारांश यह कि" लिखकर थोड़े में गुंफित विचारों को एकत्र कर देता है। जैसे—

"जिस समाज की हम बुराई करते हैं, जिस समाज में हम अपनी मूर्खता धृष्टता आदि का प्रमाण दे चुके रहते हैं, उसके अंग होने का स्वत्व हम जता नहीं सकते, अतः उसके सामने अपनी सजीवता के लक्षणों को उपस्थित करते या रखते नहीं बनता—यह प्रकट करते नहीं बनता कि हम भी इस संसार में हैं। जिसके साथ हमने कोई बुराई की होती है उसे देखते ही हमारी क्या दशा हो जाती है? हमारी चेष्टाएँ मंद पड़ जाती हैं, हमारे ऊपर घड़ों पानी पड़ जाता है, हम गड़ जाते हैं या चाहते हैं कि धरती फट जाती और हम उसमें समा जाते। सारांश यह कि यदि हम कुछ देर के लिये मर नहीं जाते तो कम से कम अपने जीने का प्रमाण अवश्य समेट लेते हैं।"

"यदि किसी भावी आपत्ति की सूचना पाकर कोई एकदम ठक हो जाय, कुछ भी हाथ पैर न हिलाए तो भी उसके दुःख को साधारण दुःख से अलग करके भय की संज्ञा दी जायगी। पर यदि किसी मित्र के आने की सूचना पाकर हम चुपचाप आनंदित होकर बैठे रहें वा थोड़ा हँस भी दें तो यह हमारा उत्साह नहीं कहा जायगा। हमारा उत्साह तभी कहा जायगा जब हम अपने मित्र का आगमन सुनते ही उठकर खड़े हो जायँगे, उससे मिलने के लिये चल पड़ेंगे और उसके ठहरने इत्यादि का प्रबंध करने के लिये प्रसन्नमुख इधर से उधर दौड़ते दिखाई देंगे।"

शुक्लजी ने अधिक मननशील साहित्य की उद्भावना की है। परंतु अपने गंभीर विषयों पर विवेचनात्मक रूप में लिखते लिखते यदि कहीं अवसर मिला है तो वे व्यंग्यात्मक छींटे अवश्य मारते गए हैं। दुरूह विवेचना के बीच बीच में इस प्रकार की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रचना, चमत्कार विशेष उत्पन्न करती है। जब कभी गंभीर विचारों से जी ऊब उठता है तब मन बहलाव की इच्छा का उदय स्वाभाविक ही है। इस प्रकार व्यंग्यात्मक छोटों के लिये इन्होंने उर्दू के शब्दों और मुहावरों का प्रायः आश्रय लिया है। इन उर्दू शब्दों का प्रयोग सदैव तत्सम रूप में हुआ है। बाबू श्यामसुंदरदासजी की भाँति शब्दों को अपनाने का विचार इनका नहीं ज्ञात होता। गवेषणात्मक प्रबंधों के बाहर तो इन्होंने उर्दू शब्दों का प्रयोग यथास्थान कुछ न कुछ अवश्य किया है अतएव यह कहना कि इनकी रचना में न्यूनातिन्यून प्रयोग हुआ है, केवल भ्रामक ज्ञात होता है; क्योंकि प्रयोग अवश्य हुआ है और अच्छी तरह हुआ है। इन्होंने हिंदी-साहित्य के इतिहास में "तारीफ़", "चीज़", "ज़हरी", "मज़ाक़" इत्यादि चलते शब्दों का व्यवहार प्रचुर मात्रा में किया है। वहाँ की शैली अधिक व्यावहारिक और चलती हुई है क्योंकि उन्हें अपनी शैली अधिक बोधगम्य बनाने की लालसा थी। इसके अतिरिक्त वे उर्दू पदों का भी प्रयोग करते हैं; परंतु यह उन्हीं स्थानों पर जहाँ कुछ विनोदपूर्ण व्यंग्य अभिप्रेत होता है। इस प्रकार की रचना-प्रणाली में बड़ा सुंदर सौष्ठव दिखाई पड़ता है।

"हवा से लड़नेवाली स्त्रियाँ देखी नहीं तो कम से कम सुनी तो बहुतों ने होंगी चाहे उनकी ज़िंद:दिली की क़द्र न की हो।"

"एक बात ज़रा और खटकती है। वह है उनका भाषा के साथ मज़ाक़। कुछ दिन पीछे इन्हें उर्दू लिखने का शौक़ हुआ—उर्दू भी ऐसी वैसी नहीं उर्दू-ए-मुअल्ला। इसी शौक़ के कुछ आगे-पीछे इन्होंने राजा शिवप्रसाद का जीवन-चरित्र लिखा जो 'सरस्वती' के आरंभ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के तीन अंकों में निकला। उर्दू ज़बान और शेर सखुन की बेढंगी नक़ल से, जो असल से कभी कभी साफ़ अलग हो जाती है, उनके बहुत से उपन्यासों का साहित्यिक गौरव घट गया है। ग़लत या ग़लत मानी में लाए हुए शब्द भाषा को शिष्टता के दर्जे से गिरा देते हैं। ख़ैरियत यह हुई है कि अपने सब उपन्यासों को यह मँगनी का लिबास नहीं पहनाया है।"

इसके अतिरिक्त स्थान स्थान पर व्यंग्यात्मक दो एक वाक्य लिखकर अपनी धारणा व्यक्त करना ये भली भाँति जानते हैं। इस प्रकार के वाक्य जैसे चिकोटी काटते हों और उनमें एक चमत्कार अप्रत्यक्ष रूप में वर्तमान रहता है; जैसे—

"इसमें नायक को कहीं बाहर, वन, पर्वत आदि के बीच नहीं जाना पड़ा है। वह घर के भीतर ही लुकता, छिपता, चौकड़ी भरता दिखाया गया है।" "यदि कटाक्ष से उँगली कटने का डर है तो तरकारी चीरने या फल काटने के लिये छुरी, हँसिया आदि की कोई ज़रूरत न होनी चाहिए।" अथवा—"बिहारी की नायिका जब सांस लेती है तब उसके साथ चार क़दम आगे बढ़ जाती है। घड़ी के पेंडुलम् की सी दशा उसकी रहती है।" "इसी प्रकार उर्दू के एक शायर साहब ने आशिक़ को जूँ या खटमल का बच्चा बना डाला।"

शुक्लजी के पूर्व वास्तव में आलोचनात्मक प्रबंध प्रायः कम लिखे गए थे। यदि लिखे भी गए थे तो भाव और भाषा दोनों के विचार से वे उत्कृष्ट नहीं कहे जा सकते। वास्तव में साहित्यालोचन की विश्लेषात्मक, परिपुष्ट एवं व्यापक परिपाटी इन्होंने आरंभ की। आरंभ करने में उतना बड़ा काम नहीं हुआ जितना कि उसके अनुकूल भाषा की उद्भावना में। इन्होंने आलोचनात्मक भाषा का केवल निर्माण ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया हो—यह बात भी नहीं है। इन्होंने उसकी सम्यक् व्यवस्था भी कर दी है। इस प्रकार की भाषा में इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि अब इस विषय के भी उत्तमोत्तम ग्रंथों का निर्माण हो सकता है। हिंदी-साहित्य में भी इस प्रकार की संयत और विशद विवेचना संभव है, इसका प्रमाण देते हुए जो इन्होंने एक प्रकार की शैली विशेष का रूप स्थिर किया है उसके लिये हिंदी भाषा सदैव इनकी कृतज्ञ रहेगी। इस प्रकार की रचनाओं की भाषा बड़ी ही सतर्क एवं प्रौढ़ हुई है। इसमें किसी विषय का कितना सुंदर तथा प्रभावात्मक विवेचन और प्रतिपादन हो सकता है, यह बात स्पष्ट प्रकट हो जाती है।

"लोक के मंगल की आशा से उनका हृदय परिपूर्ण और प्रफुल्ल था। इस आशा का आधार थी वह मंगलमयी ज्योति जो धर्म के रूप में जगत् की प्रातिभासिक सत्ता के भीतर आनंद का आभास देती है, और उसकी रक्षा द्वारा अपने सत् का—अपने नित्यत्व का—बोध कराती है। लोक की रक्षा "सत्" का आभास है, लोक का मंगल "परमानंद" का आभास है। इस व्यावहारिक सत् और आनंद का प्रतीक है 'राम-राज्य' जिसमें उस मर्यादा की पूर्ण प्रतिष्ठा है जिसके उल्लंघन से इस सत् और आनंद का आभास भी व्यवधान में पड़ जाता है। पर यह व्यवधान सब दिन नहीं रह सकता। अंत में सत् अपना प्रकाश करता है, इस बात का पूर्ण विश्वास तुलसीदासजी ने प्रकट किया है।"

"अतः केशव बिहारी आदि के साथ ऐसे कवि का मिलान के लिये रखना उसका अपमान करना है। केशव में तो हृदय का पता ही नहीं है। वह प्रबंध-पटुता भी उनमें नाम को नहीं जिससे कथानक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का संबंध निर्वाह होता है। उनकी रामचंद्रिका फुटकर पद्यों का संग्रह मात्र जान पड़ती है। वीरसिंहदेवचरित से उन्होंने अपनी हृदय-हीनता की ही नहीं प्रबंध-रचना की भी पूरी असफलता दिखा दी है। बिहारी रीति-ग्रंथों के सहारे जबरदस्ती जगह निकाल निकालकर दोहों के भीतर शृंगार रस के विभाव अनुभाव और संचारी ही भरते रहे। केवल एक ही महात्मा और है जिसका नाम गोस्वामीजी के साथ लिया जा सकता है और लिया जाता है। वे हैं प्रेम-स्रोत-स्वरूप भक्तवर सूरदासजी। जब तक हिंदी-साहित्य और हिंदी-भाषी हैं तब तक सूर और तुलसी का जोड़ा अमर ह। पर, जैसा दिखाया जा चुका है, भाव और भाषा दोनों के विचार से गोस्वामी जी का अधिकार अधिक विस्तृत है। न जाने किसने यमक के लोभ से यह दोहा कह डाला—

'सूर सूर तुलसी ससी, उड़गन केशव दास'।

यदि कोई पूछे कि जनता के हृदय पर सब से अधिक विस्तृत अधिकार रखनेवाला हिंदी का सबसे बड़ा कवि कौन है तो उसका एक मात्र यही उत्तर ठीक हो सकता है कि भारत-हृदय, भारती-कंठ, भक्त-चूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास।''

ज्यों ज्यों साहित्य में नवीन विषयों का अध्ययन अध्यापन बढ़ता जायगा, त्यों त्यों नवीन प्रकार की रचनाओं की आवश्यकता बढ़ती जायगी। इन रचनाओं में नवीन भावनाओं और विचारों का खंडन मंडन रहेगा। अतएव शैली विशेष की आवश्यकता होगी। इसके अतिरिक्त नवीन शब्दों का भी निर्माण होगा। हिंदी साहित्य में अब नित्य नवीन विषयों का चर्चा बढ़ रही है। इस चर्चा के साथ ही साथ भाषा, शैली और शब्द-निर्माण पर भी ध्यान दिया जा रहा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। कुछ लोग तो शब्द-निर्माण किसी निश्चित सिद्धांत के बिना ही करते हैं। वस्तुतः वे इसके अधिकारी नहीं होते। इस बात की चेष्टा करना या तो उनकी शक्ति से परे होता है अथवा केवल प्रमादवश इस विषय का विचार ही नहीं करते कि वास्तव में नवीन शब्द-रचना की कोई आवश्यकता है अथवा नहीं। जब तक अपनी भाषा में उसी का पर्याय अथवा उससे मिलता-जुलता कोई शब्द उपस्थित हो तब तक हमें नवीन शब्द गढ़ने की चेष्टा न करनी चाहिए; क्योंकि ऐसा करने से ये गढ़े हुए शब्द न तो निश्चित अर्थ ही बोधित कर सकेंगे और न व्यापक ही हो सकेंगे। एक नवीन जंतु की भाँति वे सम्मुख खड़े हो जायँगे। अतएव अधिक समीचीन यही है कि अपनी ही भाषा के प्राचीन भूले हुए शब्दों का पुनरुद्धार कर उन्हें पुनः व्यवहार-क्षेत्र में ले आवें। इस प्रकार हम अव्यावहारिकता से बचे रहेंगे और साथ ही अपनी प्राचीन भाषा का अपकार भी न करेंगे।

जिस प्रकार शुक्लजी ने अन्य विभागों में अपनी उद्भावना शक्ति का परिचय दिया है उसी प्रकार शब्द-निर्माण के संसार में भी वे प्रमुख बने हैं। इसका इन्हें कोई खास शौक नहीं; न तो कोई ऐसा व्यापक मर्ज ही है। परंतु उन्हें अपने विषय-साम्राज्य के विस्तार-भार से आक्रांत होकर विवश होना पड़ता है। ऐसी अवस्था में नवीन कल्पनाओं, नवीन शैली एवं शब्द-कोष की ढूँढ़ ढाँढ़ अनिवार्य हो जाती है। शुक्लजी ने अनेक शब्दों का निर्माण भी किया है; और साथ ही अनेक शब्दों का पुनरुद्धार भी। "विश्व-प्रपंच" की भूमिका में अनेक विज्ञानों और दर्शनों की चर्चा है जिनमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुत से नवीन निर्मित शब्दों के अतिरिक्त अनेक पारिभाषिक शब्द भारतीय शास्त्रों से लेकर प्रयुक्त हुए हैं। उन्हें शब्द-निर्माण के अतिरिक्त नवीन विषयों के निदर्शन एवं प्रतिपादन के लिये एक शैली विशेष का स्वतंत्र रूप खड़ा करना पड़ा है। इस प्रकार भी शैली को हम शुद्ध गवेषणात्मक कह सकते हैं। इसमें भावों की दुरूहता के साथ ही साथ भाषा भी अपेक्षाकृत क्लिष्ट तथा गंभीर हो गई है।

"ब्रह्म की व्यक्त सत्ता सतत क्रियमाण है। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में स्थिर (Static) सौंदर्य और स्थिर मंगल कहीं नहीं; गत्यात्मक (Dynamic) सौंदर्य और गत्यात्मक मंगल ही है; पर सौंदर्य की गति भी नित्य और अनंत है और मंगल की भी। गति की यही नित्यता जगत् की नित्यता है। सौंदर्य और मंगल वास्तव में पर्याय हैं। कलापक्ष से देखने में जो सौंदर्य है, वही धर्मपक्ष से देखने में मंगल है। जिस सामान्य काव्य भूमि पर प्राप्त होकर हमारे भाव एक साथ ही सुंदर और मंगलमय हो जाते हैं उसकी व्याख्या पहले हो चुकी है। कवि मंगल का नाम न लेकर सौंदर्य ही का नाम लेता है और धार्मिक सौंदर्य की चर्चा बचाकर मंगल ही का ज़िक्र किया करता है। टालसटाय इस प्रवृत्ति-भेद को न पहचानकर काव्य क्षेत्र में लोक-मंगल का एकांत उद्देश्य रखकर चले इससे उनकी समीक्षाएँ गिरजाघर के उपदेश के रूप में हो गईं। मनुष्य मनुष्य में प्रेम और भ्रातृभाव की प्रतिष्ठा ही काव्य का सीधा लक्ष्य ठहराने से उनकी दृष्टि बहुत संकुचित हो गई, जैसा कि उनकी सब से उत्तम ठहराई हुई पुस्तकों की विलक्षण सूची से विदित होता है। यदि टालसटाय की धर्म-भावना में व्यक्तिगत धर्म के अतिरिक्त लोकधर्म का भी समावेश होता तो शायद उनके कथन में इतना असामंजस्य न घटित होता।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार हमने देख लिया कि शुक्लजी की भाषा सदैव भाव-निदर्शन के अनुरूप हुई है। जिस स्थान पर जैसा विषय था वैसी ही भाषा प्रयुक्त हुई है। ज्यों ज्यों विषय की गहनता और उत्कृष्टता उन्नति पाती गई है त्यों त्यों भाषा के रूप रंग में भी परिवर्तन होता गया है। भाषा और शैली को अपने भावानुकूल बना लेना बड़े दक्ष लेखक की प्रतिभा का काम है। इसके अतिरिक्त दूसरी बात जो हम व्यापक रूप में पाते हैं वह यह है कि उनकी शैली से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि लेखक के एक एक वाक्य में भावनाओं का संभार अंतर्निहित है। वाक्य का एक भी शब्द व्यर्थ नहीं रखा गया है। इनकी भाषा बड़ी संगठित और प्रांजल हुई है; क्योंकि विचार उसमें कस कसकर परंतु स्पष्टता से भरे गए हैं। कहीं से लचरपन नहीं प्रकट होता। इन्हीं कारणों से जिस स्थान पर गवेषणापूर्ण विषय का प्रतिपादन हुआ है संभवतः कुछ अंशों में दुरूहता दिखाई पड़ती है। वाक्यों की साधारण बनावट में उन्होंने कहीं से विषमता नहीं उत्पन्न होने दी है—चाहे भाषा का धारावाहिक रूप कुछ बिगड़ ही क्यों न गया हो। यह सब होते हुए भी हम यह देख चुके हैं कि जितना प्रौढ़ उत्कर्ष, भाषा और भाव दोनों का, हमें इनमें मिला है किसी भी दूसरे लेखक में नहीं आ सका है।

पंडित पद्मसिंह शर्मा का तुलना करना, एक की विशेषता की परख दूसरे की विशेषताओं को दिखाकर करना यह प्रकट करता है कि लेखक का अधिकार सभी आलोच्य कवियों पर समान है। इस प्रकार तुलनात्मक आलोचना का जो आकर्षक रूप शर्माजी

पद्मसिंह शर्मा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने हिंदी-साहित्य में उपस्थित किया है वह वस्तुतः नवीन और स्तुत्य है। स्तुत्य वह इस विचार से है कि उसने एक नवीन अनुभूति को लिखित रूप दिया है। इस प्रकार के साहित्य की आवश्यकता थी। इसके उपस्थित होते ही अन्य सुंदर तुलनात्मक आलोचनाएँ लिखी गईं। किसी विषय का आरंभ उद्भावना शक्ति का परिचायक होता है। इस विचार से शर्माजी का स्थान बड़े ही महत्व का समझना चाहिए।

जब हम उनकी आलोच्य पद्धति पर विचार करते हैं तब हमें उसमें वैयक्तिकता की गहरी छाप दिखाई पड़ती है। उनकी आलोचनात्मक रचना में से यदि चार पंक्तियाँ भी निकालकर बाहर रख दी जायँ तो उनकी चटक-मटक डंके की चोट कहेगी कि वे शर्माजी की विभूति हैं। उनकी बनावट, उछल-कूद, लपक-झपक में भी कारीगरी छिपी रहती है। इस प्रकार की शैली भी अपने ढंग की निराली है। उर्दू हिंदी का इतना रुचिकर और अभिन्न सम्मिश्रण पहले नहीं दिखाई पड़ा था। उर्दू समाज की 'वल्लाह', 'वल्लाह', 'क्या खूब', 'क्या ख़ूब' का आनंद अभी तक नहीं आया था। कथन का यह आकर्षक और उत्साहमय रूप कभी कभी बड़ा ही चमत्कारपूर्ण होता है। परंतु यह उर्दू वाला ढंग सब जगह अच्छा नहीं होता। इसका प्रभाव क्षणिक होता है। 'वाह', 'वाह' बाजी मार ले गए; 'ग़ज़ब कर दिया है' इत्यादि की चिल्ल-पों में आलोचना का सौम्य विवेचन बिगड़ जाता है। चमत्कारपूर्ण होते हुए भी वह प्रभावात्मक नहीं होता। इस विचार से शर्माजी की शैली तथ्यातथ्य-निरूपण के योग्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कदापि नहीं मानी जा सकती। उसमें से एक अभद्र दुर्गंध निकलती है जो वास्तव में गंभीर आलोचनात्मक प्रबंधों के लिये सर्वथा अनुपयुक्त है। गवेषणात्मक अध्ययन के उपरांत इस प्रकार की उच्छृंखल भाषा में भावों की व्यंजना नहीं हो सकती। यदि हो भी तो वह अत्यंत अस्वाभाविक ही ठह-रेगी। आलोचना का जो दिव्य रूप पंडित रामचंद्रजी की भाषा में देखा जाता है उसका एक अंश भी इसमें नहीं मिलता। आलोचना वस्तुतः मनन का विषय है। जो बात गंभीर मनन के उपरांत मुख से निकलेगी उसकी विचार-धारा संयत एवं विशुद्ध होगी तथा उसकी भाषा में स्थिरता और गंभीरता होगी। उस भाषा में लखनवी उछल-कूद और हाय तोबा का ज़िक्र तथा "तू तू", "मैं मैं" अवश्य अच्छी नहीं हो सकती है।

"बात बहुत साफ़ और सीधी है पर तो भी चमत्कार से ख़ाली नहीं, इसका बाँकपन चित में चुभता है। बहुत ही मधुर भाव है। पर बिहारीलाल भी तो एक ही 'काइयाँ' ठहरे। वह कब चूकनेवाले हैं, पहलू बदलकर मज़मून को साफ़ ले ही तो उड़े।

'अजौं न आए सहज रँग, विरह दूबरे गात'

वाह उस्ताद क्या कहने हैं। क्या सफ़ाई खेली है। काया ही पलट दी। कोई पहचान सकता है।"

"बात वही है, पर देखिए तो आलम ही निराला है। क्या तान-कर 'शब्दवेधी' नावक का तीर मारा है। लुटा ही दिया। एक 'अनियारे'पन ने धवल कृष्ण पक्ष वाले सबको एक अनी की नोंक में बांधकर एक ओर रख दिया। और वाह रे "चितवन"! तुम्हारी चित-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वन की ताब भला कौन ला सकता है। फिर 'सुंदरी' और 'तरुणि' में भी कहते हैं कुछ भेद है। एक (सुंदरी) वशीकरन का खजाना है तो दूसरी (तरुणि) खान है। और 'सुजान' तो फिर कविता की जान ही ठहरा'। इस एक पद पर तो एड़ी से चोटी तक सारी गाथा ही कुर्बान है।

'वह चितवन औरै कछू, जिहि बस होत सुजान।'

लोहे की यह जड़ लेखनी इसकी भला क्या दाद देगी।] भावुक सहृदयों के वे हृदय ही कुछ इसकी दाद देंगे जो इसकी चोट से पड़े तड़पते होंगे।"

"इस प्रकार बिहारीलालजी इस मैदान में गाथाकार और केशव-दास दोनों से बहुत आगे बढ़ गए हैं। क्या अच्छा संस्कार किया है, मज़मून छीन लिया है।"

"कितनी मनोहर रचना है, कितना मधुर परिपाक है। इन शब्दों में जितना जादू भरा है, उतना और कहीं है? और जो 'हरि जीवन मूरि' ने तो बस जान ही डाल दी है, इस एक पद पर ही प्राकृत गाथा और पद्यावलि का पद्य, दोनों एक साथ कुर्बान कर देने लायक़ हैं।"

"बिहारी की सखी का परिहास बड़ा ही लाजवाब है, रसिक-मोहन सुनकर फड़क ही गए होंगे। इससे अच्छा, सच्चा, साफ़, सीधा और दिल में गुदगुदी पैदा करनेवाला मीठा मज़ाक़ साहित्य-संसार में शायद ही हो।"

इस प्रकार की आलोचना इस बात को स्पष्ट कह देती है कि आलोचक के हृदय में भावनाओं की स्वर्गीय अनुभूति कम है। वह केवल शब्द-विन्यास से अथवा हँसा खेलाकर पाठक-जगत् की तृप्ति करना चाहता है। सहृदयता की मार्मिक व्यंजना को यदि हम एक ओर रखकर साधारण दृष्टि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से विचार करते हैं तो शर्माजी की भाषा में हमें एक विचित्र विनोदात्मक रूप मिलता है। हिंदी उर्दू का यह सम्मिश्रित रूप हमें उनकी आलोचनात्मक विचार-धारा ही में नहीं वरन अन्य प्रकार की रचनाओं में भी मिलता है। उसमें एक प्रकार की आनन्दमयी प्रतिभा रहती है। किस विषय को किस प्रकार कहकर जी बहलाना होता है यह इनसे सीखना चाहिए। इसमें किस प्रकार की भाषा का उपयोग हो इसका विचार इन्हीं से सुनिए—

"जिस भावहीन निर्जीव भाषा में नीरस कर्णकटु काव्यों की आज दिन सृष्टि हो रही है इससे सुरुचि का संचार हो चुका। यह सहृदय समाज के हृदयों में घर कर चुकी। यह सूखी टहनी बहुत दिनों तक साहित्य-संसार में खड़ी न रह सकेगी। कोरे कामचलाऊ-पन के साथ भाषा में सरसता और टिकाऊपन भी अभीष्ट है। विषय की दृष्टि से न सही भाषा के महत्त्वों की दृष्टि से भी देखिए तो शृंगार रस के प्राचीन काव्यों की उपयोगिता कुछ कम नहीं है। यदि अपनी भाषा को अलंकृत करना है तो इस पुरानी काव्यवाटिका से—जिसे हज़ारों चतुर मालियों ने सैकड़ों वर्ष तक दिल के खून से सींचा है—सदाबहार फूल चुनने ही पड़ेंगे। काँटों के भय से रसिक भौंरा पुष्पों का प्रेम नहीं छोड़ बैठता, मकरंद के लिये मधुमक्षिकाओं को इस चमन में आना ही होगा; यदि वह इधर से मुँह मोड़कर 'सुरुचि' के ख़याल में स्वच्छ आकाश-पुष्पों की तलाश में भटकेंगी तो मधु की एक बूँद से भी भेंट न हो सकेगी। हमारे सुशिक्षित समाज की 'सुरुचि' जब भाषा-विज्ञान के लिये उसी प्रकार का विदेशी-साहित्य पढ़ने की आज्ञा खुशी से दे देती है तो मालूम नहीं अपने साहित्य से उसे ऐसा द्वेष क्यों है?"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिन स्थानों पर भावों का प्राबल्य होता है उन स्थानों पर स्वभावत: उनकी भाषा अधिक संयत एवं वाक्य-विन्यास अधिक प्रभावशाली होते हैं। इनके भाव-प्रकाशन में भी एक प्रकार का ओज रहता है। उससे यह समझ पड़ता है कि उनका प्रयत्न सदैव इस बात पर रहता है कि एक एक वाक्य तीर का काम करे। यही कारण है कि दुरूहता नहीं आने पाती। शर्माजी व्यंग्य का बड़ा ही सुंदर और आकर्षक उपयोग करते हैं। इन व्यंग्यों के लिये उन्हें शब्द भी अच्छे और मर्मस्पर्शी मिल जाते हैं। इनके व्यंग्यात्मक निबंधों को पढ़ने से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि लेखक मन में कुढ़ा है। इससे रचना में जान आ जाती है।

"हमारे हिंदी के नवीन कवियों की मति गति बिलकुल निराली है। वह कविता की गाड़ी के धुरे और पहिए भी बदल रहे हैं। अपने अद्भुत छकड़े के पीछे की ओर मरियल टट्टू जोतकर गंतव्य पथ पर पहुँचना चाहते हैं। प्राचीनों का कृतज्ञ होना तो दूर रहा, उनके कोसने में भी अपना गौरव समझा जाता है; प्राचीन शैली का अनुसरण तो एक ओर रहा, जान बूझकर अनुचित रीति से उसका व्यर्थ विरोध किया जाता है। भाषा, भाव और रीति में एकदम अराजकता की घोषणा की जा रही है। यह उन्नति का नहीं, मनोमुखरता का लक्षण है। इससे कविता का सुधार नहीं, संहार हो रहा है। सुधार उसी ढंग से होना चाहिए, जिसका निर्देश महाकवि हाली ने किया है और जिसके अनुसार उर्दू के नवीन कवियों ने अपनी कविता को सामयिकता के मनोहर साँचे में ढालकर सफलता प्राप्त की है।"

यों तो नाटकों के प्रणयन का प्रारंभ बाबू हरिश्चंद्र के काल से ही हो गया था, परंतु उस काल के नाटकों में न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो वैसे ऊँचे विचारों का भावावेश ही था और न मनोवैज्ञानिक चरित्र चित्रण ही। इसके अतिरिक्त वस्तु-संकलन भी साधारण होता था। उसमें न तो विचित्रता ही रहती थी न नवीनता ही।

जयशंकर प्रसाद

जब से बाबू जयशंकर प्रसाद ने नाटक-रचना प्रारंभ की तब से नाट्य-जगत् में एक नवीन युग आरंभ हो गया है। इनके नाटक भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता का चित्र सम्मुख उपस्थित करते हैं। उनमें चरित्र चित्रण का उत्कृष्ट विधान मिलता है, मानवी हृदय की अनेक भावनाओं का सुंदर विवरण और सामयिक प्रगति का अच्छा चित्र मिलता है। इन नाटकों की भाषा भी वस्तु के अनुकूल ही है। इसमें न तो उर्दू की शब्दावली ही मिलती है, न शैली ही। साथ ही हम यह भी नहीं कह सकते कि संस्कृत की दुरूह तत्सम पदावली का ही उपयोग किया गया है। साधारणतः भाषा चलती और विशुद्ध हुई है।

कथोपकथन की शैली अधिकतर मनोवैज्ञानिक हुई है। जिस प्रकार क्रमशः भावावेश बढ़ता जाता है उसी प्रकार भाषा भी धारावाहिक होती गई है और जिस भाँति के विचार हैं उसी प्रकार की कर्कश एवं मधुर भाषा का प्रयोग देखा जाता है। जैसे—"मनसा, मैं जाती हूँ। वासुकि से कह देना कि यादवी सरमा अपने पुत्र को साथ ले गई। मैं अपने सहजातियों के चरण सिर पर धारण करूँगी, किंतु इन हृदय-हीन उद्दण्ड बर्बरों का सिंहासन भी पैरों से ठुकरा दूँगी।" अथवा "माँ, मुझे अत्याचार का प्रतिशोध लेने दो। मैं पिता के पास जाऊँगा। मुझे आज्ञा दो। मैं मनसा के हाथों का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषाक्त अस्त्र बनूँ; उसकी भीषण कामना का पुरोहित बनूँ। क्रूरता का तांडव किए बिना मैं न जी सकूँगा। मैं आत्मघात कर लूँगा।" इत्यादि। ऐसे भावात्मक कथन में स्वभावतः वाक्य छोटे छोटे हुए हैं। इनसे भावों की परिपक्वता एवं दृढ़ता उद्बोधित होती है। 'प्रसाद' जी की रचनाओं में प्रायः मुहावरों की न्यूनता पाई जाती है, परंतु भाषा और भाव-व्यंजना में लचरपन नहीं आने पाया है। वस्तुतः उन लेखकों को मुहावरों और कहावतों की आवश्यकता पड़ती भी नहीं, जिनका ध्यान अधिकतर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की ओर रहता है।

भाषा-सौष्ठव का जितना परिष्कृत रूप हमें 'प्रसाद' जी की रचना में प्राप्त होता है वह स्तुत्य है। इस सौष्ठव में मनोहरता रहती है और प्रसाद गुण का चामत्कारिक उपयोग दिखाई पड़ता है। यों तो धाराप्रवाह सभी स्थानों पर मिलता है; परंतु विशेषतः उन स्थानों पर जहाँ भावावेश रहता है। हृदय में जिस समय भावनाओं का वेग बढ़ जाता है उस समय शीघ्रता से उनका शाब्दिक स्वरूप ग्रहण करना कठिन हो जाता है। इस अवसर पर यदि लेखक सिद्धहस्त न हो तो उनके प्रकाशन में दुरूहता उत्पन्न हो जाती है। इस दुरूहता का किञ्चित् मात्र भी प्रभाव 'प्रसाद' जी की व्यंजना में न प्राप्त होगा। वरन् ऐसे स्थानों पर वे छोटे छोटे वाक्यों द्वारा और शिष्ट एवं सुंदर पदावली का आश्रय लेकर बड़ा रोचक विवरण देते हैं। एक एक वाक्य का जोड़ तोड़ इतना अच्छा चलता है कि भाषा में जान पड़ जाती है। एक वाक्य दूसरे वाक्य को सहायता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देने में सदैव तत्पर पाया जाता है। इससे धारा-प्रवाह का मनोहर निर्वहन होता है। जैसे—

"(आप ही आप) बुलाओ, बुलाओ, उस वसंत को, उस जंगली वसंत को, जो महलों में, मन को उदास कर देता है, जो वन में फूलों के महल बना देता है, जो सूखे हृदय की धूलि में मकरंद सींचता है। उसे अपने हृदय में बुलाओ, जो पतझड़ कर नई कोंपल लाता है, जो हमारे कई जन्मों की मादकता में उत्तेजित होकर इस भ्रांत जगत् में वास्तविक बात का स्मरण करा देता है, जो कोकिल की तरह सस्नेह रुक रुक आवाहन करता है, जिसमें विश्व भर के सम्मिलन का उल्लास स्वतः उत्पन्न होता है, एक आकर्षण सबको कलेजे से लगाना चाहता है, उस वसंत को, उस गई हुई निधि को लौटा लो। काँटों में फूल खिलें, विकास हो, प्रकाश हो, सौरभ खेल खेले। विश्वमात्र एक कुसुम-स्तवक के सदृश किसी निष्काम के करों में अर्पित हो। आनंद का रसीला राग विस्मृति को भुला दे; सब में समता की ध्वनि गूँज उठे। विश्व भर का क्रंदन कोकिल की काकली में परिणत हो जाय। आम के बौरों में से मकरंद-मदिरा पान करके आया हुआ पवन सब के तप्त अंगों को शीतल करे।"

'प्रसाद' जी ने भाव-पद्धति के निदर्शन का एक चामत्कारिक रूप खड़ा किया है। इस विचार से इनका स्थान भी महत्त्व का है। इन्होंने छोटी छोटी कहानियाँ लिखी हैं। इनकी कहानियों की भावभंगी निराली होती है। उनमें चमत्कार विशेष रहता है। इनके शीर्षक भी कुछ विलक्षण एवं नवीन होते हैं। यह विलक्षणता प्रायः इनकी सभी रचनाओं में मिलती है। कहानियों के भीतर इनका विषय-निर्वाचन, शब्द-चयन एवं गठन, तथा वाक्य-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विन्यास इत्यादि सभी उपादान आ जाते हैं। इन कहानियों के शीर्षक 'आकाशदीप,' 'स्वर्ग के खँडहर में,' 'सुनहला साँप,' 'रूप की छाया', 'प्रणयचिह्न', 'प्रतिध्वनि', 'हिमालय का पथिक', 'बनजारा' इत्यादि हैं, जिनमें सहसा चमत्कार का आभास मिलता है। शब्द-चयन के लाक्षणिक प्रयोग अधिकतर मिलते हैं। उनसे व्यंग्यात्मक ध्वनि निकलती है। उनके सहारे पाठक मानों इस स्थूल जगत् से कल्पना के स्वर्ग में जा पहुँचता है। इस कौशल से लेखक पाठक-जगत् को उस स्वर्गीय विभूति की अनुभूति स्वभावतः करा देता है जिसका वह चित्र खींचना चाहता है। यदि वह ऐसा न करे तो उसका वस्तु-समीक्षण अशक्त रह जाय। "स्वप्न की रंगीन संध्या" तथा "स्वर्ण रहस्य के प्रभात" का आभास यदि वह न दे चुका रहेगा तो हम उसके स्वर्ग का यौवनपूर्ण उन्माद सहन न कर सकेंगे। उसकी "वन्य-कुसुमों की झालरें सुख-शीतल पवन से विकंपित होकर चारों ओर झूल रही थीं। छोटे छोटे झरनों की कुलाएँ कतराती हुई बह रही थीं। लता-वितानों से ढकी प्राकृतिक गुफाएँ शिल्प-रचना-पूर्ण सुंदर प्रकोष्ठ बनातीं, जिनमें पागल कर देनेवाली सुगंध की लहरें नृत्य करती थीं। स्थान स्थान पर कुंजों और पुष्प-शय्याओं का समारोह, छोटे छोटे विश्राम-गृह, पान-पात्रों में सुगंधित मदिरा, भाँति भाँति के सुस्वादु फल, फूलवाले वृक्षों के झुरमुट, दूध और मधु की नहरों के किनारे गुलाबी बादलों का क्षणिक विश्राम, चाँदनी का निभृत रंग-मंच, पुलकित वृक्ष-फूलों पर मधु-मक्खियों की भन्नाहट, रह रह कर पक्षियों के हृदय में चुभनेवाली तानें, मणि-दीपों पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लटकती हुई मालाएँ; तिसपर सौंदर्य के छँटे हुए जोड़े—रूप-वान बालक और बालिकाओं का हास-विलास, संगीत की अबाध गति में छोटी-छोटी नावों पर उनका जल-विलास! आदि वाक्यावली को हम मृत्यु-लोक-निवासी किस प्रकार समझ सकेंगे।

इस चमत्कारवाद में एक बात और भी है। वह यह कि पाठक-वर्ग का चित्त शीघ्र अपने कथानक की ओर खींचने के लिये लेखक सदैव सतर्क दिखाई पड़ता है। यह अवतरण इस प्रकार का साक्षी है। इसी प्रकार का चमत्कारपूर्ण समारंभ 'प्रसाद' जी सदैव अपनी रचनाओं में रखते हैं। पाठक के हृदय पर इसका बड़ा मार्मिक प्रभाव पड़ता है। जिस प्रकार का वर्णनीय विषय हो उसी प्रकार का आरंभ होने से उसको अनुकूल हृदय उपस्थित करने का अच्छा अवसर मिल जाता है। यही कारण है कि कुशल नाट्यकार सदैव प्रभावात्मक समारंभ का आयोजन आवश्यक समझते हैं। इससे इधर-उधर अव्यवस्थित चित्त एकाग्र हो जाता है। इस चमत्कारवाद में विशेषता यह रहती है कि लेखक सदैव वास्तविकता (Realism) की ओर भी झुका रहता है। इस झुकाव का प्रभाव उसके कथनोपकथन के वाक्य-विन्यास पर स्पष्ट दिखाई पड़ता है। साधारणतः नित्य के व्यवहार में हम जिस प्रकार वाक्यों का उपयोग करते हैं अथवा बातचीत की झोंक में जिस भाँति हम वाक्यों की बनावट में उलट फेर कर देते हैं उसी प्रकार 'प्रसाद' जी अथवा इस दल के सभी लेखक वास्तविकता का शुद्ध आभास देने के विचार से प्रायः वाक्य की स्वाभाविक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बनावट में उलट-फेर कर देते हैं। जैसे—"दुर्दांत दस्यु ने देखा, अपनी प्रतिभा में अलौकिक एक तरुण बालिका!" "चलोगी चंपा! पोतवाहिनी पर असंख्य धनराशि लादकर राज-रानी सी जन्मभूमि के अंक में?" "प्रिय नाविक! तुम स्वदेश लौट जाओ विभवों का सुख भोगने के लिये और मुझे छोड़ दो इन निरीह भोले भाले प्राणियों के दुःख की सहानुभूति और सेवा के लिये।" "इतने में ध्यान आया, उस धीवर-बालिका का" इस प्रकार का नाट्यात्मक कथनोपकथन स्थान-स्थान पर उनकी छोटी-छोटी कहानियों में भी रहता है।

इतिवृत्त का विधान ये बड़ी रुचिकर विधि से करते हैं। उसमें सजीवता के अतिरिक्त बड़ा सुंदर धारा-प्रवाह रहता है। कथनोपकथन और मानसिक चिंतन में तो प्रवाह का निर्वाह अवश्य ही हुआ है। साथ ही इतिवृत्त के विवरण में भी उसका तारतम्य बड़ी उत्कृष्टता से प्राप्त होता है। ऐसे स्थानों पर प्रत्येक वाक्य में कर्ता स्पष्ट नहीं लिखा गया। उसका अध्याहार मन में स्वभावतः उपस्थित रहता है। यदि ऐसा न किया जाय तो विवरण धारा-वाहिक तो होगा ही नहीं वरन् समस्त वाक्य-समूह में रुकावट सी पड़ जायगी, जिससे वाक्य की सरसता नष्ट हो जायगी। इस रूखेपन अथवा विशृंखलता से भाषा का सौष्ठव तो नष्ट हो ही जायगा, इसके अतिरिक्त भाव-व्यंजना की सम्यक् अनुभूति भी न हो सकेगी। प्रसादजी की सभी रचनाओं में इस प्रवाह का आनंद मिलता है। इस शैली के प्रवाह के साथ साथ भावनाओं का चित्र सा उपस्थित हो जाता है। इस चित्र में मार्मिकता तथा सजीवता रहती है। जैसे—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"सुदर्शन ने देखा सब सुंदर है। आज तक जो प्रकृति उदास सि[र] बनाकर सामने आती थी, उसके मोहिनी और मधुर सौंदर्य के विभूति को देखकर सुदर्शन की तन्मयता उत्कंठा में बह गई। उसे उन्माद ले चला। इच्छा होती थी कि वह समुद्र बन जाय। उसकी उद्वेलित लहरों से चंद्रमा की किरनें खेलें और हँसा करें। इतने में ध्यान आया उस धीवर की बालिका का। इठला[ती] हुई वह भी वरुण-कन्या सी चंद्र-किरणों से लिपटी हुई उसके विशाल वक्षःस्थल में विहार करे। उसकी आँखों में गोल धवल पालवाली नाव समा गई, कानों में अस्फुट संगीत भर गया। सुदर्शन उन्मत्त था। कुछ पद-शब्द सुनाई पड़े। उसे ध्यान आया मुझे लौटा ले जाने के लिये कुछ लोग आ रहे हैं। वह चंचल हो उठा। फेनिल जलधि में फाँद पड़ा। लहरों में तैर चला।"

कितना स्वाभाविक और वास्तविक भावावेश है। यही कारण है कि भाषा भी स्वाभाविक और चलती हुई है। इसके अतिरिक्त उसमें काव्य का प्रौढ़तम उन्माद है। लेखक गद्य में पद्य की अनुभूति कराता है।

इसके अतिरिक्त उन स्थानों पर भी—जहाँ इतिवृत्त में भावावेश का प्रसार तनिक भी नहीं सम्मिलित रहता—व्यंजनात्मक अनोखापन उपस्थित रहता है। वाक्य-विन्यास सरल तथा स्पष्ट होते हैं। भाषा अपेक्षाकृत अधिक व्यावहारिक, एवं वाक्य-विस्तार अत्यंत संकुचित होता है। प्रत्येक वाक्य में कर्ता की आवश्यकता नहीं पड़ती। सर्वनाम आदि भी विशेष प्रयोजनीय नहीं समझा जाता। इन विचित्रताओं के रहते हुए भी इतिवृत्तात्मक-कथन की सत्यता प्रमाणित की जाती है—
"पहाड़ जैसे दिन बीतते ही न थे। दुख की सब रातें जाड़े की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रात से भी लंबी बन जाती हैं। दुखिया तारा की अवस्था शोचनीय थी। मानसिक और आर्थिक चिंताओं से वह जर्जर हो गई। गर्भ के बढ़ने से शरीर से भी कृश हो गई। मुख पीला हो चला। अब उसने उपवन में रहना छोड़ दिया, चाची के घर में जाकर रहने लगी। वहीं सहारा मिला। खर्च न चल सकने के कारण वह दो चार दिन बाद एक वस्तु बेचती, फिर रोकर दिन काटती। चाची ने भी उसे अपने ढंग पर छोड़ दिया। वहीं तारा टूटी चारपाई पर पड़ी कराहा करती।"

प्रेमचंद जी

जिस प्रकार नाट्यरचना में हम बाबू जयशंकर प्रसाद को पाते हैं उसी प्रकार उपन्यास-क्षेत्र में प्रेमचंद्रजी की उत्कृष्टता है। यों तो उपन्यास-रचना बाबू हरिश्चंद्र ही के समय से आरंभ हो गई थी, किंतु वह केवल समारंभ कहा जा सकता है; क्योंकि उस समय तक न तो भाषा में परिपक्वता आई थी और न मनोवैज्ञानिक रीति से भाव-व्यंजना की ही उद्भावना हुई थी। जो अवस्था नाटकों की थी वही उपन्यासों की भी थी। अब उपन्यासों में भी मनोवैज्ञानिक भाव-व्यंजना के अतिरिक्त चरित्र-चित्रण आदि की ओर भी लोगों का ध्यान गया है। इसका समस्त श्रेय इसी मौलिक उपन्यास-लेखक को दिया जा सकता है। इनकी कृतियों में वस्तु, भावावेश, भाषा, चरित्र-चित्रण और कथोपकथन सभी की प्रौढ़ता है। इस विचार से ये हिंदी-साहित्य में प्रथम उत्कृष्ट मौलिक उपन्यासकार हैं। "मनुष्य की अंतःप्रकृति का जो विश्लेषण और वस्तु-विन्यास की जो अकृत्रिमता इनके उपन्यासों में मिली, वह पहले और किसी मौलिक उपन्यासकार में नहीं पाई गई थी।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर इनकी साहित्य-रचना का आरंभिक काल बड़ा चिंता-जनक था। यों तो कुछ विचित्रताएँ उसी रूप में चली आती हैं, परंतु वे नहीं के बराबर हैं। जिस समय इन्होंने छोटी-छोटी कहानियाँ लिखना आरंभ किया था उस समय भाषा का लचरपन और भाव-शोधन का अभाव तो था ही, इसके अतिरिक्त ये व्याकरण की सामान्य भूलें भी करते थे। प्रांतीयता का भद्दा स्वरूप भी स्थान स्थान पर मिलता था। "वे...... समझे कोई यात्री होगा।" "कल नहीं पड़ता था," "कुँवर और कुँवरियाँ," "चौकीदार और लौड़ियाँ सब सिर नीचे किए दुर्ग के स्वामी के सामने उपस्थित थे।" "कस्बे के लड़के लड़कियाँ स्वेत थालियों में दीपक लिए मंदिर की ओर जा रहे थे।" "अंधकार में उसी अंधकार ने उसी विशाल भवन में शरण लिया था।" "वह उसे समझाते।" "मैं जवाब देते हैं।" "मनसा, वाचा, कर्मणा से सिर झुकाया" "एकत्रित" (एकत्र), "देशहितैषिता के उमंग से", "हम लोगों से जो भूल-चूक हुई वह क्षमा किया जाय" इत्यादि। इसके अतिरिक्त ये कुछ अव्यवस्थित, अप्रयुक्त एवं प्राचीन शब्दों का भी स्वतंत्रता से व्यवहार करते थे। जैसे, "फुरता फुरती," "ढकोसला", "निरंग", "डोलीं", "झैंक नैत", "रवादार", "सपृधारा", "गुजरान", "अवके", इत्यादि। 'शांत' के स्थान पर अधिकतर "शांति" लिखते थे। विरामादिक चिह्नों का उपयुक्त प्रयोग नहीं समझते थे। जिस स्थान पर अर्ध-विराम नहीं भी चाहिए, वहाँ भी अर्ध-विराम लिख देते थे। जैसे—"विनय किए, हजारों खुशामदें कीं, खानखामों की झिड़कियाँ सहीं।" बिना बात समझा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किए ही विराम का चिह्न दे बैठते थे। जैसे—"जिस भाँति सितार की ध्वनि गगन मंडल में प्रतिध्वनित हो रही थी। उसी भाँति प्रभा के हृदय में लहरों की हिलोरें उठ रही थीं।" इस प्रकार के अनेक अवतरण उपस्थित किए जा सकते हैं। 'ही' का प्रयोग भी सदैव अनुचित हुआ है। इससे कभी कभी अर्थ-बोध में अस्थिरता उत्पन्न हो जाती है। "ये सब काँटे मैंने बोए ही हैं,"—वस्तुत: लेख का अभिप्राय यहाँ पर उस अर्थ से है जो 'ही' को "मैंने" के उपरांत रखने से निकलता है। 'सम्मुख' को ये सदैव 'सन्मुख' लिखते थे। इन त्रुटियों के रहते हुए भी मुहावरेदानी गजब की होती थी। उर्दू में हाथ मजे रहने के कारण इन्होंने मुहावरों का बड़ा उपयुक्त उपयोग किया है। कहीं-कहीं तो इन्होंने मुहावरों की झड़ी लगा दी है। लगातार मुहावरों से ही वाक्य पूरे होते गए हैं। "उस समय गिरधारीलाल का चेहरा देखने योग्य होगा। मुँह का रंग बदल जायगा, हवाइयाँ उड़ने लगेंगी, आँखें न मिला सकेगा। शायद मुझे फिर मुँह न दिखा सके।" इत्यादि।

प्रेमचंद्रजी की आरंभिक रचनाओं में प्रौढ़ता न थी। उन कृतियों को देखकर यह आशा नहीं की जा सकती थी कि कुछ ही दिनों में उनमें आकाश-पाताल का अंतर हो जायगा। इस समय न तो उनकी भाषा ही संयत होती थी और न भावना ही। वाक्यों की छोटाई पर ध्यान देने से यह स्पष्ट ज्ञात होगा कि वे इसलिये छोटे नहीं होते थे कि भाव अधिक स्पष्ट हों वरन् वे लेखक की भीरुता के कारण ऐसे लिखे जाते थे। उस समय ये बड़े-बड़े वाक्यों के संबंध-क्रम का निर्वाह ही नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर सकते थे। यही कारण है कि भाषा में शिथिलता प्रतीत हो गई है। एक-एक वाक्य में भाव टुकड़े-टुकड़े होकर रह मिलते हैं। वाक्य-समूह असंबद्ध और धारा-प्रवाह छिन्न-भिन्न होता था। इनके मुहावरों के सुंदर प्रयोग से भले ही सजीवता उत्पन्न हो जाती रही हो, परंतु इनकी लेख-चातुरी की सराहना कदापि नहीं की जा सकती थी। इसके अतिरिक्त उस समय की लिखी कहानियों में भावना का प्रौढ़ प्रसार भी नहीं मिलता। भाव-व्यंजना में अपरिपक्वता स्पष्ट झलकती है। चरित्र-चित्रण में भी वह मनोवैज्ञानिक विवेचन और उत्थान-पतन न मिलेगा, जो आज स्वाभाविक सा दिखाई पड़ता है। संस्कृत तत्समता का बनावटी प्रयोग यह दिखाता था कि एक मौलवी, पंडित बनना चाहता है। इसका तात्पर्य केवल यह है कि उनके संस्कृत शब्दों के प्रयोग में अपनापन न था। भाषा साधारणतः उखड़ी मालूम पड़ती थी। उस समय की एक कहानी का छोटा सा अवतरण देखिए—

"हमारे पहलवानों में वैसा कोई नहीं है, जो उससे बाज़ी ले जाय। मालदेव की हार ने बुँदेलों की हिम्मत तोड़ दी है। आज सारे शहर में शोक छाया हुआ है। सैकड़ों घरों में आग नहीं जली। चिराग़ रोशन नहीं हुआ। हमारे देश और जाति की वह चीज़ अब अंतिम स्वास ले रही है, जिससे हमारा मान था। मालदेव हमारा उस्ताद था। उसके हार चुकने के बाद मेरा मैदान में आना धृष्टता है। पर बुँदेलों की साख जाती है तो मेरा सिर भी उसके साथ जायगा। कादिर ख़ाँ बेशक अपने हुनर में एक ही है, पर मेरा मालदेव कभी उससे कम नहीं। उसकी तलवार यदि उसके हाथ में होती तो मैदान ज़रूर उसके हाथ रहता। ओरछे में केवल एक ठाकु-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वार है जो कादिर ख़ाँ की तलवार का मुँह मोड़ सकती है। वह भैया की तलवार है। अगर तुम ओरछे की नाक रखना चाहती हो तो उसे मुझे दे दो। यह हमारी अंतिम चेष्टा होगी। यदि अबके हार हुई तो ओरछे का नाम सदैव के लिये डूब जायगा।"

क्रमशः इन त्रुटियों का परिमार्जन होता गया। भाव-व्यंजना का जो प्रौढ़ रूप इनकी रचना में आज दिखाई देता है वह कुछ ही काल पूर्व इस प्रकार का था यह आश्चर्य-जनक है। इस प्रकार की आध्यवसायिक उन्नति देखने में कम आती है। उनको उस समय की त्रुटियाँ संस्कारजन्य थीं अतएव आज भी उनका कुछ न कुछ आभास मिलता ही है। पर वे विशेष खटकती नहीं। उन्होंने अपनी कहा-नियों और उपन्यासों में चमत्कार का विशेष उपयोग नहीं किया। इनका आरंभ सदैव इतिवृत्तात्मक कथानक से होता है। जिस नवीनता एवं चमत्कार का दर्शन हमें 'प्रसाद' जी की रचनाओं में हो चुका है ठीक उसके विपरीत इनकी रचना में मिलता है। इनकी भाव-व्यंजना में काव्य-कल्पना का उल्लास दिखाई पड़ता है; पर इनकी रचना मृत्यु-लोक की व्यावहारिक सत्ता का चित्र है। उनकी भाषा में उन्मुक्त उन्माद एवं विशुद्धता दिखाई पड़ती है; परंतु इनकी शैली में भाषा का व्यावहारिक चलतापन विशेष उल्लेखनीय है। उनके कथानक का समारंभ कुतूहल और चमत्कार के साथ स्वाभाविकता का आधार लेकर उत्पन्न होता है और इनका जगत् की स्थूल-विवेचना एवं नित्य की अनुभूतियों के आश्रय पर खड़ा होता है। एक स्वर्ग का आह्लादपूर्ण यौवन है और दूसरा हमारे साथ दिन रात रहनेवाला मृत्यु-लोक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का सहचर। एक में हम प्रकृति का मनोरम श्रृंगार पाते हैं; दूसरे में मानव-जीवन की सहचरी समीक्षा। एक हमें स्वर्गीय मधुरता का प्रतिबिंब दिखाता है और दूसरा वास्तविक संसार का चित्र।

इनकी शैली का विवेचन करते समय एक बात स्पष्ट सामने आती है, वह यह कि अपने विचारों को स्थूल बनाने के लिये इन्होंने सदैव 'जैसे', 'तैसे', 'मानो', का प्रयोग किया है। इससे इनका तात्पर्य केवल कथित विषय को अधिक बोधगम्य बनाने की चेष्टा ही ज्ञात होता है। कहीं कहीं तो यह अत्यंत स्वाभाविक और उपयुक्त प्रतीत होता है। इससे भाव-व्यंजना अधिक सुंदर हो गई है। परंतु अनेक स्थानों पर अस्वाभाविक एवं अप्रयोजनीय भी ज्ञात होता है। इस आलंकारिक पद्धति का अनुसरण करने में यही तो अड़चन उपस्थित होती है कि यदि वह वास्तविकता का सीमोल्लंघन कर गई तो सुंदर के स्थान पर भयंकर ही नहीं वरन अरुचिकर भी हो जाती है। जैसे—"व्याकुल हो गई—जैसे दीपक को देखकर पतंग; वह अधीर हो उठी जैसे खाँड़ की गंध पाकर चींटी। वह उठी और द्वारपालों, चौकीदारों, की दृष्टियाँ बचाती हुई राजमहल के बाहर निकल आई—जैसे वेदना-पूर्ण क्रंदन सुनकर आँसू निकल आते हैं।" "जैसे चाँदनी के प्रकाश में तारागण की ज्योति मलिन पड़ गई थी, उसी प्रकार उसके हृदय में चंद्ररूपी सुविचार ने विकार रूपी तारागण को ज्योतिहीन कर दिया था।" "जिस प्रकार अरुण का उदय होते ही पक्षी कलरव करने लगते हैं और बछड़े किलोलों में मग्न हो जाते हैं, उसी प्रकार सुमन के मन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में भी क्रीड़ा करने की प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई।" "जब युवती चली गई तो सुभद्रा फूट-फूटकर रोने लगी। ऐसा जान पड़ता था मानों देह में रक्त ही नहीं, मानो प्राण निकल गए हैं। वह कितनी निःसहाय, कितनी दुर्बल, इसका आज अनुभव हुआ। ऐसा मालूम हुआ मानो संसार में उसका कोई नहीं है। अब उसका जीवन व्यर्थ है। उसके लिये अब जीवन में रोने के सिवा और क्या है। इसकी सारी ज्ञानेंद्रियाँ शिथिल सी हो गई थीं मानो वह किसी ऊँचे वृत्त से गिर पड़ी हो।" "जैसे सुंदर भाव के समावेश से कविता में जान पड़ जाती है और सुंदर रंगों से चित्र में, उसी प्रकार दोनों बहनों के आ जाने से झोपड़े में जान आ गई। अंधी आँखों में पुतलियाँ पड़ गई हैं। मुरझाई हुई कली शांता अब खिलकर अनुपम शोभा दिखा रही है। सूखी हुई नदी उमड़ पड़ी है। जैसे जेठ-वैसाख की तपन की मारी हुई गाय सावन में निखर जाती है और खेतों में किलोलें करने लगती है, उसी प्रकार विरह की सताई हुई रमणी अब निखर गई है।"

कथोपकथन के तारतम्य में इस बात की बड़ी आवश्यकता होती है कि उस समय की वाक्य-योजना में वह स्वाभाविक भावभंगी हो जो वस्तुतः नित्य के व्यवहार में प्राप्त होती है। बातचीत में प्रायः वाक्य का शुद्ध क्रम नहीं रह जाता। जैसे "आप जाइए, आपको क्या पड़ी है।" को साधारण कथोपकथन में कहा जायगा—"जाइए आप। क्या पड़ी है आपको।" इसी कारण वास्तविकतावादी अधिकतर नाट्य- णाली का अनुसरण करते हैं। इस नाट्य-प्रणाली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का अनुसरण 'प्रेमचंद' में नहीं प्राप्त होता। वे सीधे-सीधे व्याकरण के निश्चित मार्ग का अवलंबन समीचीन समझते हैं। इससे कथोपकथन की भाषा शिथिल सी हो गई है। जिन स्थानों पर इन्होंने इस नाट्य-प्रणाली का अनुसरण किया है, वहाँ पर जीवन आ गया है, परंतु ऐसे स्थल न्यूनातिन्यून हैं। 'मानो उसका कोई है ही नहीं संसार में' न लिख वे सदैव सीधा-सीधा रूप "मानो संसार में उसका कोई नहीं है" लिखते हैं। "युक्ति कोई ऐसी बताइए कि कोई अवसर पड़े तो मैं साफ़ निकल जाऊँ" ही लिखेंगे। इस प्रकार नाटकोपयोगी कथोपकथन प्रेमचंद्र की रचना में अधिक न मिलेगा। कहीं-कहीं जहाँ हृदय की धधकती अग्नि बाहर निकलने की चेष्टा करती है; अथवा जहाँ हृदय से, अधिक दिनों के संचित उद्गार, वायु के प्रबल वेग की भाँति निकलना चाहते हैं वहाँ भाषा भी स्वभावतः संयत और भावुक हो गई है। पर ऐसे स्थान हैं बहुत थोड़े। जैसे—"सुमन ने आँखें खोलीं और उन्मत्तों की भाँति विस्मित-नेत्रों से शांता की ओर देखकर बोली, कौन शांति? तू हट जा, मुझे मत छू, मैं पापिनी हूँ, मैं अभागिनी हूँ, मैं भ्रष्टा हूँ, तू देवी है, तू साध्वी है, मुझसे अपने को स्पर्श न होने दे, इस हृदय को वासनाओं ने, लालसाओं ने, दुष्कामनाओं ने मलिन कर दिया है, तू अपने उज्ज्वल स्वच्छ हृदय को पास मत ला, यहाँ से भाग जा। वह मेरे सामने नरक का अग्निकुंड दहक रहा है, यम के दूत मुझे उस कुंड में झोंकने के लिये घसीटे लिए जाते हैं, तूं यहाँ से भाग जा। यह कहते कहते सुमन फिर मूर्च्छित हो गई।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यों तो इनकी सभी रचनाएँ खिचड़ी भाषा में हुई हैं—उनमें हिंदी-उर्दू का परिमार्जित सम्मिश्रण हुआ है, परंतु कथोपकथन में इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है। उसमें यदि बोलनेवाला मुसलमान है तो उर्दू की तत्समता और यदि हिंदू है तो संस्कृत की तत्समता अधिक प्रयुक्त हुई है। इनका यह विचार उचित है अथवा अनुचित, स्वाभाविक है या अस्वाभाविक इसका विवेचन यहाँ समीचीन न होगा अतएव केवल इतिवृत्त का ही प्रदर्शन कराया जाता है। प्रेमचंद्रजी को जहाँ कदाचित् अवसर प्राप्त हुआ है वहाँ उन्होंने दिहाती अथवा प्रांतीय भाषा का भी प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त साधारणतः उनके वाक्य सदैव छोटे-छोटे होते हैं। इनसे भाव-प्रकाशन में सुगमता अवश्य हुई है, परंतु धारा-प्रवाह में बड़ा विघ्न उपस्थित हुआ है। उनकी सभी रचनाओं में—क्या उपन्यास क्या छोटी-छोटी कहानियाँ सब में—धारा-प्रवाह का बड़ा व्यतिक्रम पाया जाता है। भाव-व्यंजना बड़ी उखड़ी-पुखड़ी ज्ञात होती है। एक-एक वाक्य एक-एक बात लेकर—अलग-विलग खड़े सामने आते हैं। एक के साथ दूसरे का कोई सामंजस्य नहीं। यह बात विशेषतः उन स्थानों में प्राप्त होती है जहाँ उन्हें इतिवृत्तात्मक विवरण देना पड़ा है अथवा विषयोद्घाटन करना पड़ा है। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उन्हें विषयारंभ में बड़ी दुरूहता का सामना करना पड़ा है। इसके अतिरिक्त इसका एक और कारण ज्ञात होता है। वह विषय का आकस्मिक आरंभ न होना है। प्रत्येक विषय के आरंभ में कुछ न कुछ भूमिका बाँधना प्राचीन परिपाटी का उद्बोधन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करना है। यह विचार केवल प्राचीन कहकर ही नहीं टाला जा सकता। इसकी दूसरी दुर्बलता यह है कि इसमें वैसा आकर्षण भी नहीं रहने पाता। अँगरेजी साहित्य में स्काट के उपन्यासों में भी यह बात विशेष रूप से पाई जाती है। इससे पाठक का मन सहसा पाठ्य-विषय में अनुरक्त नहीं होने पाता वरन् भूमिका की झाड़ी में ही उलझकर रह जाता है। इसी भूमिका भाग में प्रेमचंद्र की शैली विशेष उखड़ी जान पड़ती है। इन इतिवृत्तात्मक स्थलों में यदि नवीन और चमत्कारपूर्ण शैली का ग्रहण किया गया होता तो इतना रूखापन न आने पाता। साथ ही पाठकों का चंचल चित्त भी विषय की ओर अविलंब आकृष्ट हो जाता।

यह शिथिलता सर्वत्र हो, यह बात नहीं है। भाषणों में स्थान-स्थान पर, जहाँ हृदय के उथल-पुथल का मार्मिक चित्र अंकित किया गया है, वहाँ स्वभावतः भाव-शैली के साथ-साथ भाषा-शैली भी संयत एवं रोचक हो गई है। वहाँ इनके छोटे-छोटे वाक्य बड़े प्रभावशाली तथा आकर्षक हो गए हैं। इसके अतिरिक्त इन्हीं स्थानों पर धारा-प्रवाह का भी सुंदर निर्वाह पाया जा सकता है। यों तो ऐसे स्थान अधिक नहीं हैं, पर जो हैं वे बड़े ही मनोहर हैं। एक-एक वाक्य दूसरे से भिड़े हुए हैं। इसी प्रकार भाव भी एक लड़ी में निगुंफित प्राप्त होते हैं। भावों के परिष्कार के साथ-साथ आकर्षण भी बढ़ जाता है। ऐसे स्थानों पर वाक्य-समूह समाप्त किए बिना वाचक रुक ही नहीं सकता। जैसे—

"मनोरमा अचानक तन्मय-अवस्था में उछल पड़ी। उसे प्रतीत हुआ कि संगीत निकटतर आ गया है। उसकी सुंदरता और आनंद अधिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रखर हो गया था—जैसे बत्ती उकसा देने से दीपक अधिक प्रकाशमान हो जाता है। पहले चित्ताकर्षक था, तो अब आवेशजनक हो गया था। मनोरमा ने व्याकुल होकर कहा—आह! तू फिर अपने मुँह से क्यों कुछ नहीं माँगता। अहा! कितना विराग-जनक राग है, कितना विह्वल करनेवाला। मैं अब तनिक भी धीरज नहीं धर सकती। पानी उतार में जाने के लिये जितना व्याकुल होता है; श्वास हवा के लिये जितनी विकल होती है, गंध उड़ जाने के लिये जितनी उतावली होती है, मैं उस स्वर्गीय-संगीत के लिये व्याकुल हूँ। उस संगीत में कोयल की सी मस्ती है। पपीहे की सी वेदना है, श्यामा की सी विह्वलता है, इसमें झरनों का सा ज़ोर है आँधी का सा बल। इसमें सब कुछ है, जिसमें विवेकाग्नि प्रज्वलित, जिससे आत्मा समाहित होता है और अंतःकरण पवित्र होता है। माँ का अब एक क्षण का विलंब मेरे लिये मृत्यु की यंत्रणा है। शीघ्र नौका खोल। जिस सुमन की यह सुगंधि है, जिस दीपक की यह दीप्ति है, उस तक मुझे पहुँचा दे। मैं देख नहीं सकती, इस संगीत का रचयिता कहीं निकट ही बैठा हुआ है, बहुत ही निकट।"

श्री प्रेमचंद्रजी ने जिस समाज का चित्र अंकित करने का बीड़ा उठाया वह दीन है। उसमें स्वर्गीय उल्लास नहीं है, उसमें उच्च भावनाओं का उन्माद नहीं है, यही कारण है कि विशेषतः उन स्थानों पर जहाँ उन्हें कारुणिक अवस्था का वर्णन करना पड़ा है, वहाँ एक दीप्ति उत्पन्न हो गई है। हमारे व्यावहारिक-संसार में दीनता का समाज है। उसमें नित्य प्रति अधिकांश ऐसे उदाहरण प्राप्त होते रहते हैं, जिन्हें देखकर करुणा का उद्रेक हुए बिना नहीं रह सकता। दीन मनुष्यों का विवरण देते समय उनकी भाषा बड़ी मार्मिक और भाव-व्यंजना बड़ी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही द्रावक हुई है। भाषा का अत्यंत चलता रूप ही उन्होंने अपनी रचनाओं में रखा है। बाबू देवकीनंदन खत्री की भाषा का यह संस्कृत और परिमार्जित रूप है। प्रेमचंद्रजी की प्रतिनिधि स्वरूप यही भाषा है। इसी का प्रयोग उन्होंने अधिक-तर किया है। उदाहरण निम्नांकित है।

"यह सोचता हुआ वह अपने द्वार पर आया। बहुत ही सामान्य झोपड़ी थी। द्वार पर एक नीम का वृक्ष था। किवाड़ों की जगह बाँस की टहनियों की एक टट्टी लगी हुई थी। टट्टी हटाई। कमर में पैसों की छोटी पोटली निकाली जो आज दिन भर की कमाई थी। तब झोपड़ी की छान में से टटोल कर एक थैली निकाली, जो उसके जीवन का सर्वस्व थी। उसमें पैसों की पोटली बहुत धीरे से रक्खी जिसमें किसी के कान में भनक न पड़े। फिर थैली को छान में रखकर वह पड़ोस के घर से आग माँग लाया। पेड़ों के नीचे कुछ सूखी टहनियाँ जमाकर रक्खा थीं; उनसे चूल्हा जलाया। झोपड़ी में हल्का सा अस्थिर प्रकाश हुआ। कैसी विडंबना थी। कैसा नैराश्यपूर्ण दारिद्रय था। न खाट न बिस्तर, न बर्तन न भाँड़े। एक कोने में मिट्टी का एक घड़ा था, जिसकी आयु का अनुमान उस पर जमी हुई काई से हो सकता था। चूल्हे के पास हाँडी थी। एक पुरानी चलनी की भाँति छिद्रों से भरा हुआ तवा, और एक छोटी सी कठौत और एक लोटा। बस यही उस घर की सारी संपत्ति थी। मानव-लालसाओं का कितना संक्षिप्त स्वरूप था। सूरदास ने आज जितना नाज पाया था सब उसी हाँडी में डाल दिया। कुछ जव था, कुछ गेहूँ, कुछ मटर, कुछ चने, थोड़ी सी ज्वार और एक मुट्ठी भर चावल। ऊपर से थोड़ा सा नमक डाल दिया। किसकी रचना ने ऐसी खिचड़ी का मज़ा चक्खा है? उसमें संतोष की मिठास थी, जिससे मीठी संसार में कोई वस्तु नहीं। हाँडी चूल्हे पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चढ़ाकर वह घर से निकला, द्वार पर टट्टी लगाई और सड़क पर जाकर एक बनिए की दूकान से थोड़ा सा आंटा और एक पैसे का गुड़ ले आया। आंटे को कठौते में गूँधा और तब आध घंटे तक चूल्हे के सामने खिचड़ी का मधुर आलाप सुनता रहा। उस धुँधले प्रकाश में उसका दुर्बल शरीर और उसका जीर्ण वस्त्र मनुष्य के जीवन-प्रेम का उपहास कर रहा था।"

राय कृष्णदास

राय कृष्णदासजी भाव-प्रकाशन की एक विचित्र-शैली लेकर गद्य-साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए। परोक्ष सत्ता की जो भावात्मक अनुभूति मानव-हृदय में होती है उसकी व्यंजना इन्होंने बड़ी ही मार्मिक प्रणाली से की है। एक प्रकार से इस प्रणाली का इन्होंने शिला-न्यास किया। अनुभूति के भावात्मक होने के कारण कल्पना का इन्होंने विशेष आधार रखा है। भावनाओं की गंभीरता के साथ-साथ इनकी भाषा में बड़ा संयम पाया जाता है। इतनी व्यावहारिक और नित्य की चलती-फिरती, सीधी-सादी भाषा का ऐसा उपयोग किया गया है कि भाव-व्यंजना में बड़ी ही स्पष्टता आ गई है। इस भाषा को चलती-फिरती कहने का तात्पर्य केवल यह है कि तत्समता के साथ 'कलपते' और 'अचरज' ऐसे ऐसे कितने शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त साधारण उर्दू के शब्द भी प्रयोग में आए हैं। यों तो स्थान-स्थान पर इन शब्दों के तत्सम रूप ही लिखे गए हैं, परंतु अधिकतर तद्भव रूप तो एक ओर रहा मुहावरों तक को हिंदी का झोंलगा पहनाया गया है। "दिल का छोटा है" के स्थान पर उसका सम्यक् अनुवाद करके "हृदय से लघुतर है" लिखा गया है। "उसका दिल नहीं तोड़ना चाहती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थी" से कहीं अधिक उपयुक्त उन्हें "उनका हृदय नहीं तोड़ना चाहती थी" जँचता है। कुछ शब्द ऐसे भी मिलते हैं जो या तो तद्भव के कारण बिगड़ गए हैं अथवा उनका प्रांतीय प्रयोग हुआ है। जैसे—'साहुत,' 'कांदने', 'कुवरता', 'ढकोसला', 'ढड्ढा', 'मंगते', 'कुंडी', 'राम मोटरिया', 'अकसत', इत्यादि। ऐसा करने के केवल दो कारण हो सकते हैं। एक तो पदावली की रमणीयता और दूसरा भाषा के चलतेपन का विचार। साथ ही 'सो' (वह, इसलिये), 'हो' (हो), 'लों' (तक) से जो पंडिताऊपन प्राप्त होता है वह भी केवल भाषा की सरसता एवं स्वाभाविकता के विचार से लिखा गया है। इन सब बातों को एक ओर रखकर हम यह देखेंगे कि ये सदैव वाक्यों को संपूर्ण करके ही छोड़ते हैं, चाहे ऐसा करना आवश्यक न भी हो। जैसे—"पर मैं अशांत, विचलित या भीत नहीं होता हूँ।" इस वाक्य में यदि 'हूँ' न भी रखा जाता तो भी वाक्य-पूर्ति में कोई बाधा न पड़ती। पर लेखक की शैली एवं प्रवृत्ति भी तो कोई वस्तु है।

इनकी यह भाव-व्यंजनात्मक शैली बड़ी मार्मिक तथा प्रौढ़ होती है। समासांत-पदावली के बिना भी इतना सरस विवरण और बिना उत्कृष्ट शब्दावली का आश्रय लिए हुए भी इतना व्यापक एवं सुचारु रूप संभवतः अन्य स्थानों में न मिल सकेगा। उसमें उनकी वैयक्तिकता की छाप लगी हुई है। गूढ़ आत्मानुभूति का करुणात्मक और आकर्षक निवेदन कितना भावमय हो सकता है इसका सफल प्रमाण उन्होंने अपनी 'साधना' में दिखाया है। छोटे-छोटे वाक्यों का प्रभावशाली सम्मेलन अपूर्व ही छटा दिखाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भावप्रकाशन के सरल, मनोहर, चलते ढंग का उदाहरण नीचे देखिए—

"मैं अपनी मणि-मंजूषा लेकर उनके यहाँ पहुँचा पर उन्हें देखते ही उनके सौंदर्य पर ऐसा मुग्ध हो गया कि अपनी मणियों के बदले उन्हें मोल लेना चाहा। अपनी अभिलाषा उन्हें सुनाई। उन्होंने सस्मित स्वीकार करके पूछा कि किस मणि से मेरा बदला करोगे? मैंने अपना सर्वोत्तम लाल उन्हें दिखाया। उन्होंने गर्व-पूर्वक कहा—अजी, यह तो मेरे मूल्य का एक अंश भी नहीं। मैंने दूसरी मणि उनके आगे रक्खी। फिर वही उत्तर। इस प्रकार उन्होंने मेरे सारे रत्न ले लिए। तब मैंने पूछा कि मूल्य कैसे पूरा होगा? वे कहने लगे कि तुम अपने को दो तब पूरा हो।"

"नदियों ने अपने खेलने का स्थान अपने जन्मदाता पहाड़ों की गोद में रक्खा है, जहाँ वे एक चट्टान से कूदकर दूसरी पर जाती हैं, जहाँ वे ढोकों के संग खेल कूद मचाती हैं और छींटे उड़ाती हैं तथा प्रसन्न होकर फेन-हास्य हँसती हैं, जहाँ वे अपनी ओर झुकी लता-अलियों का हाथ पकड़कर उन्हें अपने संग ले दौड़ना चाहती हैं, जहाँ उनके बाल-संघाती क्षुप अंकुरांगुलियों से गुदगुदाते हैं और वे तनिक सा उचक कर तथा वंक होकर बढ़ जाती हैं, जहाँ वे लड़कपन में भोले भाले मनमाने गीत गाती हैं और उनके पिता उनके प्रेम से उन्हें दुहराते हैं, और जहाँ वे पूरी ऊँचाई से वेग के साथ कूदकर गढ़ों में आती हैं और आप ही अपना दर्पण बनाती हैं।"

इन्होंने भावावेश की चामत्कारिक प्रणाली का अनुसरण किया है। इनकी रचना में भी हमें वही उल्लास एवं उन्माद प्राप्त होता है जो कि पूर्वोक्त 'प्रसाद' जी की रचनाओं में मिल चुका है। इन्हें भी प्रेमचंद्रजी की व्यावहारिकता से काम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं। सांसारिक घटनाओं में ये अपने पाठकों को नहीं पड़े रहने देना चाहते। उसे वे कल्पना की स्वर्गीय विभूति का दर्शन कराना चाहते हैं—"कल्पना का लोक" जो ब्रह्मलोक से भी ऊपर है। यही कारण है कि "दीप्तिमान नीली यवनिका के आगे सहज सस्मित भगवान अमिताभ के दर्शन" मिलने पर "लौकिक प्रसन्नता का" काम नहीं रह जाता। यही कारण है कि उनकी 'आशा' भी रूपात्मक सत्ता धारण कर 'लावण्यवती' बन जाती है; "अतीत वर्तमान बनकर उसके सामने अभिनय करने" लगता है। उनकी आँखों से आँसू नहीं वरन् "ममता की दो बूँद टपक" पड़ती है। "उस वीतराग की ममता ही उनका एक मात्र असबाब" बनता है। 'प्रातः काल हुआ। सूर्य निकला।' कहना उन्हें पसंद नहीं। उनको तो "दिन का आगमन जानकर तमोभुजंगम उदयाचल की सुनहली कंदराओं में जा छिपा। जल्दी में उसका मणि छूट गया।" कहना ही रुचता है। 'उसके मन में धुँधले बादल की तरह भावना' उठती है। संसार की स्थूल अभिव्यक्तियों में उसकी कोई अनुरक्ति नहीं दिखाई पड़ती।

इस प्रकार की भावावेश की शैली में यदि स्थान-स्थान पर वाक्य-विन्यास की ओर विशेष ध्यान न रखा जाय तो भावव्यंजना रूखी हो जाय। शब्दों के चामत्कारिक प्रयोगों के साथ, पद-लालित्य का सामंजस्य स्थापित करना पड़ता है। तभी भाषामाधुरी उत्पन्न होती है। इस माधुरी की भाव-प्रकाशिनी शक्ति उस स्थान पर और अधिक शक्ति-शालिनी बन जाती है—वाक्यों की बनावट में उलट-फेर हो जाता है। "उत्कट इच्छा होती है, वहाँ चलने की।" "सम्राट ने एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महल बनाने को आज्ञा दी—अपने वैभव के अनुरूप, अपूर्व, सुख और सुषमा की सीमा।" "कब मैं चला, कब प्रातः-काल का स्वागत पक्षियों के कोमल और मधुर-कंठ ने किया, कब दोपहर की सूचना पवन की सनसनाहट ने दी, कब स्निग्ध पत्तियों को अपने करों का स्पर्श करके उन्हें अनुराग से किसलयों के सदृश बनाता हुआ सूर्य विदा हुआ, मुझे कुछ मालूम नहीं। कब उसके विदा होते ही नभस्सर में लाखों नलिनी खिल उठीं, कब चंद्रमुखी रजनी आई, इसका भी ज्ञान नहीं।" इसके अतिरिक्त ऊहात्मक-विवरण भी आप बड़ा सुंदर देते हैं। उसमें स्वाभाविकता रहते हुए चमत्कार रहता है। "महाराज की अंगारे जैसी आँखें चित्रकार को भस्म कर रही थीं।" "संध्या का शीतल समीर उसके उष्ण मस्तक से टकराकर भस्म हुआ जाता था। कुमार को बोध होता था कि सारा प्रासाद भूकंप से ग्रस्त है। अनेकानेक प्रेत-पिशाच उसे जड़ से उखाड़े डालते हैं। क्षितिज में सांध्य-लालिमा नहीं, भयंकर आग लगी हुई है। प्रलय काल में देर नहीं।" "एक तरुणी तपस्या कर रही थी—घोर तपस्या कर रही थी। उसकी तपस्या से त्रैलोक्य काँप उठा।" इत्यादि।

भाव-व्यंजना में इन्होंने अलंकार की शैली का मनोहर उपयोग किया है। जैसे, तैसे का एक रूप हम श्री प्रेमचंद्रजी की रचनाओं में पाते हैं। उनके भावाधार व्यावहारिक जगत् के हैं, अतएव उनकी उपमाएँ और उत्प्रेक्षाएँ भी नित्य के साधारण व्यवहार-क्षेत्र की हुई हैं। परंतु इन, राय कृष्ण-दासजी की, उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं में असाधारण अनुभूति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की व्यंजना एवं काल्पनिक विभूति का प्रकाशन है। उनकी भावात्मक-विचार-शैली के चमत्कार-वाद का प्रभाव उनके आलंकारिक कथन पर भी पड़ा है। उनका अनुभव-जगत् कितना दिव्य एवं उत्कृष्ट है इसका पता इससे सरलता से लग जाता है। उनके इस आलंकारिक कथन से शैली दुरूह हो गई हो ऐसी बात भी नहीं है। उसमें भावों का इतना अच्छा परिष्कार हुआ है कि कथनप्रणाली में महत्वपूर्ण आकर्षण आ गया है। राय साहब के इस अलंकार-वाद में उनकी प्रतिभा की प्रखरता एवं कल्पना की विशदता प्रधान रूप में उपस्थित है। जैसे—"चिकनी निहाई में उस आभूषण की छाया, ब्राह्म मुहूर्त की धूसरता में ऊषा के प्रकाश की भाँति झलक रही थी।" "जिस प्रकार ज्वालामुखी से लावा का प्रवाह आँख मूँदकर दौड़ पड़ता है और उसके आगे जो पड़ता है, उसे ध्वस्त करता चलता है, उसी प्रकार राजकुमार का मानसिक आवेश भी अंधा होकर दौड़ रहा था।" "यदि प्रतप्त अंगार औचक शीतल पानी में पड़ जाय तो शतधा फट जाता है, उसी तरह उसके हृदय की दशा हो रही थी।" "महारानी उसी शकल में धड़धड़ाती हुई राज-सभा में उतर आई—पहाड़ी प्रवाह के वेग में दौड़नेवाली शिला की तरह!" "वह कन्या प्रभातवेला के ऐसी टटकी और कमनीय है तथा स्वाती की बूँद की तरह निर्मल, शीतल और दुर्लभ है।" "जिस प्रकार अचेतन यंत्र चेतन बनकर काम करने लगता है उसी प्रकार यह चेतन, अचेतन यंत्र होकर, अपनी धुन में लगा था।" "सम्राट का स्वप्न विकीर्ण हो गया, जैसे गुलाब की पँखड़ियाँ अलग-अलग होकर उड़-पुड़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाती हैं।" "गुलाब की क्यारियाँ खिली हुई हैं। बीच बीच में प्रफुल्ल बेले की बल्लियाँ हैं। मानो नवेला प्रकृति के पौधे ओठों में दशन-पंक्ति दमक रही हैं।" "सुप्त बालक के मुँह पर जिस प्रकार हँसी झलक जाती है उसी तरह दिन बीत गया। शिखर जिस भाँति धीरे धीरे कुहरा आच्छादित करता है उसी भाँति अँधेरा बढ़ने लगा।" "वह देखो समभूमि पर की नदियाँ और जंगल कैसे भले मालूम होते हैं। मानो वसुंधरा ने अपनी अलकों को मोतियों की लड़ों से अलंकृत किया है। क्षितिज में रंग विरंग बादल उसकी साड़ी की भाँति शोभित हो रहे हैं।" केवल भाव-व्यंजना के ऊहात्मक विवरण देने में ही इन्होंने इस आधार से काम नहीं लिया वरन् स्थान स्थान पर भाव-श्रृंखला के बढ़ाने में भी इसका उपयोग हुआ है। जैसे—"जिस समय तुम देखते हो कि विशालकाय गजराज किसी परम लघु उद्वेग से हारकर विचलित हो रहा है उस समय तुम उसके गंडस्थलों से मद बहाने लगते हो और वह प्रकृतिस्थ हो जाता है। उसी प्रकार जिस समय तुम देखते हो कि मेरा मन क्षुब्ध हो रहा है और क्रुद्ध सागर में पड़े पोत से मेरी दशा हो रही है उस समय तुम मेरे आँसू बहाने लगते हो और मैं शांत हो जाता हूँ।" इत्यादि।

भाषा-शैली की दिव्यताओं के साथ साथ इनमें धारा-प्रवाह का संयत और आकर्षक रूप रहता है। आकर्षक वह इस प्रकार होता है कि एक स्थान से पढ़ना आरंभ करने पर किसी स्थान विशेष पर ही जाकर प्रगति रुकती है। इससे शैली में दृढ़ गठन उत्पन्न होता है। वाक्य परस्पर संबद्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होते हैं। एक वाक्य के पढ़ते ही आगामी वाक्य का आभास मस्तिष्क में स्वयं उपस्थित हो जाता है। वाक्य-विन्यास की सुंदरता इससे और भी उद्दीप्त हो गई है, क्योंकि शब्द-शोधन और चयन बड़ा ही उपयुक्त बन पड़ा है। यदि लेखक रूखे सूखे इति-वृत्तात्मक स्थानों पर भी धारा-प्रवाह का निर्वाह कर लेता है तो और कहीं किसी स्थान पर उसकी इस विभूति की परीक्षा प्रयोजनीय नहीं। ऐसे स्थानों पर भी राय साहब की लेखनी बड़ा मार्मिक चित्र उपस्थित करती है। जैसे—

"अब स्वर्णकार के सामने एक स्वप्न का आविर्भाव हुआ। निद्रा के तमिस्र लोक में आलोक का संचार होने लगा। स्वर्णकार ने अपने को एक प्रभावपूर्ण घाटी में पाया। चारों ओर छोटी-छोटी टेकरियाँ थीं; उन पर हरियाली का अटल राज्य। वनस्पति जगत् के संग सूर्य की किरणें खेल रही थीं। सारी वनस्थली फूलों से लदी हुई थी। रंगों का मेला लग रहा था—वही प्रकृति का मीना-बाजार था। सौरभ का कोश खुला हुआ था। मधुप की सेलियाँ गुंजार कर रही थीं। पुष्पावलियों पर झूम रही थीं। इधर उधर चिड़ियाँ चहचहा रही थीं। बीच में एक स्वच्छ फेनिल क्षीण स्रोत कलकल करके बह रहा था। वसंत पवन धीरे धीरे चल रहा था। अटकता हुआ चल रहा था। पुष्पों की भीड़ में उसे मार्ग ही न मिलता था। एक-एक भूलभुलैया में पड़ा हुआ था।" "स्रोत के उस पार एक बाला पुष्प बन अलसगति से घूम रही थी। , वह इस पुष्प-समूह की आत्मा है क्या? उसका सारा शरीर पुष्पाभरणों से सजा है। हाथ में एक डोलची है जिसमें वह फूल चुन चुनकर रख रही है। वह, जाने किस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विचार में मग्न है, और उसी अन्य-मनस्क अवस्था में कोई गान गुनगुना रही है। वह निर्मलता, सुंदरता, वह पवित्र भाव, वह स्वर्गीय अस्फुट-गान, सारे दृश्य में मिलकर क्या समा बाँध रहे हैं।"

राय साहब की रचनाओं में "परोक्ष आलंबन के प्रति प्रेम भाव का जैसा पुनीत उत्कर्ष है, उसी के अनुरूप मनोरम रूप-विधान और सरस पद-विन्यास भी है।"

वियोगी हरि

इसी परोक्ष आलंबन का वैभव हम श्री वियोगी हरि की रचनाओं में पाते हैं। पर इस वैभव के प्रकाशन-प्रणाली में अवश्य अंतर है। और यह अंतर साधारण नहीं है। जिन विशेषताओं का विवेचन हम राय साहब की भाषा-शैली में कर चुके हैं उनको इनकी रचना में कहीं नहीं पाते। न वह कथन की सरल तथा व्यावहारिक विशदता है और न गूढ़ातिगूढ़ भावना का प्रकाश-चित्र ही प्राप्त होता है। इन दोनों लेखकों की भाषा-शैली में आकाश-पाताल का अंतर है। राय साहब भली भाँति समझते हैं कि यदि हृदय की मार्मिक ग्रंथियों को सीधे-सीधे न सुलझाया जायगा तो वे कदापि स्पष्ट न हो सकेंगी। उनके लिये दुरूह संस्कृत तत्समता आवश्यक नहीं। जिस समय हृदय में सरस—अथवा किसी प्रकार की—भावनाओं का उद्रेक होता है उस समय मस्तिष्क को इतना अवकाश नहीं रह जाता कि छाँट छाँटकर अथवा गढ़ गढ़कर लंबी-चौड़ी समासांत पदावली का निर्माण कर सके। उस समय भावावेश का व्यावहारिक प्रकाशन ही स्वाभाविक एवं समीचीन है। यदि भाषा की संस्कृति अथवा लच्छेदार पदावली की छान-बीन के फेर में लेखक पड़ता है तो केवल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लड़ी ही न बिखर जायगी प्रत्युत कृत्रिमता का आभास दिखाई पड़ने लगेगा।

पर जिसे गद्य काव्य की पांडित्य-पूर्ण उद्भावना ही अभिप्रेत है उसे इन बातों से कोई प्रयोजन नहीं। हृदय की भावनाओं की वाह्य जगत् में वस्तुतः सम्यक् स्पष्ट व्यंजना हो, इस बात की उसे विशेष चिंता नहीं। मानव-हृदय में अपने भावावेग की मधुर अनुभूतियों का प्रकाश डालना भी उसे विशेष प्रयोजनीय नहीं ज्ञात होता। वह भाषा की उत्कृष्टता के लिये भाव-व्यंजना को बलिदान चढ़ा सकता है। वह अपनी भावनाओं का बड़ा ही सुंदर शरीर उपस्थित करता है। उसके लिये यही सब कुछ है। उस शरीर में आत्मा है कि नहीं, वह कुछ बोलता है कि नहीं अथवा उसमें चेतनता का प्रकाश है कि नहीं इसकी समीक्षा करने वह नहीं बैठता। हमें वियोगीजी की रचनाओं में इसी भ्रांत प्रवृत्ति का परिपुष्ट प्रमाण मिलता है। उनकी अधिकांश भाव-व्यंजना दुरूह संस्कृत तत्समता लिये हुए समासांत पदावली में हुई है। कहीं-कहीं तो उनकी शैली बाण की कादंबरी से टक्कर लेने लगी है। जैसे—

"जब मैं अति विशद निर्जन अरण्य में कलरव-कल-कलित सुललित झरनों का सुगति-विन्यास देखता हूँ, मंद स्रोतस्वती-सरित-तट-तरु-शाखा-विहरित-कलकंठी-कोकिल-कुहुक-ध्वनि सुनता हूँ, प्रभात-ओस-कण-झलकित-हरित-तृणाच्छादित-प्रकृति-परिष्कृत-बहु-वनस्पति-सुगंधित-सुखद-भूमि पर लेटता हूँ, तथा नाना-विहंग पूर्ण-सुफलित-वृक्षावृत-गिरि-सुवर्ण-शृंग-शुभ्र-स्फटिकोपम-शिलासन पर बैठकर प्रकृति-छटा-दर्शनोन्मत्त-अर्धोन्मीलित-साश्रु-नयन-द्वारा अस्तप्राय तप्त-कांचन-वर्ण रवि-मंडल-भव-कमनीय-कांति की ओर निहारता हूँ, तब स्वभाव-सुंदर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लज्जावनत अप्रकट-सुमन-सौरभ-रसिक-पवन आकर, श्रवण-पुट-द्वारा तेरा विरहोत्कंठित प्रिय संदेश सुना जाता है।

"प्यारे, तू नित्य ही मेरे द्वार पर सघन-घन-तमाच्छन्नकृष्ण-वसन-लसितनिशि-समय सुजन-मन-मोहिनी रसिक-रस-सोहिनी वेणु बजाता है; माधवी-मल्लिका-मकरंद-लोलुप-मलिंद-गुंजार-समुल्लसित, नवरस-पूरित, सुप्रेम-प्रतिभा-समुदित-कवि-हृदय-द्वारा स्वच्छन्द-आनन्द-कन्द-संदेश भजता है, और कभी-कभी विरह-दग्ध-उर-निस्सरित-प्रेमाश्रु-वर्षण वा संयोग-गत-प्रगाढ़ालिंगन-रोम-हर्षण में अपनी सुप्रीति-मय झलक दिखा जाता है।"

वियोगीजी के संदेश की यह व्यंजना है। संभव है परमात्मा घट-घट व्यापी होने के कारण इसे समझ ले और शीघ्र ही इसमें अन्तर्निहित भावावेश की नस पकड ले परंतु साधारण जन इसकी मार्मिकता का परिचय विना सचेष्ट कष्ट उठाए नहीं पा सकता। बेचारा वाग्जाल के झाड़ी-झंखाड़ में ही अटका रह जायगा। उसके हृदय में स्थित पुष्पपराग का आनंद-लाभ कदापि न कर सकेगा और लेखक के सधारण प्रमाद से उसकी मनोहर अनुभूतियों का सम्यक् अनुशीलन भी न कर सकेगा। वह गद्य-काव्य का रूप अवश्य देख लेगा परंतु उसमें चित् का अंश भी है यह उसकी आशा का केवल अनुमान भर होगा। इस प्रकार की भाषा-शैली वस्तुतः अव्यावहारिक एवं भावनाओं की बोधगम्य व्यंजना में सर्वथा असमर्थ ही होती है। ललित पदावली होते हुए भी मधुरता का ह्रास दिखाई पड़ता है। मधुरता रहती अवश्य है परंतु भावावेश की अनुभूति न होने से वास्तविक गुण का बोध नहीं होता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस संस्कृत-शैली के अनुशीलन के कारण स्वभावतः भाषा स्थान-स्थान पर सानुप्रासिक दिखाई पड़ती है। यह अनुप्रास कृत्रिम नहीं वरन् प्रकरण-प्राप्त और अर्थ-व्यंजक होता है। "अपनी लाड़िली ललो की एक लोला और सुन लो। किसी तरह मैंने अपना मन-मानिक मानसी मंजूषा में बंद करके रख छोड़ा है।" "आपका सहज स्नेह तथा सरल स्वभाव मेरे हर्ष-हीन हृदय के जिस कठोर कोण में विराजित हुआ, वहाँ से अकथनीय आह्लाद के सुभग-स्रोत बहने लगे। आप के स्तन्य दान से पुष्टि और तुष्टि की चरम-सीमा का पूर्णानुभव हो गया। कर-कमल की छाया से मायामय आवरण हटाकर आज नितांत-निर्भयता-निरत-निद्रा में जीवन-जागृति ज्योतिर्मयी कर रहा हूँ।" इस प्रकार के अनुप्रासों से यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि उनके आगमन के लिये लेखक को कष्ट नहीं उठाना पड़ा है। वे स्वाभाविक हैं अतएव सुंदर हैं।

नाटककार कथोपकथन में स्वाभाविकता उत्पन्न करने के लिये स्थान-स्थान पर वाक्य-रचना में कुछ उलट-पुलट कर दिया करते हैं। व्यावहारिकता के विचार से भी यह आवश्यक है। आवेशपूर्ण भाषा-शैली में इसका बड़ा प्रभाव पाया जाता है। इस प्रकार के उलट-फेर से आवेशपूर्ण कथोपकथन में बड़ी उग्रता उत्पन्न हो जाती है। वियोगी-जी ने भी इसका उपयोग किया है। वाक्यों का यह उलट-फेर उस समय और भी अच्छा ज्ञात होता है जब लगातार कई वाक्यों में इसका प्रयोग होता है। यदि भिन्न-भिन्न स्थानों पर एकाध वाक्य इस प्रकार के लिखे गए तो वे उतने सुंदर और मधुर न लगकर अस्वाभाविक एवं अप्रयोजनीय जान पड़ते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। इस प्रकार के प्रयोग से कोई चमत्कार विशेष भी नहीं प्रकट होता। "परसों गुरुदेव ने जो कहा था," "हैं! भला देखो तो!!" "पर हैं यह सब आप के मनमोदक।" "स्वप्न-पटल पर अंकित-सा दिखाई देता है। आज तुम्हारा उपदेश!", "पिला दो प्यारे! इन्हें अपने दर्शन का दो घूँट पानी!", "उड़ेल दो प्यारे! थोड़ा सा सौंदर्य-मधु इन उन्मत्त मधुकरियों को।" यदि कहीं-कहीं इस प्रकार के प्रयोग दिखाई पड़ते हैं तो वे प्रभावरहित और व्यर्थ ज्ञात होते हैं। परन्तु हाँ! जहाँ एक ही लगाव में कई वाक्यों में इस प्रकार का वाक्य-व्यतिक्रम रहता है वहाँ कुछ स्वाभाविकता और प्रभाव रहता है। पर ऐसे स्थल न्यूनातिन्यून हैं। जैसे—"कैसा होगा वह वीणा पर हाथ रखनेवाला, कैसी होगी उसकी गति-माधुरी, कैसी होगी उसकी सरल-मंद-मुसकान!"

इन्होंने 'आख़िर', 'क़ैद', 'दर्द', 'सर्फ़', 'ख़ुदी', 'चीज़', 'तरफ़', 'ज़हरीला', 'ख़ैर', 'आवाज़', 'बाज़ी', 'आफ़त', इत्यादि अनेक उर्दू के तत्सम शब्दों का प्रयोग इधर उधर किया है। यह विशेष बुरा नहीं है। परंतु जहाँ संस्कृत की घोर तत्समता के बीच उर्दू का एक तत्सम शब्द आ पड़ा है वहाँ वह 'हंसमध्ये वको यथा' बड़ा अस्वाभाविक ज्ञात होता है। संभव है इस प्रकार के प्रयोग में लेखक का सिद्धांत अथवा चाव विशेष हो, परंतु भाषा-सौष्ठव के विचार से न तो इसमें कोई चमत्कार ही प्रकट होता है और न स्वाभाविकता ही दिखाई पड़ती है। उदाहरण के लिये दो चार अवतरण ही पर्याप्त होंगे। "आज के दिन मेरी विचार-तरंग-माला सांसारिक परिस्थिति रूपी तूफ़ान से चंचल होने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगी है, मेरी स्वतंत्रता शनैः शनैः स्वार्थियों की कृतघ्नता रूपी काल-कोठरी में छिपती जा रही है।" यहाँ क्या अच्छा होता यदि तूफ़ान धीरे धीरे के साथ आ जाता। उसका शनैः शनैः के साथ आना कितना अस्वाभाविक और अव्यवहार्य है। "वही हिमशिखर अकस्मात् अनलज्वालाएँ उगल उठा! जेठ मास के रेगिस्तानी तूफ़ान ने हिम-शिलाएँ थरथरा डालीं।" "मेरे उद्यान में पक्षियों का कलरव खूब भर रहा था।" "उनकी अर्धोन्मीलित आँखें रक्तांकण में बंद हुई थीं।" "कृत्रिम सभ्यता-रमणी के गुलाम हो रहे हैं।" "तुम्हारे पाद-पद्म-समीपेषु रहते हुए भी इस कुंद जहन ने सना-तन समाज व्यापी स्वार्थवाद का यथेष्ट अध्ययन नहीं किया।" "उसके आधार में न तो विशुद्ध सत्य ही रहता है और न निष्कपट सौजन्य और सौहार्द ही। ऐसे यांत्रिक फैसले को महत्व ही क्या दिया जा सकता है।" इत्यादि।

पर जब इसी उर्दू शब्दावली का व्यवहार कुछ वाक्यों में होता है तो उसमें स्वाभाविक सरलता आ जाती है। इस सरलता के अतिरिक्त उसमें चमत्कार भी प्राप्त होता है। जैसे—"उसका दीदार तेरी तीन कौड़ी दुनिया का काया पलट कर देगा। साथ ही तेरी दुरंगी नज़र भी बदल जायगी। उस नज़ारे के आगे तुझे 'मुक्ति' फीकी और बदरंग जँचेगी।" "यवनिका के चित्र फीके पड़ गए, श्मशान की भीषण ज्वाला जल उठी और कफ़न में लिपटे हुए हज़ारों मुर्दे नेपथ्य में जमा हो गए।" "दिल की सफ़ाई करके दुनिया का कूड़ा करकट साफ़ कर। खुदी को खोकर बेखुदी में मस्त हो। आँख पर से एक तरफ़ी चश्मा हटाकर यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर।" इत्यादि।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके अतिरिक्त जहाँ 'भठियारिन', 'सवार', 'अनाथालय' ऐसे साधारण विषय आए हैं वहाँ इनकी भाषा-शैली भी कुछ सरल तथा चलतापन लिए हुए है। परंतु उसमें शिथिलता आ गई है, इन स्थानों पर इनमें व्यावहारिकता तो अवश्य आई है। परंतु भाषा कुछ उखड़ी हुई है। जैसे—"देख, बाग मोड़ ले, इस मार्ग पर हो आगे न बढ़। इसके दोनों ओर खाई खंदक हैं। तू तो उस तंग गली से जा। रास्ता टेढ़ा मेढ़ा अवश्य है, कंकड़ीला भी है। काँटे भी बिछे मिलेंगे। पर डरना मत, साहस मत छोड़ना, चले ही जाना, बहादुर सवार! जब यह तेरा मस्त सैलानी घोड़ा हाँफने लगे; पसीने से तर हो जाय, अपनी सारी कूद फाँद भूल जाय, तब उतर पड़ना। बस वहीं सफ़र पूरा समझना। तू अपना लक्ष्य-स्थान पा लेना। उसी स्थान पर तुझे स्थैर्य प्राप्त होगा। सुना है, उस स्थैर्य को स्थिति-प्रज्ञों ने 'ब्राह्मी-स्थिति' का नाम दिया है।" इस अवतरण के एक-एक वाक्य एक-एक भाव-विशेष अलग लिए बैठे दिखाई पड़ते हैं।

जिन स्थलों पर इन्होंने अपनी अस्वाभाविक संस्कृत-तत्समता की दीर्घ समासांत पदावली का उपयोग नहीं किया है और न जहाँ वे केवल चलतेपन के विचार से उर्दू की ओर झुके, वहाँ इनकी भाषा विशुद्ध, स्पष्ट, व्यावहारिक एवं श्रुति-मधुर हुई है, और ये सब गुण स्वाभाविक रूप में उपस्थित हुए हैं। इनके लिये कष्ट उठाने की आवश्यकता नहीं पड़ी। वस्तुतः यही भाषा-शैली 'वियोगी' जी की है। इस शैली के अनुसरण में इन्होंने छोटे छोटे वाक्यों का प्रयोग किया है। उसमें भावावेश की परिमार्जित व्यंजना की है। इन स्थलों पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्य गुणों के साथ साथ धारा-प्रवाह का बड़ा ही स्वाभाविक निर्वाह बन पड़ा है। जैसे—

"उस रमणीय संध्या को चबूतरे पर निरुद्देश-सा बैठा हुआ मैं सामने के उच्च शिखरों की ओर टक लगाए देख रहा था। स्वच्छ चाँदनी से निखरे हुए हिमाच्छादित श्वेत शिखर ऐरावत के दाँतों से होड़ लगा रहे थे। बैठा बैठा मैं, न जाने किस उधेड़बुन में लग गया। मेरी विचारशक्ति प्रतिक्षण क्षीण होती जाती थी। ऐसा प्रतीत होता था, मानों मैं किसी गहरे अन्धकूप में डूबता जा रहा हूँ।

एकाएक किसी स्वर्गीय स्वर ने मेरी ध्यान-मुद्रा भंग कर दी। स्वर बाँसुरी का सा था। पीछे निश्चय भी हो गया कि कहीं से बाँसुरी की ध्वनि आ रही है। वह उल्लासित स्वर-लहरी उस प्रशांत नभोमंडल में विद्युत् की भाँति दौड़ने लगी। हृदय लहरा उठा। शिखर मुसकराने लगे। चंद्रमा पुलकित हो गया। परिमल-वाही पवन प्रणय-संकेत करने लगा। दिग्वधुएँ घूँघुट हटा झाँकने लगीं। नाला भी निस्तब्ध हो गया। पत्तियाँ थिरकने लगीं। मुग्धा प्रकृति के सलज्ज मुख पर एक अनुपम माधुरी-कलिका मुकुलित हो उठी। यह सब उसी मोहिनी-ध्वनि का प्रभाव था। तो फिर मैं नव सृष्टि-विधायिनी क्यों न कहूँ।"

राय कृष्णदास और श्री वियोगी हरि में हमने भावावेश का भिन्न-भिन्न रूप देखा है। दोनों लेखकों की विषय-प्रतिपादन-प्रणाली में भी अंतर है। श्री चतुरसेन शास्त्री की रचनाओं में दोनों लेखकों की अपेक्षा भाषा का अधिक व्यावहारिक रूप दिखाई पड़ता है। अँगरेजी भाषा के सुंदर लेखक चार्ल्स लैम्ब में इस बात की विशेषता थी कि वह लिखते समय अपने पाठकों को अपना समझने लगता था। उसकी रचनाएँ आत्मीयता के

चतुरसेन शास्त्री

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाव से इतनी परिपुष्ट एवं ओत प्रोत रहती हैं कि उसकी शैली में चमत्कार विशेष के साथ व्यावहारिकता तथा सरलता का आकर्षक रूप मिलता है। वही बात हमें शास्त्रीजी की उन रचनाओं में प्राप्त होती है जिनमें उन्होंने अपनी हृदयस्थ भावनाओं के उथल-पुथल का मनोरम चित्र खींचा है। उनके पढ़ने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि लेखक अपनी व्यथाओं की राम-कहानी इस प्रकार कह रहा है कि पाठक सुनकर तड़पें, रोएँ, गाएँ और हँसें। पाठकों को विश्वास हो जाता है कि उनका कोई अभिन्न-हृदय मित्र अपना हृदय निकालकर उनके सम्मुख रख रहा है—और इस विचार से रख रहा है कि विचार करें, देखें, सुनें और उसकी सान्त्वना के लिये अपना हृदय आगे बढाएँ। उनकी इस शैली में वैयक्तिकता की गहरी छाप लगी रहती है। जैसे—

"मैं बड़ा प्यासा था। हार कर आ रहा था। शरीर और मन दोनों चुटीले हो रहे थे, कलेजा उबल रहा था और हृदय झुलस रहा था। मैं अपनी राह जा रहा था। मुझे आशा न थी कि बीच में कुछ मिलेगा। पर मिल गया। संयोग की बात देखो कैसी अद्भुत हुई। और समय होता तो मैं इधर नहीं देखता। मैं क्या भिखारी हूँ या नदीदा हूँ जो राह चलते पड़ी वस्तु पर मन चलाऊँ। पर वह अवसर ही ऐसा था। प्यास तड़पा रही थी—गर्मी मार रही थी और अतृप्ति जला रही थी। मैंने कहा—ज़रा सा इनमें से मुझे मिलेगा। भूल गया कहा कहां? कहने की नौबत ही न आई—कहने की इच्छा मात्र की थी। पर उसी से काम सिद्ध हो गया। उसने आँचल में छान प्याले में उड़ेला—एक डली मुसकान की मिश्री मिलाई और कहा—लो, फिर भूला, कहा सुना कुछ नहीं। आँचल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में छानकर प्याले में डालकर, मिश्री मिलाकर सामने धर दिया। चम्पे की कलियाँ उसी में पड़ी थीं—महक फूट रही थी। मैं ऐसी उदासीनता से किसी की वस्तु नहीं लेता हूँ—पर महक ने मार डाला। आत्म-सम्मान, सभ्यता, पद-मर्यादा सब भूल गया। कलेजा जल रहा था—जीभ ऐंठ रही थी। कौन विचार करता ? मैंने दो कदम बढ़कर उसे उठाया और खड़े ही खड़े उसे पी गया—हाँ खड़े ही खड़े।

"वह फिर एक बार मिला। संध्या काल था और गंगा चुप-चाप बह रही थी। वह चाँद सी रेती में फूल जमा-जमा कर कुछ सजा रहा था। मैं कुछ दूर था। मैंने कहा आ मेरे पास आ। मैं गया। वहाँ की हवा सुगंधों से भर रही थी। मैं कुछ ठंढा सा होने लगा। उसके चेहरे पर कुछ किरणें चमक रही थीं। मैंने कहा—"बिट्टुआ ! धूप में ज्यादा मत खेलो।" उसने हँस दिया। सुंदरता लहरा उठी। उसने एक फूल दिखाकर कहा—"अच्छा इस फूल का क्या रंग है ?" मेरा रक्त नाच उठा। अरे, बेटा बोलना सीख गया। मैंने लपक कर फूल उसके हाथ से लेना चाहा—वह दूर दौड़ गया। उसने कहा—"ना इसे छूना नहीं। इस फूल को दुनिया की हवा नहीं लगी है और न इसकी गंध इसमें से बाहर को उड़ी है। ये देव-पूजा के फूल हैं—ये विलास की सजाई में काम न आवेंगे।" इतना कहकर बिट्टुआ गंगा की ओर दौड़कर उसी में खो गया। मैं कुछ दौड़ा तो—पर पानी से डर गया। इतने में आँखें खुल गईं।"

उपरोक्त उद्धरण में भाषा-माधुर्य के साथ धारा-प्रवाह का बड़ा सुंदर सम्मेलन हुआ है। मधुरता के लिये लेखक शब्द तक बिगाड़ने को तैयार है। उसने शब्दों को तत्सम रूप में रखने का कोई विशेष प्रयोजन नहीं समझा है। चलतेपन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिये वह सब कुछ करने को उद्यत है। हिंदी-उर्दू का मिला-जुला जो रूप हम श्री प्रेमचंद्र की रचनाओं में पाते हैं उसी का आनंद यहाँ भी मिलता है। लेखक इस प्रकार लिखने में सिद्ध-हस्तता प्राप्त कर चुका है। वहाँ उसका साम्राज्य है। चलती, सरल तथा बोधगम्य भाषा में भावों की लड़ी किस प्रकार पिरोनी चाहिए इस बात को शास्त्रीजी भलीभाँति जानते हैं। जिस प्रकार भावावेश हृदय में उत्पन्न होता है उसी प्रकार, उसी स्वाभाविक रूप रंग में उसे शब्दांतर्गत उपस्थित करने में, वाक्यों को इधर-उधर तोड़ ताड़ कर तथा अनेक चिह्नों का सहारा लेकर वाक्य-विन्यास करना पड़ता है। यही कारण है कि इनकी रचना में विरामादि चिह्नों की अधिकता रहती है।

शास्त्रीजी ने स्थान-स्थान पर विभक्तियों को छोड़ भी दिया है। यह उनका या तो सिद्धांत हो या प्रमाद। जैसे—"मैं क्या भिखारी हूँ जो राह चलते रस्ते पड़ी वस्तु पर मन चलाऊँ।" "पराए सामने सदा संकोच से रहता था" इत्यादि। या तो 'रस्ते पड़ी वस्तु' के बीच में सम्मेलन चिह्न रखा जाय अथवा 'रस्ते पर पड़ी हुई वस्तु' लिखा जाय और 'पराए' तथा 'सामने' के बीच में 'के' हो। ऐसा करने से भाषा का सौष्ठव नष्ट होता हो सो बात नहीं है। कहीं-कहीं वाक्य-पूर्णता की आकांक्षा भी अप्रयोजनीय है। जैसे—"किसी को मुँह नहीं दिखाती हूँ, पर लज्जा फिर भी पीछा नहीं छोड़ती है। छिपकर रहता हूँ, पर मन में शांति नहीं है। दिन रात भूलने की चेष्टा करता हूँ पर फिर भी स्मृति की गंभीर रेखा मिटती नहीं है।" इन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाक्यों में अंत का "है" व्यर्थ है। इससे भाषा में लचर-पन आ जाता है। उसका धारा-प्रवाह नष्ट हो जाता है। इन बातों के अतिरिक्त वाक्य-विन्यास में कहीं-कहीं अँगरेजी-पन भी स्पष्ट पाया जाता है। "राई की प्राप्ति को पहाड़ परिश्रम करते हो" (To gain a little you work a mountain); इत्यादि। ऐसे स्थल प्रमाद स्वरूप ही हों, ऐसी बात नहीं। परंतु इसके लिये लेखक को विशेष सतर्क रहने की आवश्यकता नहीं। ऐसी बातें स्वाभाविक होती हैं। इसके लिये विशेष नियंत्रण रखने से भाषा-शैली में कृत्रिमता के आ जाने की संभावना रहती है।

इनकी प्राय: सभी रचनाओं में शब्दों के कुछ प्रांतीय रूप मिलते हैं। लेखक जिस स्थान विशेष का है उसी के आस-पास में शब्दों का जिस रूप में व्यवहार होता है, उसी को वह साहित्य में भी रखना चाहता है। वस्तुत: यह उचित नहीं, क्योंकि शब्दों का वही रूप साधारण भाषा में ग्राह्य होना समीचीन है जो अधिकांश भाग में प्रयुक्त हो। इन्होंने 'तिस पीछे' और 'सो' इत्यादि पंडिताऊपन के शब्दों और रूपों के सिवा कितने ऐसे शब्दों का भी व्यवहार किया है जो संभवत: उनके आस-पास के प्रदेशों में प्रचलित हैं। 'खुला', 'भोंरे', 'टूटना', 'बुरक', 'भींचे', 'धकेलना', 'जाये' (जाकर), 'भिड़-तितैया', 'दियासलाई', "बेटा! कला को देखना तो आज वह कैसा कुछ करती है।" इत्यादि अनेक ऐसे शब्द हैं जिनका व्यवहार प्रदेश विशेष तक ही परिमित है। इसके अतिरिक्त शब्दों के प्रयोग में अस्थिरता नहीं होनी चाहिए, जैसा कि इन्होंने किया है। यदि 'पर्वा' लिखा जाय तो 'परवा' न लिखा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ ग्रन्थ REFERENCE BOOK

जाय अथवा 'लच्छन' लिखा जाय तो 'लक्खन' न प्रयुक्त हो; क्योंकि इससे शब्दों का निश्चयात्मक रूप व्यवस्थित नहीं रह सकता।

वस्तु प्रतिपादन की आलंकारिक-प्रणाली में इन्होंने भी 'मानो', 'की तरह', 'जैसे', 'वैसे', का अधिक अनुसरण किया है। परंतु इनकी उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं में वह लोकातीत वैभव नहीं रहता जो 'प्रसाद' जी अथवा 'राय साहब' में मिल चुका है। इनकी रचना में जगत् की व्यावहारिक सत्ता का आभास सदैव विद्यमान रहता है। इनकी उत्प्रेक्षाएँ और उपमाएं इतनी परिचित रहती हैं कि उनका दर्शन हम नित्य की घटनाओं में पाते रहते हैं। वास्तव में रचना-प्रणाली की सरलता एवं व्यावहारिकता के साथ इसी प्रकार की उपमाओं का सामंजस्य अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। इससे भाषा की स्वाभाविकता नष्ट नहीं होती। 'प्रसाद' जी अथवा 'राय साहब' में उनके विषय के अनुकूल ही अलंकारत्व भी रहता है। इसका क्षेत्र कल्पना का है। परंतु शास्त्रीजी व्यवहार-जगत् के हैं। अतः समानता का प्रतिरूप उपस्थित करने में उनकी दृष्टि उन्हीं वस्तुओं पर पड़ती है जो वस्तुतः हमारे साधारण जीवन में प्राप्य हैं। जैसे—"मानो तंग कोठरी की क़ैद से निकलकर स्वच्छ हरे-भरे मैदान में आ गया हूँ।" "जैसे लहर लीन हो जाती है, जैसे स्वर लीन हो जाता है।" "जैसे सूर्य पृथ्वी के रस को आकर्षण करके संसार पर वर्षा करता है, वैसे ही धन, धर्म, धान्य, जन सबको आकर्षण करूँगा और पुनः विसर्जन करूँगा।" "इस तरह मरे बैल की तरह क्यों आँख निकालता है?" "तबला दुख से मानो हाय! हाय! कर उठा।"

सन्दर्भ ग्रन्थ REFERENCE BOOK

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"प्रवीण को ऐसा मालूम हुआ कि जैसे वह सब आँखें फाड़ फाड़कर उसी की तरफ़ झाँक रहे हैं।" "वह मशीन की तरह माता का सिर गोद में रखकर बैठे रहे।" "देखते ही देखते वह मुर्दे की तरह सफ़ेद हो गया।" "मर्माहत सर्पिणी की तरह", "युद्ध में हारे राजा की तरह", "पनाले की तरह वह निकला"; 'जिस तरह' और 'उसी प्रकार' का प्रयोग उन स्थानों पर अस्वाभाविक दिखाई पड़ता है जहाँ पर अँगरेज कवि होमर की भाँति उपमाएँ आई हों। वाक्य के अंत तक पहुँचते पहुँचते प्रस्तुत वस्तुएँ भूल जाती हैं। जैसे—"जिस तरह इंद्रियों के पास जिह्वालोलुप जन नाना प्रकार के मिर्च-मसाले आदि अप्राकृत पदार्थ खाकर और तरह तरह के मिथ्या आहारविहार करके अनेक जाति के रोगोन्मूलक परमाणुओं को शरीर में बसाकर रोगी हो जाते हैं और जुलाब देकर जिस प्रकार उनके शरीर से समस्त दूषित पदार्थ निकाले जाकर शरीर शुद्ध और निर्मल किया जाता है, ठीक उसी प्रकार मनुष्य-समाज ईर्ष्या, द्वेष, अज्ञान और स्वार्थवश जब अनेक बुराइयों से परिपूर्ण हो जाता है, तब क्रांति का जुलाब देकर उसे विशुद्ध और सरल बनाकर फिर नए सिर से व्यवहार जारी किया जाता है।" इसके अतिरिक्त स्थान-स्थान पर नाटकीय कथोपकथन की स्वाभाविकता उपस्थित करने के विचार से इन्होंने वाक्य-विन्यास में भी उलट-फेर किया है। इससे कथानक का विवरण देने में स्वाभाविकता पाई जाती है। कथोपकथन की स्वाभाविकता के अतिरिक्त उसमें बल-विशेष लाने का विचार भी रखा गया है। जैसे—"आने दो भविष्य के धवल महल को", "यह दस्तावेज है हमारी गदा", "तुम क्या जाग्रत रहते हो इस वसंत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में", "गया कहाँ है वह बदमाश, लंपट ?" "वह मैंने तुम्हें सँभाल दी थी—जैसे चिड़िया अपने बच्चे को वृक्ष के खोखले में रखती है।" "किस लोक की तरफ़ तुम्हारा लक्ष्य है ?" इत्यादि। इस प्रकार का वाक्य-विन्यास का परिवर्तन कथोपकथन में बड़ा ही उपयुक्त एवं रुचिकर जँचता है।

शास्त्रीजी की प्रायः सभी रचनाओं में धारावाहिकता का प्रसार अच्छा मिलता है। इनका प्रत्येक वाक्य एक दूसरे से इस प्रकार संबद्ध रहता है कि किसी को पृथक् करने से भाव-शृंखला छिन्न भिन्न हो जाती है। कहीं कहीं एक ही बात भिन्न भिन्न कई वाक्यों में इस प्रकार लिखी जाती है कि ओज-विशेष उत्पन्न हो जाता है। उससे पढ़ने सुनने में बड़ा बल ज्ञात होता है। जैसे—"परमान, सम्मान और गौरव देकर क्या पाया।" "वे अमर हैं, प्रबल हैं और अमोघ हैं।" "जो तेजस्वी हैं जो मानधनी हैं, वे अपने झोपड़े में अपनी ही चटाई पर सुख से सो सकते हैं।" "राजा को देखकर हज़ारों सेनाएँ अपनी बंदूकें नीची कर लेती हैं, हज़ारों सशस्त्र सिपाही सिर झुकाकर भेड़ की तरह अपने सेना-नायक की आज्ञा पालते हैं। असंख्य प्रजा राजा को देखकर सिर झुका लेती है।" "कैसी घृणा, कैसी लज्जा, कैसी ग्लानि और कितनी कमीनी बात है।" इत्यादि। इसके अतिरिक्त एक प्रधान विशेषता यह है कि इनकी रचनाओं में वक्तृत्व अधिक पाया जाता है। इससे विषय प्रतिपादन में अपूर्व चमत्कार आ जाता है। बल बढ़ता है और बढ़ती है कांति और सुष्ठुता। बलवती भाषा में और छोटे छोटे वाक्यों में किस प्रकार विषय का प्रभावात्मक निदर्शन एवं विधान होता है यह निम्नांकित अवतरणों से स्पष्ट हो जायगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"बड़ा सुख है, अब रात दिन चाहे जब रो लेता हूँ। कोई सुननेवाला नहीं, देखनेवाला भी नहीं। सन्नाटे की रात में नितांत दूर टिमटिमाते तारों के नीचे, स्तब्ध खड़े काले-काले वृक्षों के नीचे घूम घूमकर मैं रात भर रोता हूँ। यह मेरा अत्यंत सुखकर कार्य है। इसमें मेरा बड़ा मन लगता है। और इस पवित्र रुदन के लिये स्थान उपयुक्त भी है। निकट ही गीदड़ रो रहे हैं। कुत्ते भी कभी कभी रो पड़ते हैं। घुग्घू बीच बीच में रोने का प्रयत्न करता है। परंतु मेरे रोने का स्वर तो कुछ और ही है, वह अंतस्तल की प्राचीन भित्ति को विदीर्ण करके एक नीरव लहर उत्पन्न करता हुआ नीरव लय में लीन हो जाता है। उसे देखने की सामर्थ्य किसमें है। नींद अब नहीं आती। दो महीने रात-दिन रोता रहा हूँ। अब नींद से हिसाब साफ़ है। हाँ, चटाई पर औंधा पड़ जाता हूँ और आँख बंद कर चुपचाप सुनने की चेष्टा करता हूँ। तब रात्रि के गंभीर अंधकार को विदीर्ण कर एक अस्फुट ध्वनि सुनाई पड़ती है। और मैं विवश होकर उसमें स्वर मिलाकर विहाग या मालकोश की रागिनी में रुदनगान करने लगता हूँ। आँसुओं के प्रवाह में रात्रि भी गलने लगती है। तब हठात् वह उसी विमल परिधान में आती है और पहले जैसे वह बलपूर्वक मेरे कागज-पत्र उठाकर मुझे सोने पर विवश करती थी, उसी तरह मेरे उस संगीत को उठाकर रख देती है। पर हाय! अब मैं सो नहीं सकता। आँख फाड़कर देखता हूँ तो अकेला रह जाता हूँ। मैं शेष रात्रि इस वृक्ष से उस वृक्ष के नीचे घूम घूमकर काट देता हूँ।"

"साहित्य की मूल भित्ति है हृदय और उसके निकाल के प्रपात का स्थल है मस्तिष्क। हृदय में आंदोलन उत्पन्न करके मस्तिष्क की सूक्ष्म विचार-धाराओं का संचालन करना साहित्य का कार्य है। यही तो मानव जीवन का उत्कर्ष है—पशु और मनुष्य में यही तो अंतर है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पशु साधारण शरीर की आवश्यकताओं का अनुभव करके जीवन की सभी चेष्टा करता है। परंतु मनुष्य मस्तिष्क की विचार-धाराओं से आंदोलित होकर जीवन की उन प्रक्रियाओं को भी करता है, जिनसे वास्तव में उनकी शरीर-संपत्ति का कोई वास्ता ही नहीं है। इसलिये किसी भी जाति या समाज का साहित्य देखकर हम स्थूलता से इस बात का अनुमान लगा सकते हैं कि वास्तव में वह जाति मनुष्यत्व की कसौटी है। और केवल कसौटी ही नहीं, वह जाति के उत्थान और पतन का एक प्रबल कारण भी है। साहित्य जातियों को वीर बनाता है, साहित्य ही जातियों को क्रूर, नीच, कमीना, पापी, पतित बनाता है। इसलिये प्रत्येक जाति के विद्वानों के ऊपर इस बात का नैतिक भार है कि अपने साहित्य पर कठोर नियंत्रण कायम रक्खें, उसे जीवन से भी उच्च, पवित्र एवं आदर्श बनाए रक्खें।"

शिवपूजन सहाय

भाषा अथवा भाषा-शैली पर देश-व्यापी आंदोलन का प्रभाव विशेष रूप से पड़ता है। राजनीतिक उथल-पुथल में अनेक प्रकार के आचार विचार का समावेश रहता है। किसी भी आंदोलन में भावनाओं की उधेड़-बुन, निदर्शन और नवीन विचारों की आलोचना एवं प्रतिपादन होता है। इन आंदोलनों की जैसी प्रगति होती है, उसमें अन्तर्निहित जैसी विचार-धारा रहती है, उसी के अनुरूप 'प्रचार की' भाषा भी आवश्यक होती हैं। हम इसके पूर्व ही देख चुके हैं कि आर्य-समाज के प्रचार का प्रभाव हमारी हिंदी भाषा पर कितना पड़ा है। वह प्रभाव अच्छा था या बुरा इसका विवेचन इस स्थल पर प्रयोजनीय नहीं। उस समय वाद-विवाद, तथ्यातथ्य-निरूपण, तथा वितंडवाद ही प्रधान था। यही कारण था

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि उस समय की प्रचलित शैली में इसका प्रभाव स्पष्ट पाया जाता है। इसके अतिरिक्त कथन की युक्तिपूर्ण प्रणाली—जिसमें तर्क की विशेष मात्रा मिश्रित रहती थी—साधारणतः उस समय के लेखक में प्राप्त होती है।

आर्य-समाज के आंदोलन से भी कहीं विशद एवं देशव्यापी आंदोलन उपस्थित हुआ असहयोग का। इसमें दीनों का आर्त-नाद मिश्रित था; पीड़ितों की हाय, अन्न-वस्त्र से दुखी देश-वासियों की तड़प, दासता की बेड़ियों से मुक्ति चाहनेवालों का गगन-भेदी चीत्कार दूर-दूर तक प्रतिध्वनित हुआ। आंदोलन को व्यापक बनाने के विचार से सभाएँ और वक्तृताएँ होने लगीं। समाज में आवेश आया। बहुत सी रूढ़िगत भावनाओं का निराकरण प्रारंभ हुआ; और उपस्थित हुई नवीन ज्योति, उत्साह और बल। अपने कथन को प्रभावशाली बनाने के विचार से कठोर से कठोर तथा उग्र से उग्र शब्दों का प्रयोग भाषा में बढ़ने लगा। वस्तु प्रतिपादन की शैली में, कथोपकथन में, वाद-विवाद में, तथा विवरण उपस्थित करने में सर्वत्र ही उग्रता और निर्भीकता का भयंकर तांडव-नृत्य आरंभ हो गया। साधारण से साधारण विषय भी बड़े जोर शोर के साथ लिखे जाने लगे। भाषा-शैली साधारणतः वक्तृत्व से ओतप्रोत हो गई। इस वक्तृत्व का शीघ्र ही इतना प्रसार हुआ कि साधारण लेखों में, कथा-कहानियों में, नाटक और आलोचना में—सभी स्थानों में—इसकी छाप बैठ गई। इस शैली विशेष के प्रतिनिधि स्वरूप बाबू शिवपूजन सहाय और पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' लिए जा सकते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इनमें से बाबू शिवपूजन सहाय की भाषा में विशुद्धता का विचार अधिक पाया जाता है। स्थान स्थान पर उर्दू शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। इस प्रकार की शब्दावली अधिकतर मुहावरों की लपेट में आ गई है। अथवा उन स्थानों पर भी इनका प्रयोग पाया जाता है जहाँ लेखक को चलतापन लाने का विचार रहा है। इसके अतिरिक्त अन्य स्थानों पर अधिकांश व्यापक विशुद्धता का ही निर्वहन पाया जाता है। इन स्थलों पर विशुद्धता के अतिरिक्त भाषा-सौष्ठव बड़ा सुंदर बन पड़ा है। उसमें माधुर्य एवं ओज का अपूर्व सम्मेलन स्थापित दिखाई पड़ता है। प्रांतीयता का प्रभाव इनकी भाषा-शैली में तनिक भी न मिलेगा। साधारणतः शैली परिष्कृत, सतर्क तथा परिमार्जित है। इनमें विषय के अनुकूल भाषा का उपयोग करने की अच्छी कुशलता है। यही कारण है कि इनकी रचनाओं में चमत्कार के साथ-साथ आकर्षण और प्रभाव रहता है।

भाषा की उत्कृष्टता के साथ-साथ अलंकारिकता का अच्छा सम्मिश्रण मिलता है। 'ऐसे', 'जैसे', और 'सी', 'मानो', का मनोरम उपयोग दिखाई पड़ता है। इनका प्रयोग कहीं-कहीं तो इतना चमत्कारपूर्ण हुआ है कि रचना से काव्यात्मक ध्वनि निकलती जान पड़ती है। सादृश्य विधान भी अधिकांश इस उद्देश से किए गए नहीं जान पड़ते कि उनके द्वारा काल्पनिक वैभव व्यक्त हो वरन् इसलिये कि साधारण नित्य के अनुभव से संबंध रखनेवाली बातों के मेल से अनुभूति तीव्र और स्पष्ट हो। यही कारण है कि 'सी' और 'मानो' के उपरान्त इतनी सरल उपमाएँ और उत्प्रेक्षाएँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इनकी रचनाओं में प्राप्त होती हैं कि उनके हृदयंगम करने में पांडित्य तथा विशिष्टता की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसी अलंकार-प्रवृत्ति में इनकी रचना-शैली में अनुप्रासों की प्रचुरता उपस्थित की है। परंतु अनुप्रास के प्रयोग में बनावटीपन नहीं झलकता वरन् प्रवाहगत स्वाभाविकता पाई जाती है। इससे भाषा में सौंदर्य एवं माधुर्य आ गया है। यह अनुप्रासयुक्त भाषा किसी समय या स्थल-विशेष पर मिलती हो ऐसी बात नहीं है। यह व्यापक रूप में एक सी प्राप्त होती है। जैसे—"खिड़की से छन-छन कर आनेवाली चांद की चटकीली चाँदनी में चूड़ावत-चकोर को आपे से बाहर कर दिया।......नए प्रेम-पाश का प्रबल बंधन प्रतिज्ञा-पालन का पुराना बंधन ढोला कर रहा है। चूड़ावतजी का चित्त चंचल हो उठा। वे चटपट चंद्रभवन की ओर चल पड़े। वे यद्यपि चिंता में चूर हैं, पर चंद्रदर्शन की चोखी चाट लग रही है। वे संगमर्मरी सीढ़ियों के सहारे चंद्र-भवन पर चढ़ चुके, पर जीभ का जकड़ जाना जी को जला रहा है।" "लड़ाई की ललकार सुनकर लँगड़े-लूलों को भी लड़ने-भिड़ने की लालसा लग जाती है", "उज्ज्वल धारा से धोए हुए आकाश में चुभनेवाले कलश, महलों के मुँडेरों पर मुसकुरा रहे हैं।" "वंदीवृंद विशद विरुदावली बखानने में व्यस्त हैं।" "शूर-सामंतों की सैकड़ों सजीली सेनाएँ साथ में हैं सही।" "नव-पल्लव-पुष्प गुच्छों से हरे-भरे कुंज-पुंजों में वसंत-वसीठी मीठी मीठी बोलती और विरह में विष घोलती थी। मधुर-मधुमयी माधवी लता पर मँडराते हुए मकरंद-मत्त-मधुकर, उस चराचर मात्र में नूतन-शक्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संचालन करनेवाले—जगदाधार का गुन-गुनकर गुण गाते थे। लोनी लतिकाएँ सूखे-सूखे वृक्षों से भी लिपट रही थीं। वसंत-वैभव ने उस वन को विभूतिशाली बना दिया था।'' इत्यादि। इस प्रकार के अवतरण उद्योग के साथ उपस्थित किए जा सकें यह नहीं है। सर्वत्र ही इस प्रकार की अनुप्रासपूर्ण भाषा मिलेगी।

इस सानुप्रासिकता तथा विशुद्धता के व्यवहार का जो परिमाण होता है वह भी इनमें विशेष मिलता है। दीर्घ समासांत पदावली उत्कृष्ट रूप में दिखाई पड़ती है। अपने स्थान पर यह अनुचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि रचना-प्रणाली के साथ इनका अच्छा साम्य ठहरता है। 'सौंदर्य-गरिमा-मय-मुखारविन्द', 'मल्लिका-वल्लरी-वितानों,' 'अलि-अवलि-केलि-लीला', 'मंजुल मंजरी-कलित तरुवर की शाखाओं पर शान से तान का तीर मारने-वाली काली-कलूटी कोयल, पल्लवावगुंठन में मुँह छिपाए बैठी हुई, इस अनुरूपा सुंदरी को देख रही थी। शीतल-सुरभित समीर विलुलित अलकावली तीर डोल-डोलकर रस घोल जाता था। चंचल-पवन अंचल पर लोट-लोटकर अपनी विकलता बताता था। धीरे-धीरे कुंचित-कुंतलराशि, नितंबावरोहण करती हुई, आपाद लटक रही थी। यद्यपि निराभरण शरीर पर केवल एक वस्त्र ही शेष था, तथापि वह शैवाल-जाल-जटित सुंदर सरोजिनी सी सोहती और मन मोहती थी।''

उसी उत्कृष्ट विशुद्ध एवं समासांत पदावली में जब काल्पनिक-वैभव का सम्मिश्रण हो जाता है तब शैली में एक अटूट धारा बह चलती है। कहीं-कहीं इस प्रकार के आलंकारिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उल्लास से मन ऊब जाता है और वाक्य के अंत तक पहुँचते पहुँचते भाव-शृंखला छिन्न-भिन्न हो जाती है। वस्तुतः इस प्रकार की रचनाएँ पढ़ते समय अधिक निग्रह और चिंतन के कारण कष्ट का अनुभव होने लगता है। जैसे—"वह अप्रतिमा प्रतिमा, वसंत काल की नव किसलय कलित रसाल द्रुमावली सी वह प्रतिमा, प्रभातकालीन मलय-मारुत से ईषत् दोलायमाना मंद स्मित नवनलिनी की सी वह प्रतिमा, वासंती संध्या-समीरण-जनित गंगा की कृश कल्लोल-मालिका की सी वह प्रतिमा, जयदेव की कोमल कांत पदावली सी वह प्रतिमा, शोण-सैकत-शय्या पर लेटी हुई सद्य-उदित सूर्य की किरणों की सी वह प्रतिमा, श्रावण की जल प्लावित शस्य-श्यामला वसुंधरा की सी वह प्रतिमा, नवोढ़ा कृषक-ललना के करतल विराजित नव-शालि-वालि-पुंज की सी वह प्रतिमा, अर्जुन के प्रति स्वर्गीय वारांगना उर्वशी की सी मधुर-कटाक्ष-पात-पूर्वक विनीताभ्यर्थना की सी वह प्रतिमा, मरुस्थल के श्रांत एवं तृषित पथिक के लिये सजला-सरसी-दर्शन की सी प्रतिमा, दुष्यंत के प्रति शकुंतला की निरंतर चारुचिंता सी वह प्रतिमा, कार्तिक मास की दीपावली से नख-शिखमंडिता काशी की गंगा-तटस्थ आकाश-चुम्बिनी प्रासाद-प्रणाली सी वह प्रतिमा, भाद्रपद के नीरव-निशीथ काल में वर्षा-वारि-विलोड़िता खर-स्रोत-सरिता की दूरागत कल-कलध्वनि की सी वह प्रतिमा, कुसुमित दांपत्य-प्रेम-पादप के प्रथम फल की आशा की सी वह प्रतिमा, पुष्पोद्यान में प्रथम वार रामचंद्र-दर्शन से मैथिली के मानस-मंदिर में प्रकट हुई अलौकिक प्रीति-ज्योति की सी वह प्रतिमा, लावण्य-लीला-विस्तारिणी नववधू के मित मिष्ट-भाषण की सी वह प्रतिमा!"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार आलंकारिक विशदता की इतनी लंबी लड़ी नहीं तो छोटी-छोटी लड़ियाँ प्रायः मिलेंगी।

इनकी रचनाओं में कहीं-कहीं पर पद्यात्मक तुकांत भी उपलब्ध होता है। यह तुकांत वस्तुतः उस प्रकार का नहीं होता जो हमें श्री लल्लूलालजी और सैयद इंशा में प्राप्त हुआ था। उसमें प्राचीनता की छाप थी, परंतु इसमें भाषा की प्रगल्भता पाई जाती है। इसमें मनोरंजक चमत्कार दिखाया गया है। इस तुकांत का जहाँ परिमित रूप में व्यवहार हुआ है वहाँ पर स्वाभाविक और सुंदर लगता है। जैसे—'सतीत्व-रक्षा के लिये जरा-जर्जर जटायु ने अपनी जान तक गँवाई ज़रूर, लेकिन उसने जो कीर्ति कमाई और बधाई पाई, सो आज तक किसी कवि की कल्पना में नहीं समाई।' परंतु वही तुकांत जब विस्तृत रूप में रखा जाता है तब अस्वाभाविक और भद्दा लगने लगता है। जैसे—"यह संसार असार है, ऐसा वेदांतियों का विचार है। उनके लिये ईश्वर भी निराकार है; किंतु हमारे साहित्य-संसार का ईश्वर साकार है। ज्ञानियों का संसार भाषा का बाज़ार है, हम साहित्यिकों का संसार अमृत का भांडार है। उनके लिये संसार कारागार है, हम लोगों के लिये करुणावतार का लीलागार है। उनके लिये शृंगार दुराचार है, हम लोगों के लिये वह गले का हार है—अलंकार है। उधर ओंकार का आधार है, इधर नंदकुमार का आधार है। बड़ा ही विचित्र व्यापार है।"

इधर भाषा-शैली के उत्कर्ष के साथ-साथ विरामादिक चिह्नों का प्रयोग अधिक होने लगता है। इनका आधार लेकर तरह-तरह की भावनाओं का, कई रूप से निदर्शन होने लगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अँगरेजी में The book, however, came to the Press लिखा आता है। "हाँ, अब, जब कि यह पुस्तक, किसी न किसी रूप में—प्रकाशित हो गई, तब संभव है, कभी सौभाग्यवश विद्वानों की दृष्टि इस पर पड़ जाय।" इस वाक्य में भी "किसी न किसी रूप में" दो संबंधात्मक-चिह्नों के बीच में उसी प्रकार रखा गया है, जिस प्रकार अँगरेजी का 'However' दो अर्ध-विरामों के बीच में रखा गया है। अब चिह्नों का सहारा लेकर भाव-व्यंजना बड़ी विशदता से होने लगी है। श्री शिवपूजन सहाय और श्री पांडेय बेचन शर्मा में इस प्रकार की व्यंजनात्मक विशदता अधिक पाई जाती है। भावावेश की स्वाभाविक प्रगति के प्रदर्शन में इन चिह्नों ने बड़ा योग दिया है। इन्हीं चिह्नों के सहारे एक शब्द का प्रयोग कर ठीक उसके उपरांत उसी भाव का दूसरा शब्द, दो संबंध चिह्नों के बीच में, रखकर पहला शब्द और भी अधिक प्रभावात्मक बनाया जाता है। वस्तुतः यह चिह्न और का काम कर देते हैं। जैसे—"साहित्य-रसिकों के रसास्वादन—मनोरंजन—के लिए।" इसी भाँति कहीं-कहीं गुणवाचक पदावली भी रखी जाती है। जैसे—"प्रार्थना-पत्र, ब्राह्मण-देवता ने, राणा जी की—भक्तिभाव-पूर्वक प्रणाम के हेतु जोड़ी गई—अंजली में, उनका कल्याण मनाते हुए छोड़ दिया।"

इन चिह्नों के सहारे एक ही प्रकार के कई भाव व्यक्त करने के लिये कई शब्दों अथवा पदों का यथाक्रम रखने का बड़ा रोचक एवं प्रभावात्मक ढंग प्रचलित हुआ है। इसमें बड़ी विशदता और शक्ति प्राप्त होती है। पूर्व-प्रचलित तार्किक-शैली में इतनी उत्कृष्टता नहीं पाई जाती थी। इस शैली के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वारा बड़े ही प्रबल रूप में उत्साह, बल, पौरुष आदि का दीर्घ प्रवाह व्यक्त हो सकता है। जैसे—"जिस मेवाड़ की मान-मर्यादा बचाने के लिये, हमारी माताओं ने, अपनी गोद के लाखों लाल लुटा दिए हैं, उसी मेवाड़ की गौरवान्वित गद्दी को सनाथ करनेवाला, राणा हमीर और राणा साँगा तथा हिंदू-कुल-सूर्य प्रताप का वंशधर, क्या राज्यनाश के भय से, जंगलों में भटकते फिरने की शंका से, शरण में आई हुई एक अबला को आत्मघात करने का अवसर देगा? यदि ऐसा होगा तो उसी दिन वीररक्ताभिषिक्त मेवाड़-भूमि रसातल में पैठ जायगी, सूर्य्य चक्कर खाकर डूब जायगा, भूमंडल भी—तूफ़ान से घिरे हुए जहाज़ की तरह—डगमगा उठेगा, तारे एक से एक टकराकर चूर्ण हो जायँगे, समुद्र अपनी मर्यादा छोड़कर भूलोक को डुबो देगा, चाँद से चिनगारियाँ बरसने लगेंगी, और अरवली का हृदय, भीषण ज्वालामुखी के प्रस्फोट से, एकाएक फट पड़ेगा।" अथवा "यदि कृष्ण-कुमारी सी अविरल सुंदरी के लिये आठ-आठ आँसू रोने की इच्छा हो, उसकी स्नेह-शीला माता के दारुण-करुण-विलाप-कलाप से कलेजा कँपाना हो, यदि कल्पद्रुम-कुसुम-माला-मंडिता स्वर्ग-प्रतिमा का अकाल विसर्जन होकर दिल दहलाना हो, तो आइए, किंतु उदयपुर के रनिवास में चलकर, एक हृदय-द्रावक दृश्य देखने के लिये पहले हृदय को वज्र से मढ़ लीजिए।" अथवा "उसका हृदय, तुम्हारे कुसुम-सुकुमार अंग से भी कोमल, तुम्हारी विलास-लीला से भी मधुर, तुम्हारी श्वास वायु से भी सुगंधित और तुम्हारी दाड़िम-दंतावलि से भी उज्ज्वल था।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यों तो इन्होंने स्थान-स्थान पर इतिवृत्तात्मक विवरण देने में भी भाषा की विशुद्धता एवं समासांत पदावली का व्यवहार किया है, परंतु वहाँ वह स्वाभाविकता नहीं मिलती जो उनके उस विवरण में प्राप्त होती है। इसमें वस्तुतः सरल एवं व्यावहारिक प्रणाली का अवलंबन किया गया है। ऐसे स्थलों पर वाक्य भी छोटे-छोटे लिखे गए हैं। सभी स्थानों पर इसी विषय का निर्वाह हुआ हो यह आवश्यक नहीं; क्योंकि ऐसे भी स्थान अवश्य हैं जहाँ इन्होंने साधारण विवरण देने में भाषा का वही रूप रखा है जो कि प्रायः उनकी भावावेश की शैली में पाया जाता है। परंतु उन स्थानों में वह रोचकता तथा व्यावहारिकता नहीं मिलती जो उन विवरणों में अधिकता से प्राप्य है जिन्हें वे छोटे-छोटे वाक्यों में और चलती भाषा के सहयोग से देते हैं। जैसे—

"पंजाब मेल का अव्वल दर्जा भी स्वर्ग का नमूना ही है। जैसे गंगा और हिमालय का मानचित्र पुस्तकों में वैसे ही पंजाब मेल के अव्वल दर्जे में बहिश्त का नक़शा मौजूद है। उसे अलकापुरी या अमरावती का नमूना कहना कोई बेजा बात नहीं है। हीरालाल बाबू को अव्वल दर्जे में चढ़ाकर हमने इंजन से गार्ड के डब्बे तक दो दो बार चक्कर लगाया। हर एक खाने की चीज़ों पर दुहरी, पर गहरी नहीं, नज़र डालते हुए हम चक्कर काट रहे थे। बिजली-बत्तियाँ जल रही थीं। बिजली के पंखे दनादन चल रहे थे। खिड़कियों की राह जितनी आँखें स्टेशन की ओर झाँकती थीं, सब पर सुनहरी कमानीवाले चश्मे चढ़े थे। कुछ साहेब, झालरदार साफ़ तकियों के सहारे कमर के बल टेककर समाचारपत्रों के पन्ने उलट रहे थे। किसी के दिमाग़ में 'एमडन' तैर रहा था। किसी के दिमाग़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में दमदम की गोलियाँ दनदना रही थीं और कोई 'हाविट्ज़र' तोप के गोलों की गड़गड़ाहट सुन रहा था। एक अँगरेज़ युवती, जिसके सुनहरे बालों में बनावटी गुलाब के फूल गुंफित थे, एक अँगरेज़ युवक के साथ, हाथ में हाथ मिलाकर, टहल रही थी। कभी दोनों हँसते-हँसते अपनी-अपनी घड़ियाँ मिलाते थे; और कभी अपने-अपने चश्मे अदल-बदल परस्पर आँखों पर आँखें चढ़ाते थे।''

पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'

ऊपर कहा जा चुका है कि असहयोग आंदोलन का जो व्यापक प्रभाव हिंदी-साहित्य पर पड़ा उसी का सम्यक् प्रसार पांडेय बेचन शर्मा की रचनाओं में भी मिलता है। जिस उत्तेजनापूर्ण और प्रभावात्मक भाषा और शैली में राजनीतिक वितंडावाद किया जाता है उसी का अनुसरण पांडेयजी अपनी सभी रचनाओं में करते हैं। इन रचनाओं को पढ़ते समय स्वभावतः वक्तृत्व का चमत्कार प्राप्त होता है। परंतु वस्तुतः विश्लेषणात्मक दृष्टि से विचार करने पर वह वक्तृत्व का रूप नहीं ठहरता। वह कथन-प्रणाली का केवल शक्तिशाली रूप है। एक ही साँस में समस्त भावावेश को कह डालने की एकांत चेष्टा में निरंतर आवेश झलकता है। सभी वाक्य इतने तुले हुए रहते हैं कि शैली में सुंदर ज्योति प्रकट हो जाती है। एक वाक्य दूसरे वाक्य पर इस प्रकार आश्रित रहता है कि बीच में एक-दो वाक्य अलग कर देने से सारा बल ही नष्ट हो जाता है। जिस समय किसी व्यक्ति के हृदय में, भावों में भयंकर आँधी उठती है उस समय वह अपने सामने उसकी व्यंजना का परिमित अवकाश पाकर झटपट एक उन्माद के रूप में—उस भावना-संसार का जितना अंश बाह्य जगत् में लाते बनता है, रख देता है। जैसे—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'मैं कहता हूँ शासन के सूत्रधारों से—और उनके एक-एक मंगलमय विचार से, मैं कहता हूँ देश के सुंदर खिलौनों से—और उनकी शैशव-मति-सुकुमार से, मेरा कहना सुनो—मुझे कहने दो।

'मैं कहता हूँ समाज के शिवालयों, बाल-संस्थाओं के देवताओं की 'ड्यूटी' पर नियुक्त 'कमज़ोर' मनुष्यों से, मैं कहता हूँ शहर-शहर के गली कूचों में रहनेवाले, डूबकर मछली निगलनेवाले, सत्तर चूहे खाकर दूसरों को हज करने का उपदेश देनेवाले—छुपे रुस्तमों से, मैं कहता हूँ आदर्श का नाम लेकर, प्रथा की दोहाई देकर, सत्य के मुँह पर ढोंग का लिफ़ाफ़ा चढ़ाकर अपने कंठ और स्वर को छिपाकर मिल-मिल गंभीरता के कंठ और स्वर से बोलनेवाले महाशयों से; मेरा कहना सुनो, मुझे कहने दो।

"है कोई ऐसा माई का लाल जो हमारे समाज को नीचे से ऊपर तक सजग दृष्टि से देखकर, कलेजे पर हाथ रखकर, सत्य के तेज से मस्तक तानकर, इस पुस्तक के अकिंचन लेखक से यह कहने का दावा करे कि—'तुमने जो कुछ लिखा है ग़लत लिखा है। समाज में ऐसी घृणित, रोमांचकारिणी, काजल-काली तस्वीरें नहीं हैं।' अगर कोई हो तो सोत्साह सामने आवे, मेरे कान उमेठे, और छोटे मुँह पर थप्पड़ मारे, मेरे होश के होश ठिकाने करे। मैं उसके प्रहारों के चरणों के नीचे हृदय-पाँवड़े डालूँगा, मैं उसके अभिशापों को सिर माथे पर धारण करूँगा—सँभाल लूँगा। अपने पथ में कतर-ब्योंत करूँगा। सच कहता हूँ, विश्वास मानिए, 'सौगंद औ गवाह की हाजत नहीं मुझे'।"

उग्रजी की स्वाभाविक लेखन-शैली यही है। इसमें हमें संस्कृत तत्समता की उत्कृष्टता एवं अव्यावहारिक दीर्घ समासांत पदावली के दर्शन न मिलेंगे—उनसे ओत-प्रोत भाव-व्यंजना की जो अस्वाभाविकता होती है वह यहाँ न दिखाई पड़ेगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साधारण—नित्य की—बातचीत में जिस भाषा का व्यवहार होता है उसका इतना सुंदर और प्रभावात्मक रूप हो सकता है, उपर्युक्त अवतरण इस बात के प्रत्यक्ष साक्षी हैं। विषय-प्रतिपादन की इस रोचक शैली में एक व्यक्तित्व मिलता है—वैयक्तिकता ही भाषा-शैली का प्रधान गुण है। एक ही आवेश में कई बातों का उल्लेख करना, एक ही को उलटकर पुनः कहना कितना रोचक एवं आकर्षक होता है। उसमें एक अटूट धारावाहिकता तथा भाव-व्यंजना का उग्र रूप प्राप्त होता है।

देश में जब से अँगरेजी भाषा के अध्ययन का अधिक प्रचार हुआ है, और प्रचार ही क्यों? व्यवहार हुआ है; क्रमशः यह परिपाटी चल पड़ी है—अभ्यास पड़ गया है कि जहाँ चार पढ़े-लिखे सज्जन उपस्थित हो जाते हैं और बातचीत आरंभ होती है वहाँ उस बातचीत के सिलसिले में अनेक शब्द अँगरेजी के आ जाते हैं। यह अस्वाभाविक नहीं है क्योंकि इसी प्रकार उर्दू का भी व्यवहार बढ़ा था। यह एक व्यापक नियम है कि जब दो भाषा-भाषी आपस में—किसी भी कारण से—मिलते हैं, तो स्वभावतः एक दूसरे की भाषा का क्रमशः बिना किसी उद्देश के व्यवहार करने लगते हैं। प्रथमतः इस विषय में चेष्टा नहीं करनी पड़ती। पर अंततो गत्वा एक ऐसा समय उपस्थित हो जाता है जब एक भाषा के शब्द दूसरी भाषा में अपने आप प्रयुक्त होने लगते हैं। उग्रजी इसी व्यापक नियम के निदर्शन एवं स्वाभाविकता उपस्थित करने के विचार से रचनाओं में—और प्रधानतः उन अवसरों पर जहाँ आजकल के अँगरेजी पढ़े-लिखे विद्यार्थियों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की बातचीत आती है—अँगरेजी के कितने ही शब्दों का व्यवहार करते हैं। 'स्टेज', 'सिनेमा', 'मास्टर', 'स्कूल', 'स्टूडेंट', 'हाल', 'प्रोग्राम' ऐसे नित्य के व्यवहार में आनेवाले शब्दों का व्यवहार करते पाए जाते हैं जो वस्तुतः अँगरेजी पढ़े-लिखों के अतिरिक्त जन-साधारण के व्यवहार-क्षेत्र से बाहर हैं। परंतु पंडित अंबिकादत्त व्यास की 'कक्षपुस्तिका' (Pocket book) का व्यवहार समीचीन नहीं। इससे अच्छा तो उस शब्द का ही प्रयोग है। इसके अतिरिक्त वे अनेक स्थानों पर अँगरेजी पदावली का ही व्यवहार करते हैं। यह भी केवल बातचीत की स्वाभाविकता उपस्थित करने के विचार से ही होता है। जैसे-'I am very sorry,' 'Stand up on the bench,' 'Well done my young player!' 'Beg your pardon,' 'Try your utmost,' 'Don't lose,' 'Yes, come on,' 'Let us go and see what is the matter,' इत्यादि।

इस प्रकार के केवल अँगरेजी शब्दों अथवा पदावली का ही व्यवहार हुआ हो ऐसी बात नहीं। वाक्य-विन्यास में भी वह झलक उपस्थित है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार अँगरेजी में कथन का कुछ अंश कहकर कहनेवाले का उल्लेख होता है और तब पुनः कथन का शेष अंश आरंभ किया जाता है, उसी प्रकार उग्रजी ने भी किया है।—"अरे, यह क्या!" हरनारायण बाबू ने अपने रूमाल से रामू के कपोलों को, हलके हाथ, दो तीन बार स्पर्श करते हुए कहा—"आपकी ठुड्डी पर चूना लग गया था।" "यही"—मैंने उत्तर दिया—"बुदुक-प्रेम की आदत। आप जानते हैं, समाज इन थिएटरवालों को किस दृष्टि से देखता है?" "पहला सवाल" मैंने मुस्करा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर कहा—"मेरा होगा", "चलिए"—मैंने कहा "मैं उनसे मिलकर अपने को भाग्यवान समझूँगा।" इत्यादि। हिंदी के पुराने लेखक लाला श्रीनिवासदास ने अपने "परीक्षा-गुरु" उपन्यास में इस प्रणाली का अनुसरण किया था। इस प्रकार के कथोपकथन की प्रणाली का अनुसरण 'भद्दा' नहीं तो अनावश्यक और अप्रयोजनीय अवश्य है। संभव है इसके पक्षपाती इसको स्वाभाविक कहें, परंतु अभी तक प्रचलित-प्रणाली में कोई ऐसी अव्यावहारिक निर्बलता नहीं दिखाई पड़ती।

बाबू शिवपूजन सहाय की भाँति इन्होंने भी—कहीं-कहीं उनसे अधिक—विरामादि चिह्नों का प्रयोग किया है। वस्तुतः भावावेश की शैली में चिह्नों से बड़ा सहारा मिलता है। इनकी सहायता से भाव-व्यंजना में कुछ अधिक सुगमता आ जाती है। इसी सुगमता के कारण इन्होंने स्थान-स्थान पर वाक्यों में उलट-फेर किया है। इस उलट-फेर में नाटकत्व कम मिलता है। जैसे—"कभी करुणा आती थी—प्यारे की उस अवस्था पर—", "नहीं तो, देखते अभागिनी नर्गिस के इस निराश-सौंदर्य को।" "गई होती अदालत में बात तो लद गए होते", "कैसे अच्छे थे वे दिन", "इसी लिये तुमसे कहता हूँ, हँसी न समझो मेरे बात को।" "मत चूमने दो किसी पुरुष को अपने होठों को, मत मलने दो किसी मतवाले को अपने गालों को, मत सटने दो अपनी कोमल छाती को किसी राक्षस के वज्र-हृदय से।" "वह आया है—उनको जीवन देने जो कि प्राणों के रहते मृतक बने हैं।" इत्यादि। परंतु यह बात कहीं-कहीं बहुत अस्वाभाविक ज्ञात होती है। बहुत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिक उलट-फेर भी सर्वत्र अच्छा नहीं होता। जैसे—"तुम दे जाने को थे, रामायण की एक अच्छी कापी", अथवा "मत बनाओ, अभी से इंद्रियों के दास बनकर, अपने को देवता से राक्षस।" इन वाक्यों में वस्तुतः इतना उलट-फेर हुआ है कि व्यावहारिकता कोसों दूर भागी है। बोलचाल अथवा कथोपकथन में इतना उलट-फेर स्वाभाविक नहीं हो सकता। परंतु लिखने के आवेश में यदि लेखक कहीं ऐसा लिख जाय तो साधारण बात होगी, ऐसा नहीं माना जा सकता।

इनमें भी, अन्य लेखकों की भाँति, आलंकारिकता, स्थान-स्थान पर मिलती है। परंतु इनकी आलंकारिकता में भी व्यावहारिकता रहती है। इनके उपमान स्वाभाविक होते हैं। उनका अनुमान हम सरलता से कर सकते हैं। इसके लिये काल्पनिक उन्माद अथवा अनुभूति की आवश्यकता नहीं पड़ती जैसा कि बाबू जयशंकर प्रसाद एवं राय कृष्णदास में आवश्यक था। जैसे—"आखिर लड़कों ने बछड़ों की तरह सिर से भीड़ चीरकर अपने लिये रास्ता बना लिया।" "वह प्रभात की तरह सुंदर और रुपए की तरह आकर्षक था।" "हम लोग सौत के लड़के की तरह मुँह ताकते ही रह गए।" "हेरोदिया इस समय वसंत ऋतु की पुष्पमयी वाटिका की भाँति सुंदरी है और शरद-पुष्करिणी की तरह कूल-काम-तरंगमयी है।" "मेरी अनेक दुर्बलताओं के साथ, 'ज्ञानमंडल' प्रेस की दुर्बलताएँ ऐसी मिल गई हैं जैसे फ्रांस के साथ ब्रिटेन।" "वह सोने की ढेर की तरह तेजोमयी और हीरे की तरह 'चमचमा' रही थी।" "दूध पानी की तरह मिले पड़े थे।" "मालूम पड़ने लगा (मानो), खालिस गुलाब की पंखड़ियों की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुतली मेरी साइकिल का हैंडिल पकड़े खड़ी है।" "सीरी चुप रही, बेत की तरह, पीपल के पत्ते की तरह, काँपती रही।" इत्यादि में जितने उपमान आए हैं सभी का दर्शन हमें नित्यप्रति होता रहता है। उनकी अनुभूति के लिये हमें अपने मस्तिष्क को, गूढ़ चिंतन के लिये, कष्ट नहीं देना पड़ता। परंतु उपमानों में नवीनता अवश्य है। साथ मिलने के लिये फ्रांस और ब्रिटेन का उपमान कितना नवीन और विचित्र है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उग्रजी की भाषा-शैली प्रत्येक भाँति स्वाभाविक एवं व्यावहारिक है। लेखक को जिस संसार में अपना संदेश पहुँचाना है वह वस्तुतः इसी प्रकार की भाषा का ग्राहक और प्रेमी है।

आवश्यक स्थानों पर, एक साधारण बात को, लेखक जब बल-विशेष देना चाहता है तो उसी जोड़ तोड़ की कई भावनाओं को, उसी प्रकार के नपे-तुले छोटे-छोटे वाक्यों में लिख कर, उसमें एक चमत्कार उत्पन्न कर देता है। उस चमत्कार के साथ-साथ कथन-प्रणाली में अच्छी शक्ति आ जाती है। इस कथन में भाव-व्यंजना की विशदता पाई जाती है। ऐसे स्थानों पर लेखक चाहे तो छोटे से वाक्य में ही समस्त भाव को कसकर रख दे, परंतु ऐसा अभिप्रेत नहीं। वह संपूर्ण चित्रण चाहता है। "न रोता था और न हँसता ही था न काँपता था और न हिलता ही था।" "उसकी आँखें, लाल थीं, कपोल पीले, और ओंठ सुफ़ैद, बिखरे बालों और अस्तव्यस्त वस्त्रोंवाली वह अभागिनी शून्य सी खड़ी थी।" "चारों ओर डंडा-शाही, ईंटा-शाही, छुरा-शाही, तलवार-शाही, औरंग-शाही और नादिर-शाही का बोलबाला था। धूर्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नौकर-शाही, अपवित्र नौकर-शाही और इन सब खुराफ़ातों की जड़ नौकर-शाही इस समय घूँघट में मुँह छिपाए है।" "उनकी आँखों में मादकता थी, स्वर में करुणा थी और उनके मुख पर के भावों में था मदांध-पूर्ण-प्रेम !" "खाने न दें।" "तुम पुरुष हो—तुम देवता हो—तुम ईश्वर हो—तुम इन पापियों से हमेशा दूर रहो। हे सुकुमार, हे प्यारे, हे कुलों के प्रकाश और घरों के दीपक ! सावधान !", "नहीं तो मुख पर कालिख पुत जाने पर, इन सुंदर ओठों की लाली सूख जाने पर, इन आँखों का पानी मर जाने पर, संसार में तुम्हें घृणा ही घृणा का सामना करना पड़ेगा।" इत्यादि।

इस प्रकार की कथन-प्रणाली में अंशतः भाव-व्यंजना की प्रगल्भता और अंशतः भावावेश का प्राबल्य पाया जाता है। इसके अतिरिक्त स्थान-स्थान पर कथन-शैली का नाटकीय आवेश बड़ा ही मनोरम और प्रभावात्मक मिलता है। उसमें से व्यंजनात्मक विशदता कही जा नहीं सकती। वरन वह शक्तिशाली की स्वाभाविकता है। जैसे—"वह आया है—उन अंधों को आँख देने जो कि देखते हुए भी कुछ नहीं देखते। उन बधिरों को कान देने जो कि सब कुछ सुनते हुए भी कुछ नहीं सुनते हैं। उन पंगुओं को पैर और लूलों को हाथ देने जो कि इनके रहते हुए भी अकर्मण्य बने हैं।" "देशभर को सत्याग्रह के लिये तैयार करो। सब के कानों तक अहिंसा का संदेश पहुँचा दो। अत्याचारी हो या पीड़ित, राजा हो या प्रजा, पिता हो या पुत्र, पति हो या पत्नी—सब से कह दो कि कोई अपनी आत्मा का अपमान न करे।" "उसने कहा है कि तुम्हीं ने उसे वह पापकर्म सिखाया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। तुम्हीं उसके साथ वैसा नारकीय व्यवहार करते हो।" इत्यादि।

थोड़े में यही कहा जा सकता है कि पांडेय बेचन शर्मा की भाषा-शैली में नवीन युग का उत्कर्ष है, आंदोलनात्मक उत्साह है, कथन का उच्छृंखल सौंदर्य है, और भावावेश की उग्रता है। दार्शनिक और सूक्ष्म गवेषणा का शान्त विवेचन इस प्रकार की भाषा में भले ही न हो सके परंतु भावों के वेग का स्वाभाविक चित्र इसमें अवश्य उपस्थित किया जा सकता है। शांत तथा गंभीर, विषयों का निदर्शन इसमें सफलता-पूर्वक न हो सके ऐसा स्वाभाविक है, परंतु वाद और विवाद, कथन और प्रतिपादन, आंदोलन और प्रचार के वातावरण के अनुकूल यह अवश्य है। यह जिस वायु-मंडल में उत्पन्न हुई है उसकी प्रतिष्ठा वहीं हो सकती है। इस भाषा की व्यावहारिकता ने शैली को एक क्रांति दी है। विषयानुकूल भाषा को रखना पांडेयजी ने भली भाँति सीखा है। साथ ही पात्र के अनुकूल भाषा का होना स्वाभाविक है, इसका भी उन्होंने निर्वाह किया है। जैसे—"इस मुल्क की आँखों पर आप का 'रिमार्क' एक ही रहा। अपनी 'औरत' की गुस्ताख़ी माफ़ कीजिएगा, क्या मर्दों के हाथ में औरतों के दिलो-दिमाग़ का, दीनो-दुनिया का, बहिश्तो-दोज़ख़ का ठेका है? मर्द जिसे कहे औरत उसी को प्यार करे। उसी के गले पड़े। उसी को अपना बनाए। औरतें गंदी हैं, औरतें बेवकूफ़ हैं, औरतें गुलाम हैं, औरतें बदतहज़ीब हैं और बेतमीज़ हैं—यानी दुनियाँ में सब से अगर ख़राब हैं तो औरतें हैं। फिर; बंदा परवर! आप मर्द लोग, जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी सफ़ाई, अक़्लमंदी, बहादुरी और तहज़ीब के लिये मशहूर हैं, औरतों को नेस्तोनाबूद क्यों नहीं कर देते? यही कीजिए और ज़रूर कीजिए, बड़ा सवाब होगा। दुनियाँ (अमेरिका, जापान, इँग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी, इटली, रूस, चीन, तुर्की) औरतों को आज़ादी दे रही है। हुज़ूर के मुल्क के मर्दों को चाहिए कि दुनियाँ के ख़िलाफ़ बग़ावत करें। औरतों को जेल में रखें। खाने न दें, सुनने न दें, प्यार करने न दें। और पढ़ने लिखने तो ज़रूर न दें। अगर आपके मुल्क को 'बाग़े-अदन' और मर्दों को ख़ुदा कहा जाय तो बुरा न होगा। आप लोग हम औरतों को समझा दीजिए कि इल्म ही वह 'फारबिडेन ट्री' है जिसका फल खाने की आज्ञा नहीं। औरत भी 'आदम' और 'ईव' की तरह, इल्म के पेड़ के फल खाकर चौकन्ना हो जायँगी, होश में आ जायँगी। इसलिये जो औरत आप (ख़ुदाओं) की बात न माने, उसे अपने 'सोशल-पैराडाइज़' (सामाजिक स्वर्ग) से निकाल बाहर कीजिए। मगर, याद रहे; उनमें पहला नंबर अपनी असग़री का ही रखिएगा।"

इस अवतरण में उर्दू शब्दावली तो अवश्य है; पर उर्दू शैली की छाप वाक्य-विन्यास में नहीं दिखाई पड़ती। वाक्यों का क्रम भी इधर-उधर नहीं हुआ है। आत्म-निवेदन ही में नहीं वरन् विचार-पद्धति में भी भारतीय-संस्कृति झलकती है। लेखक ने एक मुसलमान महिला की स्वाभाविक भाषा लिखने का प्रयत्न किया है। परंतु "आज्ञा" और "फल" ऐसे शब्दों का व्यवहार नहीं बचा सका अथवा बचाया नहीं गया। इस देश-विशेषी भाषा के झगड़े से जब लेखक अलग दिखाई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पड़ता है तब उसकी भाषा में ही नहीं परिवर्तन हो जाता प्रत्युत भाव-व्यंजनात्मक प्रणाली में, और भाषा की साधारण वेश-भूषा में भी अंतर उपस्थित हो जाता है। जहाँ 'ईसा', 'हेरोद' और 'शांति' (विवेकानंद की पुत्री) सभी एक भाषा का अनुसरण करते पाए जाते हैं वहाँ भाषा में परिष्कार और कांति पाई जाती है। क्योंकि संगठन में और शब्द-योजना में काव्योचित उत्कृष्टता प्राप्त होती है। इन स्थानों में भाव-निदर्शन में अलंकारिकता विशेष मिलती है। व्यंजनात्मक गंभीरता के साथ-साथ भाषा में भी स्थिरता आ गई है। जैसे—

"शांति तुमने मुझे देखकर अपना गाना क्यों बंद कर दिया। देखती हो तुम्हारे पाले हुए मृग-शावक मेरी ओर कैसी क्रोध-पूर्ण दृष्टि से देख रहे हैं। मानो मैंने इनका कोई सुख छीन लिया है। आम-वृक्ष पर बैठी हुई मौन कोकिला मुझे देखते ही बोल उठी—मानो कहती है कि इस समय चले जाओ। मेरे आनंद के बाधक न बनो। मयूर—जो अभी तक तुम्हारे गान पर मुग्ध होकर नाच रहे थे—अब अपने सहस्र नील-चंद्रांकित पक्ष को समेट कर उदास खड़े हैं।"

"आज से दस वर्ष पहले की घटना मुझे ज्यों की त्यों याद है शांति! तब तुम्हारी अवस्था केवल पाँच वर्षों की थी। एक दिन राजगृही वाले उद्यान में कदंब-वृक्ष के नीचे एक युवक बैठकर माला गूँथकर तुम्हें प्रसन्न कर रहा था। उस समय आकाश में पूर्ण-चंद्र तुम्हारी बाल-सुलभ चपलता को देख-देखकर हँस रहा था। और निशा सुंदरी निस्तब्ध होकर तुम्हारी और उस युवक की बातें सुन रही थी। कुछ याद आती है।"

"हेरोदिया इस समय वसंत-ऋतु की पुष्प-मयी वाटिका की तरह सुंदरी है और शरद-पुष्करिणी की तरह कूल-काम-तरंगमयी है। ऐसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवसर को हाथ से जाने देना नितांत मूर्खता है। ओह! उसके रूप की मादकता देखकर मदिरा का रंग उड़ जाता है। उसके ओठों की लालिमा देखकर प्रभात का सूर्य उषा को भूल जाता है और भरसक शीघ्रता करके हिरोदिया के भवन-शिखर पर उसके दर्शनार्थ पहुँचता है। ऐसी सुंदरी का केवल लोकोपवाद के भय से त्याग करना कदापि उचित नहीं। मैं इस समय यहूदिया का सम्राट हूँ, कर्ता, धर्ता और हर्ता हूँ। हमारा कोई क्या बिगाड़ लेगा? हँ, हँ,—मूर्ख कहते हैं कि छोटे भाई की स्त्री पर दृष्टि डालना पाप है। राजा के लिये कोई कर्म भी पाप नहीं कहा जा सकता। वही पाप और पुण्य का नियंता है। जिस तरह से सृष्टि की सब वस्तुओं का सम्राट बनाया है—उसी प्रकार मनुष्यों का सम्राट भी अपनी प्रजा के साथ स्वेच्छाचार कर सकता है।"

उपसंहार

भाषा भाव की अनुरूपिणी होती है। जिस प्रकार का वर्ण्य-विषय होता है उसी प्रकार की भाषा भी आवश्यक होती है। वस्तुतः भाव और भाषा का साम्य न होने से पाठक के हृदय में उस विचार-परंपरा का अनुभव उतनी स्पष्टता और स्वाभाविकता से नहीं होता जिसका दिग्दर्शन अभिप्रेत होता है। अतएव भाषा का भाव के उन्मेष के अनुरूप होना अत्यंत आवश्यक है। यही कारण है कि यदि हम भाषा के क्रमागत विकास का अध्ययन करना चाहते हैं तो विचार-परंपरा का अध्ययन आवश्यक होता है। जिस काल में विचार-पद्धति का जितना विकास हुआ रहता है भाषा भी उतनी ही सबल होती है। जिस प्रकार क्रमशः भाव-शैली उन्नत और परिष्कृत होती जाती है, उसमें बल का संचार होने लगता है और उसका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विस्तार व्यापक होने लगता है, उसी प्रकार भाषा में भी सजीवता तथा प्रौढ़ता आने लगती है और वह अनेक प्रकार के भाव-द्योतन में समर्थ होती जाती है। यही कारण है कि किसी भी साहित्य के आरंभिक काल में भाषा का रूप संकुचित तथा निर्बल रहता है। उसमें न तो एकरूपता ही रहती और न अनेक प्रकार के भाव-प्रकाशन की सामर्थ्य ही। इनका धीरे धीरे विकास होता है।

इसी स्वाभाविक नियम का दर्शन हम हिंदी गद्य की आरंभिक अवस्था में पाते हैं। हिंदी गद्य का प्रारंभिक काल निर्विवाद रूप से उसी समय से माना जाता है जिस समय मुंशी सदासुखलाल, इंशा अल्लाखाँ, सदल मिश्र और लल्लूजी लाल की रचनाएँ प्रकाश में आईं। इसके पूर्व गद्य का इतिहास शृंखलाबद्ध और धारावाहिक रूप में नहीं मिलता। इन लोगों ने इस समय जो रचनाएँ उपस्थित कीं उनमें से कुछ तो केवल संस्कृत से अनुवाद मात्र थीं और कुछ स्वतंत्र। जिन लोगों ने अनुवाद किया उनको आधार स्वरूप भाव और भाषा दोनों की सहायता प्राप्त हुई। यही कारण है कि उनकी कृतियों में संस्कृत की अधिक भावभंगी दिखाई पड़ती है। यह सांस्कृतिक प्रभाव शब्दों तक ही परिमित न रह सका परंतु भाव-द्योतन की प्रणाली तक में पाया जाता है जिसे हम एक शब्द में शैली कहते हैं। अभी हिंदी साहित्य में केवल पद्य-रचना ही होती रही; लोगों के कान तुकांत पदावली में मँजे थे। यही कारण है कि लल्लूजी लाल और सदल मिश्र की रचनाओं में तुकांत-रचना की अधिकता मिलती है। इन लोगों की कृतियों में इधर उधर प्रांतिकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी स्पष्ट दिखाई पड़ती है। साधारणतः इस समय की अधिकांश रचनाओं में शब्दयोजना असंयत एवं वाक्य-रचना अव्यवस्थित और भाव-प्रकाशन निर्बलतापूर्ण था। मुंशी सदासुखलाल की भाषा में कुछ गंभीरता और परिष्कृत रूप अवश्य था। परंतु पंडिताऊपन भाषा का गला दबाता अवश्य दिखाई पड़ता था।

इन लोगों से कुछ भिन्न रचना-शैली इंशा अल्लाखाँ की अवश्य थी। उनकी रचना का उद्देश्य स्वांतःसुखाय था; यही कारण है कि उनकी भाषा का प्रवाह भी स्वच्छंद और अधिक चमत्कारपूर्ण था। पूर्व वर्णित लेखकों की वस्तु धर्म-प्रधान होने के कारण भाव-व्यंजना भी अपेक्षाकृत गंभीर हुई है। परंतु खाँ साहब की वस्तु काल्पनिक होने के कारण उनकी भावद्योतन की प्रणाली भी नवीन और स्वतंत्र थी। उद्भावनाशक्ति के विचार से खाँ साहब सबों में श्रेष्ठ थे। उनकी वस्तु में नवीनता थी, भावभंगी और शैली में चमत्कार था। इतना होने पर भी भारतीय संस्कृति की झलक उनमें कुछ कम पाई जाती है। शब्द-योजना में ही उर्दूपन नहीं मिलता वरन् वाक्य-विन्यास में भी उर्दू छाप स्पष्ट दिखाई पड़ती है। यदि इस काल की सभी रचनाओं को एकत्र रखकर विचार किया जाय तो यही कहा जायगा कि भाषा और व्याकरण दोनों का निर्वाह संयत रूप में नहीं हुआ था—न तो भाषा का ही रूप स्थिर हुआ था और न व्याकरण के नियमों का ही पालन दिखाई पड़ता था। यह कोई अस्वाभाविक बात नहीं थी। उस समय कुछ लिखना और पठन-पाठन को व्यापक बनाना ही ध्येय था। विषय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी इसी लिये केवल साधारण कथा कहानी का ही लिया गया। इसमें रुचि का आकर्षण ही प्रधान वस्तु थी। दूसरी बात जो इस समय ध्यान देने योग्य थी और जिसका संबंध सीधे सीधे शैली से है वह थी भाषा में शुद्धता-वाद के झगड़े का आरंभ। इस झगड़े के प्रधान नायक इंशा अल्ला खाँ और लल्लूजी लाल थे। इसमें लल्लूजी लाल की रचना—प्रेम-सागर—को देखने से स्पष्ट बोध होता है कि उर्दू वाक्य-रचना और शब्द-योजना से बचने का प्रयत्न लेखक ने सचेष्ट होकर किया है। दूसरी ओर खाँ साहब की रचना में उर्दू-पन शब्द-योजना तक ही न रहकर वाक्य-रचना एवं भाव-भंगी तक में घुसा हुआ था। इस भाँति सचेष्ट रूप से दो भिन्न भिन्न प्रकार की शैलियों का शिलान्यास प्रारंभिक काल ही में हुआ। इसका क्रमशः विकास होता रहा।

इसके उपरांत यदि हम ईसाइयों के द्वारा की गई हिंदी की सेवा का उल्लेख न करने का निश्चय कर लें तो शैली का क्रमिक विकास दिखाना असंबद्ध सा ज्ञात होगा, क्योंकि तीन लेखकों के इस दल के उपरांत पचास वर्षों के अनंतर राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह का काल आता है। यदि इन धर्मप्रचारक ईसाइयों की रचनाओं का विचार न हो तो इस पचास वर्षों को इतिहास में शून्य स्थान प्राप्त होगा। अतएव इन रचनाओं का उल्लेख होना आवश्यक है। यह केवल ऐतिहासिक दृष्टि से ही उचित नहीं हैं वरन् शैली के विचार से भी इस काल की कुछ विशेषताएं हैं जिनका उल्लेख आवश्यक है। इन ईसाइयों की रचनाओं में उर्दूपन का पूर्ण बहिष्कार दिखाई पड़ता है। यदि हिंदी का प्रचलित शब्द उन्हें नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिलता था तो किसी भी प्रकार वे उर्दू के शब्दों का व्यवहार नहीं करते थे वरन् हिंदी का ही अप्रचलित अथवा ग्रामीण शब्द लेना उन्हें उतना नहीं खटकता था। 'समय' के स्थान पर उन्हें 'वक्त' कभी न सूझा। 'समय' के स्थान पर 'बेला' अथवा 'जून' तक का व्यवहार दिखाई पड़ता है। वाक्य-विन्यास में भी उर्दू की उस छाया का दर्शन नहीं होता जिसका इंशा अल्लाखाँ की रचनाओं में होता है। इसके अतिरिक्त हिंदी का प्रचार भी इन लोगों ने अधिक किया। जिस ओर पीछे से राजा शिवप्रसाद ने पूर्ण रूप से कार्य किया उस ओर पूर्व ही इन लोगों ने कार्य आरंभ किया था। अपनी पाठशालाओं में पढ़ाने के लिये अनेक प्रचलित विषयों की पुस्तकों का इन्होंने निर्माण कराया जिससे भाषा का प्रचार बढ़ा। इन बातों का संबंध केवल इतिहास से ही नहीं है वरन् शैली-विकास से भी है। इस प्रकार प्रचार होने से और अनेक विषयों में उपयुक्त होने के कारण भाषा में व्यापकत्व आने लगा, उसकी प्रौढ़ता विकसित होने लगी और उसकी व्यावहारिकता बढ़ने लगी। भाषा का सीधा साधा सरल रूप खड़ा होने लगा। इन विशेषताओं का रूप हमें इनकी रचनाओं में स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

पाठशालाओं के पाठ्यक्रम के अनुकूल पुस्तकों के प्रणयन का जो संबंध ईसाई लेखकों द्वारा प्रारंभ हुआ वह राजा शिवप्रसादजी द्वारा दृढ़ हुआ। साहित्यिक क्षेत्र में इस समय प्रधानतः दो राजाओं ने कार्य किया; एक राजा शिवप्रसादजी और दूसरे राजा लक्ष्मणसिंह जी ने। इन लेखकों के काल में वस्तुतः एक ही विषय ध्यान देने योग्य है। भाषा-शुद्धता का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो युद्ध वास्तव में लल्लूजी लाल और इंशा अल्लाखाँ के समय में आरंभ हुआ था वह इस समय स्पष्ट और दृढ़ हो गया। राजा शिवप्रसादजी की रचना-शैली उर्दू और हिंदी का मिश्रण थी। उसमें उर्दू की छाप शब्द तक ही नहीं वरन् वाक्य-विन्यास तक दिखाई पड़ती है। इनके ठीक विपरीत राजा लक्ष्मणसिंह की रचना-शैली थी। इन्होंने उर्दू शब्दों का ही नहीं वरन वाक्य-विन्यास तक का बहिष्कार किया। यह शुद्धतावादी युद्ध आज तक चल रहा है जो बाबू हरिश्चंद्र के समय को पार करता हुआ वर्तमान काल तक में पहुँच चुका है।

इसके उपरांत भारतेंदु का काल आया। इनके समय में अनेक प्रतिभाशाली लेखक हुए। अनेक विषयों पर ग्रंथ लिखे गए। उपन्यास, इतिहास, लेख, समालोचना के अतिरिक्त पाठशालाओं के पाठ्य-क्रम से संबंध रखनेवाले अन्यान्य विषयों पर सुंदर पुस्तकें लिखी गईं। रचना-शैली का क्रमशः विकास हुआ। शब्दों में प्रौढ़ता वाक्य-विन्यास में स्पष्टता और संगठन बढ़ने लगा। इस काल में भाषा और भावभंगी दोनों में साहित्यिकता का सिक्का जमने लगा था। भाव-प्रदर्शन में भी बल आ गया था। इतना बल आ गया था कि लेखकों को साहित्यिक विशिष्टताएँ एवं गद्यात्मक उत्कर्ष दिखाने की इच्छा होती थी। इतना होते हुए भी भाषा व्याकरण की ओर लोगों की दृष्टि नहीं फिरी थी। इस समय की कितनी ही रचनाओं में व्याकरण संबंधी त्रुटियाँ स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। विरामादिक चिह्नों का भी प्रयोग उचित रूप में नहीं हुआ है। इससे स्थान स्थान पर भाषा की बोधगम्यता नष्ट हो गई है। एक शब्द में यदि हम कहना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहें तो कह सकते हैं कि इस समय तक रचना-शैली में व्यापकता एवं परिमार्जन नहीं उपस्थित हो सका था।

जो न्यूनताएँ हरिश्चंद्र-काल में रह गई थीं उनकी पूर्ति वर्तमान काल में हुई। व्याकरणगत न्यूनताओं के विषय में पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा पंडित गोविंदनारायण मिश्र प्रभृति सतर्क लेखक विशेष तत्पर रहे। भाषागत परिमार्जन के अतिरिक्त वर्तमान काल की प्रधान विशेषता है भाषा का व्यापक विस्तार एवं भाव-प्रदर्शन की प्रौढ़ शैलियों का स्वतंत्र स्वरूप। इस वर्तमान काल में अनेक लेखक कुशलतापूर्वक अनेक विषयों पर लिख रहे हैं। हर एक विषय की स्वतंत्र शैली दिखाई पड़ती है। इसके अतिरिक्त इन स्वतंत्र शैलियों में लेखकों के व्यक्तित्व के अनुसार वैयक्तिकताएँ विशेष दिखाई पड़ती हैं। ये विशेषताएँ भाषा की प्रौढ़ता और परिमार्जन की परिचायक हैं।

आज भाषा का जो दिव्य और परिमार्जित रूप दिखाई पड़ता है उसमें कुछ ऐसी खटकनेवाली बातें प्राप्त होती हैं जो थोड़े ही प्रयास से सुधर सकती हैं और इस प्रयास की अत्यंत आवश्यकता है। पहली न्यूनता तो यह है कि शब्दों का स्वरूप ही स्थिर नहीं है। एक ही शब्द कई रूप से प्रयुक्त होता है। कोई लेखक 'बेर' लिखता है तो दूसरा उसको 'बार' लिखता है; कोई 'उद्देश्य' का प्रयोग करता है और कोई 'उद्देश' ही लिखना उचित समझता है; कोई 'धर्म्म' लिखता है कोई 'धर्म' ही ठीक मानता है। इसके अतिरिक्त क्रियाओं का रूप भी चिंतनीय है। एक 'देखना' के कई रूप प्रयुक्त होते दिखाई पड़ते हैं। 'दीख', 'दिखाई', 'दिखलाई',

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'देखाई' सब एक ही क्रिया के रूप हैं। इन सभी रूपों का प्रयोग आजकल मिलता है। इस प्रकार के भिन्न भिन्न प्रयोग उस समय और भयंकर ज्ञात होते हैं जब एक ही लेखक दो रूपों का व्यवहार करता है। शब्दों के निश्चयात्मक स्वरूपों का स्थिर होना अत्यंत आवश्यक है। इस निर्बलता के कारण भाषा की स्थिरता में संदेह होने लगता है। इसके अतिरिक्त यदि कोई विदेशी इस भाषा का अध्ययन आरंभ करता है तो उसे विशेष असुविधा का सामना करना पड़ता है।

इधर जब से भाषा की व्यापकता और विस्तार बढ़ता गया है, उसमें अन्य भाषाओं की भावभंगी एवं वाक्य-विन्यास का समावेश होता गया है। प्रथमतः उर्दू के संयोग के कारण उर्दू शब्दों और वाक्य-विन्यास का प्रभाव हमने स्पष्ट देख लिया है। इसके उपरांत हरिश्चंद्र काल ही में अँगरेजी और बँगला भाषाओं का प्रभाव हिंदी में दिखाई पड़ने लगा था। वर्तमान समय में यह निश्चित करना कि किस भाषा का कितना अंश हिंदी भाषा में मिल गया है बड़े ही विस्तार का विषय है। इसके लिये एक स्वतंत्र पुस्तक की आवश्यकता दिखाई पड़ती है। कहने का सारांश यह है कि एक भाषा पर अन्य भाषाओं का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। परंतु विचारणीय प्रश्न यह है कि अपनी भाषा में पाचन-शक्ति का विकास करते करते कहीं हम उसकी उद्भावना-शक्ति का ह्रास न करने लगें। वर्तमान लेखकों को इस विषय में सदैव सतर्क रहना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१०) आलोचना

(३) बाबू श्यामलालकृत "बालकांड का नया जन्म"

मैंने बाबू श्यामलाल के "बालकांड का नया जन्म" नामक ग्रंथ का ध्यानपूर्वक अवलोकन किया। इसकी भूमिका बड़े महत्त्व की है। बाबू श्यामलाल की तर्क-शैली और विवेचन-पद्धति के आगे सिर झुकाना पड़ता है और जो कुछ उन्होंने लिखा है तथा जिस प्रकार रामचरितमानस के बाल-कांड को क्षेपक-रहित करके अपने संस्करण की प्रामाणिकता को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है उसकी प्रशंसा किए बिना मैं नहीं रह सकता। यह सब होते हुए भी बालकांड की जो प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ अब तक उपलब्ध हुई हैं और उनमें से एक गोस्वामी तुलसीदासजी के जीवनकाल की लिखी हुई है तथा उनके द्वारा संशोधित बताई जाती है, उनमें वे सब अंश वर्तमान हैं जिन्हें बाबू श्यामलाल ने क्षेपक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इस अवस्था में जब तक कोई और प्राचीनतर हस्तलिखित प्रति न प्राप्त हो जाय और उसमें क्षेपक कहे गए अंश न मिलें तब तक बाबू श्यामलाल के तर्क से प्रमाणित क्षेपक अंश को गो० तुलसीदास कृत न मानना बहुत बड़े साहस का काम होगा। एक ग्रंथ की रचना में त्रुटियाँ दिखाकर उनका पूर्वापर सामंजस्य या असामंजस्य सिद्ध करना एक बात है और उन्हें कविकृत न मानना दूसरी बात है। अयोध्या कांड की राजापुरवाली प्रति गो० तुलसी-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दासजी के हाथ की लिखी कही जाती है। जब बाबू श्यामलाल का "अयोध्या कांड का नया जन्म" प्रकाशित होगा तब इस संबंध में कुछ अधिक कहा जा सकेगा। अभी तो केवल इतना ही कहा जा सकता है कि यदि बाबू श्यामलालजी तीन सौ वर्ष पहले होते और गो० तुलसीदासजी ने अपने रामचरित-मानस के संबंध में उनसे "इसलाह" ली होती तो संभवतः उनकी यह कृति कुछ और ही होती।

अंत में मुझे इतना ही कहना है कि यद्यपि हम बाबू श्यामलाल की तर्क-शैली और विवेचन-पद्धति तथा उनके इस उद्योग की जी खोलकर प्रशंसा करते हैं तथापि हम अभी यह मानने के लिये प्रस्तुत नहीं हैं कि जिन पंक्तियों को उन्होंने क्षेपक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है वे वास्तव में तुलसीदास-कृत नहीं हैं, उन्हें पीछे से किसी ने जोड़ दिया है।

श्यामसुंदरदास

(४) बाबू श्यामसुंदरदासकृत "हिंदी भाषा और साहित्य" पर एक दृष्टि

यह पाँच सौ पृष्ठों का एक खासा मोटा ग्रंथ है जो इंडियन प्रेस इलाहाबाद से अभी छपकर निकला है। लेखक इसे हिंदी भाषा और साहित्य का एक छोटा सा इतिहास कहते हैं। निस्संदेह इस शैली के कोई कोई ग्रंथ इससे तिगुने मोटे हैं, परंतु यदि उनमें से विनोदार्थ उद्धृत उदाहरण निकाल दिए जायँ तो सारगर्भित स्थूलता में कदाचित् यह बाजी मार ले जाय।

इस ग्रंथ के दो विभाग हैं; अर्थात् पहला हिंदी भाषा का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतिहास और दूसरा हिंदी साहित्य का इतिहास। पहला भाग एक बार अलग पुस्तक रूप में तथा भाषाविज्ञान नामक पुस्तक के एक अध्याय के रूप में भी प्रकाशित हो चुका है और उस पर समालोचनाएँ भी लिखी जा चुकी हैं। इस समय वह पूर्ण रूप से संशोधित कर दिया गया है।

इसमें वैदिक काल से आरंभ कर भारतीय भाषाएँ क्या रूप धारण करती गईं और अंत में हिंदी की खड़ी बोली किस तरह खड़ी हुई इसका दिग्दर्शन बड़ी मनोहरता के साथ किया गया है। इस विषय के व्यक्त करने में शुष्क व्याकरण का संग छुड़ाया नहीं जा सकता, परंतु उसकी रुखाई में ऐसी चिकनाई लगा दी गई है कि पढ़ने से जी नहीं ऊबता।

प्राचीन और आधुनिक भाषाओं का यथावश्यक वर्णन करके ग्रंथकर्त्ता ने लिखा है—"पहले मूल भाषा से वैदिक संस्कृत की उत्पत्ति हुई और फिर उसने कट छँट या सुधरकर साहित्यिक रूप धारण किया; परंतु साथ ही वह बोलचाल की भाषा बनी रही। प्राचीन बोलचाल की भाषा को कुछ विद्वानों ने 'पहली प्राकृत' नाम दिया है, हमने उसका उल्लेख मूल भाषा के नाम से किया है। आगे चलकर यह पहली प्राकृत या मूल भाषा दूसरी प्राकृत के रूप में परिवर्तित हुई जिसकी तीन अवस्थाओं का हमने पहली प्राकृत या पाली, दूसरी प्राकृत शौरसेनी आदि प्राकृतें और अपभ्रंश नामों से उल्लेख किया है। जब इन भिन्न भिन्न अवस्थाओं की प्राकृतें भी वैयाकरणों के अधिकार में आकर साहित्यिक रूप धारण करने लगीं तब अंत में इस मध्य प्राकृत से तीसरी प्राकृत या अपभ्रंश का उदय हुआ। जब इसमें साहित्य की रचना आरंभ हुई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तब बोलचाल की भाषा से आधुनिक देश-भाषाओं का आरंभ हुआ। ये देशभाषाएँ भी अब क्रमशः साहित्य का रूप धारण करती जाती हैं।"

अपने विषय का इस प्रकार प्रतिपादन करते हुए बाबू साहब ने हिंदी का आदि काल सं० १०५० विक्रमी और चंद को हिंदी का प्रथम कवि माना है। साथ ही साथ इस विषय में जो अनेक शंकाएँ उपस्थित की गई हैं उनका भी वे यथोचित निवारण करते गए हैं; परंतु एक बात अब भी स्पष्ट नहीं हुई। वह यह है कि मूल भाषा अर्थात् पाली के उठ जाने पर कहीं कहीं जो देशभाषा का उल्लेख मिलता है और जिसकी प्राकृत भाषा से विभिन्नता बतलाई जाती है वह कौन भाषा थी और अंत में उसका क्या हुआ। हर्षचरित्र में लिखा है कि बाण जब भ्रमण करने को निकला तो उसके साथ एक भाषा कवि और एक प्राकृत कवि था। यह ईसवी सातवीं सदी की बात है। इसके पूर्व पाँचवीं सदी के लगभग गुप्त नरेशों के समय में भी देशभाषा के अस्तित्व का पता लगता है। नारद स्मृति में लिखा है कि गुरु को चाहिए कि अपने शिष्य को संस्कृत, प्राकृत और देशभाषा द्वारा बोध करावे। यह देशभाषा कोई द्राविड़ी भाषा थी जो इस देश के मूल निवासियों की बोली थी, या आर्य भाषा से निकली हुई जनसमूह के बोलचाल की भाषा थी? विद्यामहोदधि श्रीमान् काशीप्रसाद जायसवाल ने सतर्क बतलाया है कि नारद के समय में प्राकृत पंडिताऊ भाषा-हो गई थी और बोलचाल की भाषा न रह गई थी। बोलचाल की भाषा देशभाषा कहलाती थी और यही पुरानी हिंदी थी। जब इसका तारतम्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सातवीं सदी तक पाया जाता है तब इसकी खोज लगाना और यथोचित विवेचन करना आवश्यक जान पड़ता है।

ग्रंथ के दूसरे भाग में हिंदी साहित्य का इतिहास एक नूतन विधि से लिखा गया है जिसमें भिन्न भिन्न परिस्थितियों का वर्णन करके हिंदी भाषा पर उनका प्रभाव दिखलाया गया है। राजनीतिक, सामाजिक और धार्म्मिक अवस्थाओं का दिग्दर्शन कराके देशी विदेशी ललित कलाओं का परिचय इस प्रकार दिया गया है जिससे स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाय कि वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला और संगीतकला ने हिंदी के साहित्य पर किस प्रकार अपना प्रभाव अंकित किया। यह एकदम नवीन सूझ है जिस पर हिंदी साहित्य के इतिहास-लेखकों का ध्यान अभी तक आकृष्ट नहीं हुआ था।

बाबू श्यामसुंदरदास ने हिंदी साहित्य के इतिहास को चार कालों में विभक्त किया है यथा—

आदि युग (वीर गाथा का युग—संवत् १०५० से १४०० तक),

पूर्व मध्य युग (भक्ति का युग—संवत् १४०० से १७०० तक),

उत्तर मध्य युग (रीति-ग्रंथों का युग—सं० १७०० से १९०० तक)

आधुनिक युग (नवीन विकास का युग—सं० १९०० से अब तक)

इस काल विभाग की उपयुक्तता ग्रंथ के पढ़ने से ही प्रतीत होगी। प्रत्येक काल की परिस्थिति का विवेचन अनेक दृष्टि-कोणों से किया गया है। ललित कलाओं का भी इसी प्रकार विभाग कर यह दिखलाया गया है कि विभिन्न कालों की साहित्यिक परिस्थिति के साथ ललित कलाओं की परिस्थिति में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कितनी समता है। "सब कलाएँ मानव चित्तवृत्तियों की अभिव्यक्ति हैं। जिस देश में जिस काल में जनता की जैसी चित्तवृत्ति रहती है वैसी ही प्रगति ललित कलाओं की होना स्वाभाविक है।"

ग्रंथकर्त्ता ने हर एक काल के मुख्य कवियों का वर्णन करते हुए उन बातों पर विशेष जोर दिया है जिनसे कोई साहित्यिक मूलतत्त्व सिद्ध होता है। इससे अनर्गल बातें आप से आप छूट गई हैं। इस ग्रंथ की यही विशेषता है। इस पुस्तक में पाठक को एक भी ऐसा नाम न मिलेगा जिसका जिक्र बिना किसी विशेषता के साथ किया गया हो, जैसा कि बहुतेरे ग्रंथों में पाया जाता है और जिनमें ग्रंथकाय बढ़ाने के लिये योग्य अयोग्य का विचार न कर ऐसे व्यक्तियों तक की भरती कर ली गई है जो कदाचित् साहित्य की परिभाषा भी नहीं जानते। बाबू साहब ने किसी के दोष गुण बताने में कोताही नहीं की, चाहे वे किसी भी दर्जे के लेखक या कवि हों। उन्होंने अपने जीवित मित्रों को भी उसी कसौटी पर कसा है। इस पक्षपात-रहित विवेचन के लिये वे धन्यवाद के पात्र हैं। पुस्तक बड़े मार्के की है और समीक्षा की एक प्रकार की नवीन विधि स्थापित करती है। इस पुस्तक में अनेक कवियों के और ललित कला संबंधी प्राचीन चित्र हैं जो सरलता से उपलब्ध नहीं हैं। ये पुस्तक के ओज को बढ़ाते हैं। इंडियन प्रेस की छपाई ने भी अब ललित कला का रूप धारण कर लिया है। इस कनक-तिलक-धारी पुस्तक का बाह्य रूप उसके भीतरी विषय के अनुकूल ही है। इसलिये मूल्य ६) कुछ अधिक नहीं है।

हीरालाल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य परिषद्

इस वर्ष साहित्य परिषद् का अधिवेशन सभाभवन में १० और ११ पौष १९८७ (तारीख २५ और २६ दिसंबर १९३०) को होगा जिसका कार्यक्रम नीचे दिया जाता है,—

पहले दिन २ बजे

(१) मंगल गान
(२) सभा के सभापति द्वारा आए हुए सज्जनों का स्वागत
(३) सभापति का चुनाव
(४) सभापति का भाषण
(५) पदक का वितरण
(६) लेखों का पढ़ा जाना
(७) मैजिक लालटैन के साथ संग्रहाध्यक्ष का व्याख्यान

दूसरे दिन २ बजे

(१) राष्ट्र भाषा का गान
(२) सभा के सभापति द्वारा सभा के कार्यों का संक्षिप्त विवरण
(३) संगीत कला पर व्याख्यान तथा संगीत
(४) लेखों तथा कविताओं का पाठ

माधवप्रसाद खन्ना
प्रधान मंत्री
नागरीप्रचारिणी सभा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Printed by A. Bose,
at the Indian Press, Ltd.,
Benares-Branch.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

अर्थात्

प्राचीन शोधसंबंधी त्रैमासिक पत्रिका

[नवीन संस्करण]

भाग ११—अंक ४

पुस्तक सं० ना०प्र०प०
आगत सं० २२(४)
गुरुकुल ग्रन्थालय कांगड़ी.

संपादक

महामहोपाध्याय रायबहादुर गौरीशंकर हीराचंद ओझा

—:※:—

काशी-नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

माघ संवत् १९८७] [मूल्य प्रतिसंख्या २॥) रुपया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-सूची

विषय — पृष्ठ

११—हिंदी कविता में योग-प्रवाह [लेखक— श्री पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, एम० ए०, एल-एल० बी०, काशी] ... ३८५

१२—देवल देवी और खिज्रखाँ [लेखक—श्री जगनलाल गुप्त, बुलंदशहर] ४०७

१३—देशभाषा [लेखक—रायबहादुर श्री हीरालाल, बी० ए०, कटनी] ४२९

१४—कवि शेष निसार कृत मसनवी यूसुफ-जुलेखा [लेखक—श्री सत्यजीवन वर्म्मा, एम० ए०, प्रयाग] ... ४४५

१५—संगीत विद्या [लेखक—श्रीमुरारीप्रसाद, पटना] ... ४६९

१६—बौद्ध संस्कृत साहित्य [लेखक—श्री मथुरालाल शर्मा, एम० ए०, काशी] ४९३

१७—आलोचना और विचार—

(५) [लेखक—श्री पंड्या वैजनाथ] ५०९

(६) [लेखक—श्री रघुनंदनप्रसाद सिंह] ... ५१०

सूचना

निम्नलिखित नई पुस्तकें छपकर प्रकाशित हो गईं—

१—मथिल कवि विद्यापति ठक्कर कृत कीर्तिलता [संपादक—बाबूराम सकसेना, एम० ए०]

२—अकबरी दर्बार (दूसरा भाग) [अनुवादक—रामचंद्र वर्म्मा]

३—कर्मवाद और जन्मांतर [अनुवादक—लल्लीप्रसाद पांडेय]

४—हिंदी-साहित्य का इतिहास [लेखक—रामचंद्र शुक्ल]

५—हिंदी-रसगंगाधर [लेखक—पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी

६—रसखान और घनानंद [संपादक—अमीरसिंह]

छप रही है

१—मुँहणोत नणसी की ख्याति (दूसरा भाग)।

२—बाँकीदास ग्रंथावली (दूसरा भाग)।

३—गणित की परिभाषा।

प्रकाशन-मंत्री

नागरीप्रचारिणी सभा,

काशी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(११) हिंदी कविता में योग-प्रवाह

[लेखक—पंडित पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, एम० ए०, एल-एल० बी०, काशी]

हिंदी साहित्य के इतिहास में अभी तक योगियों का आभार पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं किया गया है। अब तक योग के जो ग्रंथ प्रकाश में आए हैं वे विशेषकर गोरखनाथजी के लिखे कहे जाते हैं। गोरखनाथजी का समय बड़े विवाद का विषय है। एक ओर डा० शहीदुल्ला उन्हें विक्रम के आठवें शतक में ले जाते हैं तो दूसरी ओर नागरीप्रचारिणी सभा की खोज के सन् १९०२ के विवरण में पंद्रहवें शतक के आरंभ में उनका होना कहा गया है। स्वर्गीय डाक्टर फर्कुहर ने बीच का मार्ग पकड़ा है। उन्होंने उनका समय तेरहवें शतक का मध्य भाग बतलाया है। बाह्य और आभ्यंतर साक्ष्य के आगे ये तीनों मत ठीक नहीं ठहरते।

पहले खोज विवरण में दिए हुए मत को लीजिए। गोरखनाथ का सबसे पुराना मंदिर अलाउद्दीन ने ढहाया था। कहा जाता है कि यह मंदिर बहुत पुराना था, यहाँ तक कि उसके शिवजी के द्वारा त्रेता युग में बनाए जाने की बात भी कही जाती है। और जो हो, इतना तो निश्चित है कि अलाउद्दीन के समय में इसका संबंध गोरखपंथ से हो गया था। अलाउद्दीन का राजत्वकाल संवत् १३५३-१३७३ है। इसलिये पंद्रहवें शतक के आरंभ में गोरखनाथ का समय मानना उचित नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डाक्टर फर्कुहर ने ज्ञानेश्वर के कथन को आधार मानकर अपना मत निर्धारित किया है। ज्ञानेश्वर भी नाथपंथी योगी थे। उन्होंने अपने अमृतानुभव और ज्ञानेश्वरी (गीता की टीका) नामक ग्रंथों में अपनी गुरु-परंपरा दी है। उनके अनुसार उनकी गुरु-परंपरा यह थी—१ आदिनाथ, २ मत्स्येंद्रनाथ, ३ गोरखनाथ, ४ गहनीनाथ, ५ निवृत्तिनाथ और ६ ज्ञानेश्वर। इसके अनुसार गहनीनाथ गोरखनाथ के शिष्य ठहरते हैं। निवृत्तिनाथ के अभंगों से भी यही बात प्रकट होती है। एक अभंग में वे कहते हैं—

आदि नाथ उमा वीज प्रगटलें, मत्स्येंद्रा लाधलें सहज स्थिती।
तेचि प्रेम मुद्रा गोरक्षा दिधली, पूर्ण कृपा कैली गैनीनाथ॥

इन लोगों ने भी यह बात स्वयं गहनीनाथ के कथन के आधार पर लिखी है। श्रीयुत लक्ष्मण रामचंद्र पांगारकर ने अपने ज्ञानेश्वर-चरित्र में गहनीनाथ की लिखी एक हिंदी पुस्तक गहनी प्रताप का उल्लेख किया है जिसमें लिखा है—

गोरख सुत गहनी कहे नाथ पंथ की बानी।
ग्यानी जानत गुरु पुत होत सो हि चढ़े निरबानी॥

इसमें तो संदेह नहीं कि गहनीनाथ निवृत्तिनाथ के गुरु थे और यह भी निश्चित है कि निवृत्तिनाथ का जन्म शक संवत् ११९५ विक्रम अर्थात् संवत् १३३० में हुआ था। महाराष्ट्र में प्रचलित एक किंवदंती के अनुसार गहनीनाथ ने निवृत्तिनाथ के पितामह गोविंदपंत को भी दीक्षा दी थी। इससे ज्ञात पड़ता है कि उनकी बहुत बड़ी आयु हुई थी। एक एक पीढ़ी के लिये २५, २५ वर्ष लें तो मानना चाहिए कि संवत् १२८० के लगभग गहनीनाथ इतने प्रसिद्ध हो गए थे कि लोग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनके शिष्य होने लग गए थे। गोरखनाथ और गहनीनाथ के समय में एक पीढ़ी के उपयुक्त २५ वर्ष का अंतर मानें तो उनका समय संवत् १२५५ निकलता है। लगभग यही समय (ईसवी संवत् १२००, अर्थात् विक्रमी संवत् १२५७) डाक्टर फर्कुहर ने भी गोरखनाथ का माना है।

परंतु इस समय को ठीक मानने में एक अड़चन पड़ती है। ग्यारहवें शतक के आरंभ के लिखे हुए बौद्ध तंत्रों में गोरखनाथ का उल्लेख मिलता है। अब यदि तेरहवें शतक के मध्य को गोरखनाथ का समय मानें तो इतने पहले गोरखनाथ के उल्लेख का कोई समाधान नहीं हो सकता। अतएव यह मत भी ठीक नहीं जँचता जान पड़ता कि गहनीनाथ ने केवल अपने पंथ के प्रवर्तक होने के नाते गोरखनाथ को गुरु कहा है। गुरु ईश्वर का पर्य्याय भी होता है और इसमें तो संदेह नहीं कि गोरखनाथ उस समय तक ईश्वर माने जाने लगे थे।

नेपाल की बौद्ध जनश्रुतियों के अनुसार, जो किसी प्रकार उस देश के राजाओं की वंशावली में सम्मिलित कर ली गई हैं, गोरखनाथ मछंदरनाथ के दर्शनों की उत्कंठा से राजा नरेंद्रदेव के समय में नेपाल गए थे। नरेंद्रदेव का समय तो निश्चित है। चीनी यात्री वांग ह्यूंटसे राजा नरेंद्रदेव का अतिथि हुआ था। इस यात्री ने सं० ७२२ (ई० ६६५) में अपना यात्रा-विवरण लिखा। इससे नरेंद्रदेव का भी यही समय होना चाहिए। परंतु क्या इसी से यह भी मान लिया जाय कि गोरखनाथ का भी यही समय है? कई विद्वान् और उनके साथ डा० शहीदुल्ला यही मानते हैं। पर वास्तव में इन जनश्रुतियों को शब्दशः इतिहास मानना उचित नहीं जान पड़ता, क्योंकि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इनकी प्रवृत्ति प्रसिद्ध घटनाओं को बहुत प्राचीन समय में ले जा रखने की है। विक्रम से पूर्व १९३ संवत् (ई० पू० २५०) में अशोक ने लुंबिनी आदि तीर्थों को देखने की आकांक्षा से नेपाल की यात्रा की थी। परंतु इन श्रुति-परंपराओं के अनुसार यह घटना कलिगत संवत् १२३४ (ईसा से पूर्व १८६७) से लगभग २० पीढ़ी पहले किराती राजा स्थूंको के समय में हुई। इसी प्रकार जगद्गुरु शंकराचार्य का दिग्विजय करते हुए राजा वृषदेव के समय में नेपाल जाना कहा गया है। जगद्गुरु शंकराचार्य का समय विक्रम के नवें शतक के उत्तरार्ध और कुछ दशवें शतक के आरंभ में पड़ता है जब कि राजा वृषदेव का समय इतिहासवेत्ताओं ने पाँचवें शतक का आरंभ माना है। यही दशा गोरखनाथ और मछंदरनाथ की नेपाल-यात्रा की भी हुई होगी।

यह बात तो श्रुति-परंपरा से भी प्रकट है कि नेपाल में गोरख-मछंदर-आगमन शंकराचार्य के आने के बहुत पीछे हुआ। जिस समय ये लोग नेपाल गए थे उस समय वहाँ हिंदू रीति-रवाजों का बहुत-कुछ प्रचार हो गया था। कहते हैं कि आचार्य बेधुदत्त ने उस समय जनता को उनका पालन करते रहने का उपदेश दिया था। इससे पता चलता है कि मछंदर और गोरख यदि कोई ऐतिहासिक व्यक्ति थे तो वे शंकर के पीछे हुए, पहले नहीं। हिंदी में गोरखनाथ के नाम से जितने ग्रंथ मिलते हैं वे इस बात की पुष्टि करते हैं। उनके परिशीलन से पता चलता है कि गोरखनाथजी ने अपने योग-प्रधान मत की नीव शांकर अद्वैत-वेदांत पर रखी थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'अभेद-भेद भेदीले जोगी बदंत गोरष राई।'
'आत्मा-परिचै राखो गुरुदेव सुंदर काया।'

उपर्युक्त वाक्य उनकी रचनाओं में स्थल स्थल पर आदि से अंत तक बिखरे मिलते हैं। पाश्चात्य विद्वान् मुग्धानल (मेकडॉनल) और कीथ के अनुसार शंकर का जीवन-काल विक्रम संवत् ८४५ से ९०७ तक है; इसलिये गोरखनाथ का समय ९०७ के पीछे का होना चाहिए।

परंतु साथ ही इन रचनाओं में नागार्जुन के शून्यवाद और आसंग के विज्ञानवाद के भी कुछ अवशिष्ट चिह्न मिलते हैं, यद्यपि वे अब केवल ब्रह्मवाद और मायाबाद के बाहरी आवरण मात्र रह गए हैं। कहीं कहीं तो शून्यवाद का स्पष्ट विरोध भी मिलता है—

बस्ती न सुन्यं सुन्यं न बस्ती अगम अगोचर ऐसा।
गगन-सिखर में बालका बोलै ताका नाँव धरहुगे कैसा॥

शून्य का ब्रह्मांड या ब्रह्मरंध्र के लिये भी प्रयोग होने लगा था—

सुन्नि मँडल तहँ नीझर झरिया।
चंद सुरज ले उनमनि धरिया॥

इससे दो बातें प्रकट होती हैं, एक तो यह कि गोरखनाथ का बौद्ध-धर्म के साथ कुछ न कुछ संपर्क था और दूसरी यह कि शांकर मत का इतना प्रचार हो गया था कि उसने स्वयं बौद्ध धर्म में घुसकर उसे पदच्युत कर दिया था। इसमें पर्याप्त समय लगा होगा। कम से कम सौ डेढ़ सौ वर्ष तो तब भी लगे होंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जनश्रुति है कि मछंदरनाथ (मत्स्येंद्रनाथ) गोरखनाथ के गुरु थे। वे इंद्रिय-सुख में पड़कर कामिनियों के जाल में फँस गए थे। इस अवस्था से गोरखनाथ ने उनका उद्धार किया। इस जनश्रुति को सभी लोग मानते हैं। इसमें हमें गोरखनाथ के अश्लील तांत्रिकता का विरोध कर उसके स्थान पर ब्रह्मचर्योपेत योग-मार्ग का प्रचार करने के उद्योग का संकेत मिलता है। बौद्ध तांत्रिक संप्रदाय का आरंभ लगभग सातवें शतक में हुआ। तिब्बत, नेपाल और बंगाल में उसका खूब प्रसार हुआ। बंगाल में विक्रमशिला उसका प्रधान केंद्र थी। पाल राजा महीपाल ने नवीं शताब्दी में विक्रमशिला के विहार की स्थापना की थी। 'बज्र' उपाधि-धारी भिक्षु कामुकता को निर्वाण का साधन मानकर दुराचार में पड़े हुए थे। ग्यारहवें शतक के आरंभ में बौद्धों का तांत्रिक संप्रदाय अपने मध्याह्न में था। यहाँ से उसका ह्रास आरंभ हुआ। जान पड़ता है कि मछंदरनाथ इन्हीं तांत्रिकों में से था। जिस समय नेपाल में मछंदरनाथ और गोरखनाथ का आगमन हुआ उसी समय हिंदू धर्म के प्रसार के उद्देश्य से एक और ब्राह्मण के वहाँ जाने का उल्लेख मिलता है। यह ब्राह्मण शंकराचार्य का अवतार माना जाता था। क्या यह ब्राह्मण और गोरखनाथ एक ही व्यक्ति के साधारण और लोकोत्तर रूप तो नहीं हैं? यह बात कम से कम असंभव तो नहीं मालूम पड़ती। और जो हो, गोरखनाथ पर शंकर के अद्वैतवाद का प्रभाव अवश्य पड़ा था। उसने अपने गुरु को उसका उपदेश दिया और उससे विलासितामय जीवन का परित्याग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कराया। स्थान स्थान पर गोरखनाथ की रचनाओं में इस बात का उल्लेख है—

चारि पहर आल्यंगन निंद्रा संसार जाइ विषिया बाही।
उभय हाथौं गोरखनाथ पुकारै तुम्हें भूल महारी माद्या भाई॥

* * * *

वामा अंगे सोइबा, जम चा भोगिवा संगे न पिवणा पाणी।
इम तो अजराबर होइ मछिंद्र बोल्यो गोरख बाणी॥

* * * *

छाँटै तजौ गुरु, छाँटै तजौ, तजौ लोभ माया।
आत्मा परचै राखौ गुरुदेव, सुंदर काया॥

* * * *

एतैं कछु कथीला गुरु सर्बे भैला भोलै।
सर्बे कमाई खोई गुरु बाघनी चै पोलै॥

* * * *

गोरखनाथ ने अपने गुरु के पंथ के सुधार का काम भीतर से किया। उसने बाहर से आक्रमण नहीं किया। बल्कि पुराने शब्दों में नई शिक्षा दी। इसलिये उसका नयापन सहसा खटका नहीं। कई बौद्ध-तंत्रों में गोरखनाथ और उसके साथी अन्य नाथों की महिमा गाई गई है। नाथों का प्राचीन धर्म से भेद स्पष्ट तभी मालूम हुआ जब मुसलमानों ने नाथों को ईश्वरवादी समझकर उनके साथ छेड़छाड़ न की किंतु बौद्ध-तांत्रिकता का बंगाल से उन्मूल कर दिया। तिब्बत में यह परंपरागत जनश्रुति है कि कनफटा-नाथ पहले बौद्ध ही थे परंतु मुसलमानों के बंग-विजय करने पर वे मुसलमानों का विरोध न दिखाने के उद्देश्य से ईश्वर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(शिव) के उपासक हो गए। तारानाथ ने अपने ग्रंथ में इसका उल्लेख किया है। यह द्वेषमूलक जन-श्रुति भी इसी तथ्य की ओर संकेत करती है। मुसलमानों की बंग-विजय का समय १२५६ से १२६० संवत् है। बौद्धों और नाथों में जो भेद इस समय स्पष्ट हुआ, उसका आरंभ यदि हम २०० वर्ष पहले नेपाल में मानें तो अनुचित न होगा। इससे भी गोरखनाथ का समय ग्यारहवें शतक का मध्य ही ठहरता है।

इन सब बातों से हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि गोरखनाथ का समय संवत् १०५० के आसपास है।

अब प्रश्न यह उठता है कि गोरखनाथ की जो रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं वे इतनी पुरानी हैं या नहीं ? इसमें तो संदेह नहीं कि उनमें प्राचीनता के चिह्न हैं। उदाहरण के लिये—

आओ माई धरि धरि जाओ गोरख बाल भरि भरि खाओ।
झरै न पारा बाजै नाद, ससिहर सूर न बाद विवाद॥
पवन गोटिका रहणि अकास महियल अंतरि गगन कविलास।
पयाल नी डीबी सुन्नि चढ़ाई कथत गोरखनाथ मछींद्र बताई॥

इसमें ससिहर, महियल, पयाल इसकी प्राचीनता के द्योतक हैं। इसी प्रकार, अम्हें, तुम्हें आदि सर्वनाम भी इनकी रचनाओं में मिलते हैं। हि विभक्ति प्राकृत और अपभ्रंश में प्रायः सभी कारकों का काम देती थी। इनकी रचनाओं में वह इ के रूप में विद्यमान है। 'जल कै संजमि अटल अकास' में के 'संजमि' में वह करण की विभक्ति की स्थानापन्न है और 'कौणे चेतनि मन उनमनि रहे' में के 'चेतनि' में अधिकरण की। परंतु सब रचनाओं को पढ़ने से जो प्रभाव पड़ता है उससे वे उतनी प्राचीन नहीं जान पड़तीं जितनी अर्वाचीन।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रसिद्ध खोजी महामहोपाध्याय श्री हरप्रसाद शास्त्री ने बौद्धगान नाम से सहजिया संप्रदाय के कुछ गीतों का संग्रह प्रकाशित किया है। इसमें से कानपाद का एक पद लीजिए—

आलिए कालिए बाट रुँधेला, ता देखि कान विमन भईला।
कान्हु कहिं गइ करिब निवास, जो मन गोअर सो उआस ॥
ते तिनि ते तिनि तिनि हो भिन्ना, भणाई कान्हु भव परिछिन्ना।
जे जे आइला ते ते गेला, अवनागवने कान विमन भईला ॥
हेरि से कान्ह जिन उर बटई, भणइ कान्ह मो हियहि न पइसई।

शास्त्रीजी इसे बँगला का पुराना रूप बतलाते हैं। परंतु हमें इसमें पूर्वी हिंदी के बिलकुल पुराने नहीं बल्कि कुछ विकसित रूप के दर्शन होते हैं। इंससे गोरखनाथजी के नीचे लिखे पद को मिलाइए—

कान्हापाव भेटीला गुरु विद्यानग्रे सैं।
ताथैं पाईला गुरु तुम्हारा उपदेसैं ॥
एते कछु कथीला गुरु सर्बे भइला भोलैं।
सर्बे कमाई खोई गुरु बाघनी चै षोलैं ॥

मराठी 'चै' को छोड़कर इन दोनों में बहुत कुछ समानता है, विशेषकर क्रियापदों के आईला गईला भईला इत्यादि रूपों में। बौद्धगान से जो पद ऊपर दिया गया है उसके कर्ता का समय डा० शहीदुल्ला ने आठवीं सदी रखा है। परंतु मुझे यह रचना इतनी प्राचीन नहीं जान पड़ती। गोरखनाथजी का समय हम ११०० संवत् निर्धारित कर आए हैं। गोरखनाथजी की रचना में प्राचीनता के चिह्न होने पर भी जिस रूप में वह हमें प्राप्त हुई है वह इतना पुराना नहीं कहा जा सकता। जान पड़ता है कि गोरखनाथ के उपदेशों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रचार के इच्छुक उनके अनुयायी जहाँ जहाँ गए वहाँ वहाँ के लोगों के लिये उनके उपदेशों को बोधगम्य करने के उद्देश्य से उनकी रचनाओं में देशकालानुसार फेरफार करते रहे। इसी से जिस रूप में हमें आज वह मिलती है उसमें कई प्रांतों की भाषाओं का प्रभाव देख पड़ता है। ऊपर जो उद्धरण दिए गए हैं उनमें एक स्थान पर 'पयाल नी डीवी' में 'नी' गुजराती है। मराठी 'चै' का हम दर्शन कर ही चुके हैं। महामहोपाध्याय श्री हरप्रसाद शास्त्रीजी को उनको बँगला के पूर्व रूप मानने के लिये भी उसमें आधार विद्यमान है; जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं। राजस्थानी ठाट तो पद पद पर देखने को मिलता है। यहाँ पर एक ही उदाहरण काफी होगा-

हबकि न बोलिबा ठबकि न चलिबा धीरे धरिबा पावं।
गरब न करिबा सहजैं रहिबा भणत गोरखरावं॥

गढ़वाल के प्रसिद्ध साहित्य-प्रेमी पंडित तारादत्त जी गैरोला की कृपा से मुझे कुछ प्रसिद्ध योगियों की रचनाएँ प्राप्त हुई हैं। इनमें गोरखनाथजी की निम्नलिखित छोटी-मोटी सत्रह रचनाएँ हैं—

सबदी, पद, तिथि, बार, अभैमात्रा योग, संख्या दर्शन, प्राण संकलि, आत्म-बोध, नरवै बोध, काफर बोध, अबली सिलूक, जाती भौंरावली, रोमावली, साषी, मछींद्र गोरखबोध, गोरख गणेश संबाद, गोरख दत्त संबाद। इनके अतिरिक्त ज्ञान सिद्धांत जोग, ज्ञान तिलक, विराट पुराण, कंथड़ बोध, रहरास, किसन असतुति, सिद्ध इकबीसा, अष्ट मुद्रा इन आठ ग्रंथों का उल्लेख खोज के १६०२ ई० के विवरण में है। इनमें अवश्य ही कुछ तो गोरख के बनाए नहीं, जैसे गोरख गणेश संबाद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और गोरख दत्त संबाद। इन पौराणिक व्यक्तियों से उनके संवाद की बात उनके शिष्यों ने ही गढ़ी होगी। यहाँ पर इतना समय नहीं है कि इन सब ग्रंथों की छान-बीन की जाय। जिस प्रति से मेरे संग्रह की प्रतिलिपि कराई गई है वह बहुत पुराने कागज पर लिखी हुई है। कागज इतना पुराना है कि छूते ही टूटने लगता है। इनके आदि और अंत के कुछ पृष्ठ नष्ट हो गए हैं, इससे उसके लिपि-काल का ठीक ठीक पता नहीं लगता है। कागज की प्राचीनता और उसमें रजवदास तक की रचनाओं का संग्रह होने से यह अनुमान किया जा सकता है कि शाहजहाँ के शासन-काल के अंत में इसकी लिपि की गई होगी।

इस संग्रह से पता चलता है कि गोरखनाथजी अपने ढर्रे के केवल एक ही कवि नहीं हुए बल्कि वे हिंदी कविता पर अपनी छाप लगा गए थे। उनके बहुत काल बाद तक उनके अनुयायी योग-विषयक कविता रचते रहे। इस संग्रह में २० योगियों की कविता संगृहीत है। इनमें से कई तो पौराणिक नाम हैं जिनके विषय में यही कहा जा सकता है कि पीछे से उनके नाम पर पुस्तकें बनाई गई होंगी, उदाहरण के लिये हणवंत, दत्तात्रेय और गणेश की कविता उपस्थित की जा सकती है। इसी प्रकार महादेव और पार्वती की भी कुछ रचनाएँ इस संग्रह में दी गई हैं। महादेव के नाम से जो रचना है उसमें पार्वती को उदेपश दिया गया है—

यंद्री का जती, मुष का संती,
हृदा का कमल मुकता;
ईश्वर बोलंत पारबती,
तो जोगी जोग जुगता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाथपंथवाले अपनी गुरु-परंपरा शंकर से आरंभ करते हैं। शंकर इस प्रकार आदि नाथ कहलाए। मंत्र-तंत्र सभी महादेवजी का आश्रय लेकर चले हैं। उधर शंकराचार्य का शैव-मतावलंबी होना भी इससे कुछ संबंध रखता है। किंवदंती है कि महादेव ने सबसे पहले पार्वती को योग का रहस्य बतलाया था। इसको **मछंदरनाथ** ने नदी में मछली होकर सुना। इसी कारण उसको महादेवजी का शाप हुआ था जिससे गोरखनाथ ने उसका उद्धार किया। संभव है कि मछंदरनाथ ने महादेव-पार्वती के संवाद रूप में अपने परिवर्तित मत को लिखा हो जिसकी भाषा में देशकालानुसार फेरफार हुआ हो। ऊपर दी हुई किंवदंती इसी ओर संकेत करती है। उनकी रचना के ढंग और उनके नाम 'मछंदरनाथ' से ही इस किंवदंती का उद्भव जान पड़ता है।

नेपाल में दो मछंदरनाथ माने जाते हैं। एक ठुलो (बड़ा) और दूसरा सानु (छोटा)। बड़े को मत्स्येंद्रनाथ और छोटे को मीननाथ भी कहते हैं। तिब्बत के इतिहासकार श्रीतारानाथ ने दोनों को भाई माना है; परंतु बंगाल की जनश्रुति दोनों को एक ही मानती है। नेपाल में बड़ा मछंदर और पद्मपाणि बोधिसत्व आर्य अवलोकितेश्वर एक माने जाते हैं। नेपाल की वंशावली * में लिखा है कि जब आचार्य बंधुदत्त ने पुरश्चरण मंत्र-प्रयोग और डाकिनी-साहाय्य के द्वारा आर्य अवलोकितेश्वर-मछंदरनाथ का उनके स्थान कापोटल पर्वत से

* 'हिस्टरी आव् नेपाल' नाम से मुंशी शिवशंकर द्वारा मूल पर्वतीय से अनुवादित, डा० राइट द्वारा संपादित और कैंब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस से सन् १८७७ ई० में प्रकाशित, पृष्ठ १४४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आवाहन किया तब उनकी आत्मा मधुमाखी के रूप में आई थी जो कलश में बंद कर ली गई और फिर एक मूर्ति में प्रतिष्ठित की गई। इससे स्पष्ट है कि बड़ा मछंदर कल्पना मात्र था। मेरा तो विचार है कि छोटे मछंदरनाथ का माहात्म्य बढ़ाने के लिये बौद्धों ने उसी को पहले आर्य अवलोकितेश्वर का रूप माना होगा। परंतु पीछे से गोरखनाथ के प्रभाव में आ जाने के कारण यह 'सानु' माना गया और एक दूसरे मछंदरनाथ की कल्पना हुई जो गोरखनाथ से अधिक महिमामय ठहराया गया। परंतु जनसाधारण ने 'सानु' मछंदर की पूजा न छोड़ी। यह मछंदरनाथ भी कम सिद्ध न था। परंतु यह अपनी सिद्धता का दुरुपयोग करता था। व्यावहारिक योग में यह गोरखनाथ का गुरु था परंतु गोरखनाथ विवेकमय तत्त्वज्ञान में इससे बढ़ा-चढ़ा था। जीवन की प्रामाणिक बातें न मछंदरनाथ के विषय की कुछ मालूम हैं न गोरखनाथ के विषय की। परंतु गोरखपंथ और गोरखाली जाति तथा उनका पवित्र तीर्थ गोरख-गुहा—जहाँ गोरखनाथजी के त्रिशूल, कमंडलु और सिंगी सुरक्षित बताए जाते हैं—और उसी के पास गोरखा गाँव तथा गोरखपुर—ये सब आज भी हमें गोरखनाथ का स्मरण दिलाते हैं; और मछंदरनाथ आज भी नेपाल के अधिकांश जनता के इष्टदेव होकर पूजे जाते हैं।

मछंदरनाथ के अतिरिक्त गोरखनाथ के समकालीन योगियों में से इसमें जलंधर कणेरीपाव या हालीपाव, चौरंगीनाथ तथा सिध घोड़ा-चोली की रचनाएँ दी हुई हैं। **चौरंगीनाथ** और **घोड़ा-चोली** गोरखनाथ के गुरुभाई थे। **जलंधरनाथ** मछंदर का गुरुभाई और **कानपाव** या **कणेरी** जलंधर का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिष्य। **हालीपाव** कानपाव ही का दूसरा नाम है। इस नाम से वह वेश बदलकर रानी मैनावती के यहाँ भंगी होकर रहा था। जो बातें गोरखनाथ और मछंदरनाथ के बारे में कही गई हैं वही इनके विषय में भी ठीक हैं। इनकी कविता में भी देशकालानुसार फेरफार हुआ होगा। इनकी रचना के उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं—

जलंधरनाथ—

थोड़ो खाइ तो कलपै झलपै, घणो खाइ तो रोगी।
दहूँ पषा की संधि विचारै ते को बिरला जोगी॥
यह संसार कुवधि का खेत, जब लगि जीवे तब लगि चेत;
आँख्याँ देखै, कान सुणै, जैसा बाहै तैसा लुणै॥

घोड़ा-चोली—

रावल ते जे चालै राह, उलटी लहरि समावै माँह।
पंचतत्त का जाणै भेव, ते तो रावल परतिष देव॥
नषसिष पूरि रहीले पौन, आया दूध-भात तो षाए कौन;
मेर-डंड काठा करि बंधि, बाई षेलै चौसठि संधि॥

चौरंगीनाथ—

मारिबा तौ मन मीर मारिबा, लूटिबा पवन भँडार।
साधबा तौ पंच तत सधिबा, सेइबा तौ निरंजन निराकार॥
माली लौ भल माली लौ सींचै सहज कियारी।
उनमनि कला एक पहूपन पाईले आवागवन निवारी॥

कणेरीपाव—

सगौ नहीं संसार, चित नहिं आवै वैरी।
नृभय होइ निसंक हरिष में हास्यौ कणेरी॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हास्यौ कणेरी हरिष मैं एक लड़े आरन्न।
जुरा विछोही जो मरण, मरण विछोह्या मन॥
अकल कणेरी सकलै बंद।
विन परचै जोग विचारै छंद।
आछै आछै महिरे मंडलि कोई सूरा,
मारया मनवा नै समझावै रेलो।
देवता नै दाणवा येणे मंनवै व्याह्या,
मनवा ने कोई ल्यावे रेलो॥
जोति देखि देखी पड़े रे पतंगा,
नादै लीन कुरंगा रेलो।
यहि रस लुब्धी मैगल मातौ,
स्वादि पुरिष तैं भौंरा रेलो॥

चुणकरनाथ और **चरपटनाथ** से हमें इतिहास की निश्चित भूमि पर पाँव रखने को जगह मिलती है। इस समय के कुछ पीछे के बने गोरखशतक में चरपटनाथ मछंदर-नाथ के शिष्य कहे गए हैं पर यह मान्य नहीं है। गहनी-नाथ का जिक्र हम ऊपर कर आए हैं। ये गहनीनाथ के गुरुभाई प्रसिद्ध हैं। गहनीनाथ ने भी हिंदी में कविता की है। उनका समय संवत् १२८०-१३३० निश्चित है। अतएव ये भी इसी समय में हुए होंगे। रजबदास ने अपने सरवंगी ग्रंथ में चरपटनाथ का चारणी के गर्भ से उत्पन्न होना कहा है—

चारणी मधे उत्पनो चरपटनाथो महामुनी।
उतिम जोग धारणं तस्मात् किं ज्ञाति कारणम्॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इससे यह भी ध्वनित होता है कि वे राजपूताना के रहने-वाले थे। संभवत: संस्कृत चर्पटमंजरी के लेखक भी यही चरपट हों। इनकी हिंदी कविता भी वैसी ही चलती और प्रांजल है—

किसका बेटा किसकी बहू,
आप सवारथ मिलिया सहू।
जेता पूला तेती आल,
चरपट कहै सब आल जँजाल॥
नाथ कहावें सकहिं न नाथि,
चेला पंच चलावें साथि।
माँगें भिच्छा भरि भरि खाहिं,
नाथ कहावैं मरि मरि जाहिं॥
बाकर कूकर कींगुर हाथि
बाली भोली तरुणी साथि।
दिन करि भिच्छया रात्यूँ भोग,
चरपट कहै विगोवै जोग॥
चरपट चीर चक्र मन कंथा,
चित्त चमाऊँ करना;
ऐसी करनी करो रे अवधू,
ज्यूँ बहुरि न होई मरना॥
बैठे राजा बैठे परजा,
बैठे जंगल की हिरणी।
हम क्यों बैठें रावल बावल,
सारी नगरी फिरणी॥
ना घरि तिय ना पर तिय रता,
ना घरि धन न जोबन मता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ना घरि पूत न धीय कुँआरी,
ताते चरपट नींद पियारी ॥

चुणकरनाथ भाषा की दृष्टि से चरपट से पहले के जान पड़ते हैं—

साधी सूधी के गुरु मेरे, बाई सूँ व्यंद गगन मैं फेरै।
मनका बाकुल चुणिया बोलै, साधी ऊपर क्यों मन डोलै ॥
बाई बंध्या सयल जग बाई किनहुँ न बंध।
बाइ विहूणा ढहि पड़ै जोरै कोइ न संध॥

बालानाथ और **देवलनाथ**—ये दोनों योगी अनुमान से चरपट के बाद या उसी समय हुए होंगे। पंजाब में बालानाथ का टीला प्रसिद्ध है। जायसी ने भी उसका उल्लेख किया है। इससे मालूम होता है कि वे कोई बड़े भारी सिद्ध रहे होंगे। इनकी कविता की भी भाषा अच्छी है—

पहिली कीए लड़का लड़की अबही पंथ में बैठा।
बूढ़ै चमड़ै भसम लगाई बज्रजती है बैठा॥

* * * *

पहलै पहरै सब कोई जागै, दूजै पहरै भोगी।
तीजै पहरै तसकरि जागै, चौथे पहरै जोगी॥

देवलजी की कविता का उदाहरण—

देवल भए दिसंतरी, सब जग देख्या जोइ।
नादी बेदी बहु मिलैं, भेदी मिलै न कोइ॥

सिद्ध धूँधलीमल और **गरीबनाथ**—नैणसी ने अपनी ख्यात में इनका उल्लेख किया है। उसने लिखा है कि सिद्ध धूँधलीमल का आश्रम धीणोद में था। गरीबनाथ धूँधली-मल का शिष्य था। इसने अपना आश्रम लाखड़ी में जमाया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। उस समय लाखड़ी का राजा घोघाकरन था। गरीबनाथ के शाप से घोघाओं का नाश हुआ और धूँधलीमल के आशीर्वाद से जाड़ेचा भीम लाखड़ी का राजा हुआ। प्रभास पाटन के शिलालेख से इसका समय संवत् १४४२ ठहरता है। गरीबनाथ इस समय अपने गुरु के समान ही सिद्धियों का भांडार हो गया था। इससे गुरु और शिष्य की आयु में लगभग ४०—४५ वर्ष का अंतर मानना चाहिए। १४४२ यदि गरीबनाथ का समय माना जाय तो १४०० धूँधलीमल का होगा। इन दोनों गुरु चेलों की रचना के नमूने यहाँ दिए जाते हैं।

धूँधलीमल्ल—

आईसजी आवो, बाबा आवत जात बहुत जुग दीठा
कछू न चढ़िया हाथं।
अब का आवणा सूफल फलिया, पाया निरंजन सिध का साथं॥
आईसजी बैठो, बाबा उठा बैठी बैठा, उठि उठि बैठी जग दीठा।
घरि घरि रावल भिन्या माँगै एक अमीरस मीठा॥

गरीबनाथ—

पाताल की मीडकी अकास जंत्र बावै।
चंद सूरज मिलै तहाँ तहाँ गंग जमुन गीत गावै॥
सकल ब्रह्मांड तब उलटा फिरै, तहाँ अधर नाचै डीब।
सति सति ही भाषंत श्री सिद्ध गरीब॥

पृथ्वीनाथ—पृथ्वीनाथजी कबीर के पीछे हुए। उन्होंने कबीर का उल्लेख भूतकालिक क्रिया में किया है—

राजा जनक भया तिन क्या कथ्या क्या प्रह्लाद कबीर।
सो पद काहे न खोजिए जिहि ऊधरै सरीर॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कबीर की मृत्यु सर्वसम्मति से वि० १५७५ में हुई। इस आधार पर इनका समय १६०० के आसपास मानने योग्य है। इस संग्रह में पृथ्वीनाथ के १३ शब्द, ३ पद और १०५ श्लोकों का एक 'साधप्रकास जोग' ग्रंथ है।

इनकी रचना के नमूने—

साधू बोहिथ अभैपद दरसन देष्या पार।
पृथ्वीनाथ दुलंभ हैं उन साधौं दीदार॥
सींचत ही फल देहिं बृछह्व तजे न छाया।
तिस ठांहीं साधरम हीं जहँ बाचा सचु पाया॥
पहली समझि न पड़ै धका लागै थैं जाणहीं।
बिगड़ी उपरि सबै ताहि ईश्वर करि मानहीं॥
इहै गति संसार पुरिष का मरम न पावहीं।
जे हरि समझ्या होइ तौ ब्रह्मा क्यौं बछ चुरावहीं॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि गोरखनाथजी के काल से बराबर बहुत समय तक योग की कविता का प्रवाह हिंदी साहित्य में बहता रहा। हिंदी साहित्य के इतिहासकारों ने भक्ति-धारा की दो शाखाओं के दर्शन कराए हैं—एक निर्गुण शाखा और दूसरी सगुण शाखा। निर्गुण शाखा वास्तव में योग का ही परिवर्तित रूप है। भक्ति-धारा का जल पहले योग के ही फाट पर बहा था। गोरखनाथ का हठयोग केवल ईश्वर-प्रणिधान में बाहरी सहायक मात्र है। न कबीर ने ही वास्तव में योग का खंडन किया है और न गोरख ने केवल बाहरी क्रियाओं को प्रधानता दी है। शरीर को व्यर्थ कष्ट देना कभी भी हठयोग का उद्देश्य नहीं है। इसके विपरीत गोरखनाथ का उद्देश है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हसिबा खेलिबा गाइबा गीत ।
दृढ़ करि राषि अपना चीत ॥

* * *

षाए भी मरिए अपखाए भी मरिए ।
गोरख कहै पूता संजमि ही तरिए ॥

इसलिये उन्होंने बौद्धों से मध्य मार्ग का ग्रहण किया है—

मधि निरंतर कीजै बास ।
निहचल मनुआ थिर ह्वै सास ॥

तन का योग केवल मन की सहायता के लिये है। विना ईश्वर-प्रणिधान के बाहरी योग केवल निष्फल ही नहीं जायगा, हानि भी पहुँचायगा—

आसण पवन उपद्रह करै ।
निसिदिन आरंभ पचि पचि मरै ॥

आगे चलकर जब भक्ति की धारा नई भूमि पर नए आकार और नए वेग से बहने लगी तब उसका नाम निर्गुण धारा पड़ा। निर्गुण धारा को तो साहित्य के इतिहास में उचित स्थान मिला है; परंतु योग धारा अब तक इस सौभाग्य से वंचित है। उसके प्रवर्तक गोरखनाथ और उनके अनुयायी अन्य योगी कवि चमत्कारपूर्ण जन-श्रुतियों के ही नायक बने रहे। इसका कारण यही जान पड़ता है कि योग संबंधी पर्याप्त रचना अब तक प्राप्त नहीं हुई है। यह भी कहा जा सकता है कि योगेश्वरी वाणी में काव्य के उच्च गुणों का अभाव ही सा है और वह अधिकतर पद्य की ही सीमा में बँधी रही। कांता-सम्मित उपदेश उसके किये दिया भी नहीं जा सकता था। यह बात ठीक है; पर यही आक्षेप निर्गुण कविता पर भी किया गया है और इसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारण उसके संबंध में बहिष्कार-नीति का अनुसरण नहीं किया गया। साहित्य के इतिहास में काव्य के गुण-दोषों की समीक्षा का होना आवश्यक है; परंतु उनके आधार पर त्याग-नीति का अवलंबन इतिहास की सीमा के बाहर है। अपनी वस्तु चाहे बहुमूल्य हो अथवा अल्पमूल्य; उसे अपनी स्वीकार करना ही पड़ेगा। फिर योग की कविता का बहुत प्राचीन साहित्य होने के कारण भी उसका अपना अलग ही मूल्य है जिसके लिये हमें योगियों का समुचित आभार मानना चाहिए।

अवलोकनीय साहित्य

१ हिस्टरी आव् नेपाल, पं० गुणानंद शर्मा की सहायता से मुं० शिवशंकर द्वारा अनुवादित तथा डा० राइट द्वारा संपादित।

२ तारानाथ रचित गिशडेस बुद्धिस्मस इन इंडीन, सेंट-पीटर्सबर्ग। (इस ग्रंथ से मैं सहायता न ले सका।)

३ सिल्वेन लेवी रचित ले नेपाल।

४ डा० शहीदुल्ला रचित चैंट्स डि मिस्टिक्स।

५ इंसाइक्लोपीडियां आव् रिलिजन ऐंड एथिक्स में ग्रियर्सन और टेसिटोरी के क्रमशः गोरखनाथ और योगियों पर लेख।

६ महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री संपादित बौद्ध गान और दोहा।

७ डा० फर्कुहर रचित आउटलाइन आव् रिलिजस लिट-रेचर इन इंडिया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१२) देवल देवी और खिज्रखाँ

[लेखक—बाबू जगनलाल गुप्त, बुलंदशहर]

अलाउद्दीन खिलजी के शासन-काल की (सन् १२९५ से १३१६ ई०) कितनी ही महत्त्वपूर्ण घटनाओं में दो ऐसी हैं जिन पर इतिहास के विद्वानों को गंभी-रता-पूर्वक ध्यान देना आवश्यक है।

विषय प्रवेश

विशेषकर ये घटनाएँ तत्कालीन हिंदू-समाज से गहरा संबंध रखती हैं। इनमें पहली घटना चित्तौड़ का पतन है और इस घटना को सती पद्मिनी के पवित्र नाम ने सदा के लिये स्मरणीय बना दिया है। मलिक मुहम्मद जायसी ने भी इस घटना का उल्लेख अपने ढंग से अपनी "पद्मावत" में किया है और उसका यह ग्रंथ विद्वत्समाज में दिलचस्पी के साथ पढ़ा जाता है। दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना गुजरात के राजा कर्ण की रानी कमलावती के संबंध में है, जिसके विषय में कहा जाता है कि उसने अलाउद्दीन से विवाह किया था और कर्ण के औरस से उत्पन्न हुई कमलावती की गर्भज पुत्री अलाउद्दीन के पुत्र और युवराज खिज्रखाँ से ब्याही गई थी।

इस दूसरी घटना को इतिहास-प्रसिद्ध बनाने का सारा श्रेय अमीर खुसरू को है; क्योंकि सर्वप्रथम इन्हीं महोदय ने सद् आख्यान को काव्य के रूप में रचकर उसे इतिहास में स्थान प्राप्त कराया। महाकवि खुसरू की इस महान् कृति का नाम "दवलरानी व खिज्रखाँ" है, किंतु फारसी साहित्य में इसका सर्वप्रसिद्ध नाम "आशिकी" है। पर इस समय तक—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज तक भी—इतिहास के किसी भी विद्वान् ने इस कल्पित अर्ध-इतिहास-मय काव्य में वर्णित घटनाओं की वास्तविकता जाँचने का कष्ट नहीं उठाया है। इस लेख में उसी महा-काव्य में वर्णित और कल्पित कथा का ऐतिहासिक दृष्टि से परीक्षण किया जायगा।

अमीर खुसरू की योग्यता

अमीर खुसरू अपने समय के महान् कवि और प्रसिद्ध विद्वान थे। वह राज-कवि भी थे। उन्होंने मुस्लिम संस्कृति को उज्ज्वल करने तथा उसे तत्कालीन भारतीय हिंदू सभ्यता से टक्कर लेने के योग्य बनाने में जी तोड़कर परिश्रम किया था। उन्होंने 'ध्रुवपद' का स्थान 'कव्वाली' को प्रदान कराया और प्राचीन तथा सर्व-विश्रुत 'सरस्वती की वीणा' के स्थान में कुछ सरल और सीधे वाद्ययंत्र 'सितार' को चलाया। उन्होंने मुसलमानी संस्कृति का ऐसा चित्र हिंदुओं के सम्मुख रख दिया था कि उससे प्रभावान्वित होकर हिंदू-समाज आज तक उसका प्रशंसक बना हुआ है। उन्होंने मुसलमान फकीरों और औलियाओं को सर्वसाधारण हिंदुओं में प्रचारक के रूप में पहुँचने के लिये भी सुविधा उत्पन्न कर दी थी। उन्होंने "वसंत का मेला" चलाया जिसका दूसरा नाम "फूलवालों की सैर" है और उसमें गाए जाने के लिये इन महाकवि ने ही स्वयं सुंदर सुंदर गीत भी तैयार कर दिए थे। वास्तव में उनका यह सब परिश्रम इसी लिये था कि मुसलमानी संस्कृति को भी किसी प्रकार हिंदू-समाज में स्थान प्राप्त हो जाय। वह स्वयं सूफी या वेदांती थे; किंतु मुसलमानी शान के विरुद्ध या उसकी 'शरअ' के खिलाफ न तो वह कभी कुछ लिखते ही थे और न कुछ करते थे। दूसरे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्दों में हम कह सकते हैं कि उन्हें हिंदुओं के प्रति न तो सहानुभूति थी और न वे उनके धर्म को ही आदर की वस्तु समझते थे। वे हिंदुओं को सदैव "काफिर", "झूठे मत के माननेवाले", "पतित" आदि शब्दों से ही याद करते थे। हिंदुओं के प्रति उनके हृदय में जो घृणा के भाव थे उनका प्रदर्शन उनके सभी ग्रंथ करते हैं। किंतु सच बात तो यह है कि इसमें अमीर खुस्रू का तनिक भी दोष नहीं है; क्योंकि पहले तो उस समय के मुसलिम विद्वत्-समाज की प्रवृत्ति ही इस प्रकार की थी, दूसरे प्रत्येक राष्ट्रीय विद्वान् का कर्तव्य है कि वह अपनी जातीय संस्कृति के पोषक ग्रंथ रचे।

अमीर खुस्रू ने अनेक ग्रंथ लिखे हैं जिनमें छंद, काव्य और अलंकार मुख्यतया वर्णित हैं; किंतु प्रायः इन सभी ग्रंथों का आधार ऐतिहासिक घटनाएँ हैं। उनके इस प्रकार के ग्रंथों में "दीवान तुहफतुल सुग्रा", "दीवान वसअतुल हयाल", "दीवान गरुतुल कमाल", "दीवान वाकिअ नकीअ", "मस्नवी करन उस्सादऐन," "मस्नवी मतलअउल अनवार", "मस्नवी शीरीं व खुस्रू", "मस्नवी लैला व मजनूं", "आइने इस्कंदरी", "मस्नवी नुह सपहर", "तुगलकनामा" और "दवलरानी व खिज्रखाँ" आदरपूर्वक गिने जाते हैं। अमीर खुस्रू ने "खजायन उलफुतूह" या "तारीख अलफी" नामक एक इतिहास भी लिखना आरंभ किया था; किंतु १५ वर्ष की घटनाएँ लिखे जाने के पीछे वह अधूरा ही रह गया।

अमीर खुस्रू ने विशेषतः काव्य ही लिखे हैं। इससे सिद्ध होता है कि उन्हें काव्य लिखने से ही प्रेम था। इसका कारण स्पष्ट है। गंभीर और कर्तव्यनिष्ठ ऐतिहासिक का धर्म

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो यही है कि वह घटनाओं का यथातथ्य वर्णन संग्रह करके जनता के सम्मुख उपस्थित कर दे; किंतु महाकाव्य की रचना करने के अवसर पर कवि उन्हीं घटनाओं को इच्छानुसार रंजित करने तथा तोड़ने मरोड़ने में स्वतंत्र रहता है। फलतः विशुद्ध ऐतिहासिक ग्रंथ लिखने की दशा में अमीर खुस्रू अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकते थे, या कठिनता से सफलता प्राप्त कर सकते थे तथा संभव है कि उस दशा में उनके इतिहास को गौरव भी प्राप्त न होता। कल्पना-प्रसूत काव्यमय अर्ध-ऐतिहासिक ग्रंथ स्वभावतः ही रोचक होते हैं। कवि आवश्यकतानुसार प्रसंग के अनुकूल अपने काव्य में उन पात्रों को ला सकता है जिनका वास्तविक इतिहास में उल्लेख नहीं पाया जाता; घटनाओं को भी वह वास्तविकता से भिन्न रूप में दिखला देता है; कुशल कवि उन विचारों को भी वास्तविक या अपने कल्पित पात्रों के मुख से प्रकट करा सकता है जिनका वस्तु-घटना से लेशमात्र भी संबंध नहीं होता। किंतु इतिहास-लेखक के लिये यह सब असंभव हैं।

अमीर खुस्रू के संबंध में यह नहीं कहा जा सकता कि वे ऐतिहासिक नहीं थे। उन्होंने एक ग्रंथ विशुद्ध इतिहास का लिखना आरंभ किया था। शेष ग्रंथ भी इतिहास के आधार पर ही उन्होंने रचे थे तथा उनकी प्रामाणिकता भी इतिहास की जैसी ही स्वीकार की जाती है।

अमीर खुस्रू की रचना के संबंध में वास्तव में यह एक बड़ी कठिनाई उत्पन्न हो गई है कि उसकी मस्नवियों में इतिहास का अंश अधिकतर कल्पित और अविश्वसनीय होने पर भी इतिहास की नाईं प्रामाणिक स्वीकार किया जाता है। सर्व-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साधारण के मस्तिष्क पर उन घटनाओं के वर्णन का प्रभाव भी, जो "आनंदमठ" के पात्रों के इतिहास या "चंद्रकांता" के पात्रों की प्रेम-कथा से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, ऐसा ही पड़ता है जैसा इतिहास-ग्रंथों का पड़ना उचित है। किंतु अमीर खुस्रू जैसे कुशल विद्वान् की लेखनी ने तो बड़े बड़े विद्वानों को भी धोखे में डाल दिया है। निःसंदेह यह लेखक की सफलता का प्रमाण है; किंतु एक ऐतिहासिक ऐसे लेखक की प्रशंसा नहीं कर सकता। हम देखते हैं कि 'फरिश्ता' (सन् १६०४ ई० के लगभग), मुल्लाँ अब्दुल कादिर बदायूँनी और काजी अहमद गफ्फारी (जिन्होंने अकबर के समय में क्रम से मुंतखबा उत्तवारीख और नुसखंए तारीख जहाँआरा लिखी हैं) अमीर खुस्रू की मस्नवियों* से, और विशेषकर मस्नवी दवलरानी व खिज्रखाँ से, स्थान स्थान पर अपने इतिहास की पुष्टि में उद्धरण देते हैं एवं उनको अक्षर अक्षर सत्य स्वीकार करते हैं।

---

* अमीर खुस्रू ने 'दवलरानी व खिज्रखाँ' नामक मस्नवी संस्कृत-साहित्य के महाकाव्यों के क्रम से लिखी है। मंगलाचरण आदि के पश्चात् उसने अपने नायक के पिता के दिग्विजय का वर्णन दिया है। संस्कृत के महाकवि अपने नायक के दिग्विजय का उल्लेख किया करते हैं; किंतु अमीर खुस्रू का नायक शिशु और दिग्विजय के अयोग्य था, अतः उसने उसके महत्त्व की स्थापना के लिये उसके पिता का दिग्विजय लिखा है।

फारसी-साहित्य में मस्नवी एक छंद का नाम है। इस प्रकार की रचनाएँ सदैव शृंगार-रसमय ही नहीं होतीं; किंतु उनका प्रधान विषय संस्कृत महाकाव्यों के एक अंश की नाईं शृंगार-वर्णन ही रहता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१) हम्द, सना, नात (भिन्न भिन्न मंगलाचरण) आदि ३७ पृष्ठों* में लिखने के पश्चात् अमीर खुस्रू ने इस काव्य की रचना का इतिहास इस तरह लिखा है कि उसने यह पुस्तक अपने नायक खिज्रखाँ के आदेशानुसार उसी की पांडु-लिपि को देखकर लिखी। यह अंश मूल ग्रंथ की भूमिका समझी जा सकती है। इसके पीछे ५५ पृष्ठ तक अलाउद्दीन खिलजी के दिग्विजय और उसके द्वारा भारतवर्ष में से हिंदूधर्म के चिह्नों को मिटाने का उल्लेख है†।

कथानक का संक्षेप

(२) अपने अभिभावक, पालनकर्ता, चचा, श्वशुर और बादशाह फीरोज खिलजी को मारकर २२ जिल्हिज्ज सन् ६९५ हि० (रविवार, कार्तिक कृ० ७ सन् १३५३) में अलाउद्दीन तख्त पर बैठता है (पृष्ठ ५५-५८)। वह अपनी सल्तनत की रक्षा उन मंगलों से करता है जो कुतलग ख्वाजा, तिरताख, अलीबेग तथा अन्य मंगोल सेनापतियों की अधीनता में आते हैं। ये लोग उस समय तक मुसलमानी धर्म स्वीकार न करने के कारण 'काफिर' कहे गए हैं (पृष्ठ ६३ तक)।

(३) इससे आगे पृष्ठ ७५ तक "खिलजी सुल्तान की तलवार के द्वारा भारतवर्ष में से हिंदू-धर्म के चिह्न तक मिटा देने"† का हाल लिखा है जिसका संक्षेप यह है कि अलाउद्दीन

* यहाँ मूल ग्रंथ के पृष्ठों का संकेत उस संस्करण के लिये है जिसे मौलाना रशीद अहमद साहब से संपादन कराकर अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी की ओर से सन् १९१७ ई० में प्रकाशित किया गया है।

† "दास्तान दर इक कर्दन नक्शे कुफ्र ब पलार के शाही अज सवादे हिंदुस्तान"।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुल्तान होने से पहले ही देवगिरि विजय करता है और सुल्तान होने के पीछे सिंध तथा किसी पहाड़ी देश पर अधिकार करता है। गुजरात का राजा कैद किया जाता है एवं संपूर्ण गुजरात आग से जलाकर नष्ट किया जाता है। यह सब उलगखाँ ने अपने धर्म को उन्नत करने और मूर्तियाँ नष्ट करने के लिये किया था (पृष्ठ ६४)। रणथंभौर, चित्तौड़, मालवा, समाना, तिलंग और लंका पर्यंत समुद्रतट के प्रदेश इसी धर्म-प्रसार की भावना से लूटे जाते हैं। यवन सेना माबार पहुँचकर पांड्यराज को पराजित करती है। चित्तौड़ पर अधिकार करके उसका नाम खिजराबाद रखा जाता है एवं खिज्रखाँ को वहाँ का गवर्नर बनाया जाता है।

(४) अलाउद्दीन अपने भाई उलगखाँ को फिर (दूसरी बार) गुजरात पर चढ़ाई करने भेजता है। इस बार राजा की हार होती है और उसकी स्त्री कमला देवी पकड़ी जाकर अलाउद्दीन के महल में उसकी बेगम बनकर रहती है (पृष्ठ ८१)।

(५) रानी कमला देवी के गर्भ से उत्पन्न हुई दो पुत्रियों का उल्लेख किया गया है जिनमें से एक बड़ी मर चुकी थी और छोटी की आयु उस समय ६ मास की बताई गई है जब वह (कमला देवी) गुजरात से दिल्ली आई।

(६) इस समय अलाउद्दीन अपने पुत्र और युवराज खिज्रखाँ के लिये एक दासी या परस्तार की आवश्यकता का अनुभव करता है और जब कमला देवी अपनी उस जीवित पुत्री को गुजरात से अपने पास बुला लेने की प्रार्थना करती है तब खिलजी बादशाह तुरंत इसे स्वीकार कर लेता है। राजा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्ण को अपनी पुत्री को खिज्रखाँ के साथ ब्याहने के लिये भेजने की आज्ञा दी जाती है और राजा इस प्रस्ताव को हर्ष-पूर्वक स्वीकार करके देवल देवी को भेजता है।

(७) इसी अवांतर में अलाउद्दीन का विचार गुजरात को जीतकर खिलजी राज्य में मिला लेने का होता है तथा इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उलगखाँ दूसरे सेनापतियों के साथ भेजा जाता है (पृष्ठ ८४-८५)

(८) देवगिरि का यादव राजा शंखलदेव (शंकरदेव) राजा कर्ण को अपनी शरण में आया देखकर उससे अपने भाई भिलमदेव के साथ देवल देवी के विवाह का प्रस्ताव करता है। कर्ण अनिच्छापूर्वक इसे स्वीकार करके देवल देवी को देवगिरि भेजता है (पृष्ठ ८५-८६)।

(९) देवगिरि जाते हुए देवल देवी को मार्ग में उलगखाँ के सैनिक पकड़कर अपने सेनापति के पास ले जाते हैं और वहाँ से वह राजधानी को भेज दी जाती है (पृष्ठ ८६-८७)।

(१०) उसके दिल्ली पहुँचने पर खिज्रखाँ और देवल देवी एक दूसरे को देखकर आकर्षण अनुभव करते हैं (पृष्ठ ८७-९०)।

(११) एक दिन अलाउद्दीन अपनी बेगम मलिका जहाँ-आरा के सामने और उसी की अनुमति से खिज्रखाँ को सूचित करता है कि उसका विवाह देवल देवी के साथ किया जायगा। खिज्रखाँ इस कथन से संकुचित होकर वहाँ से चला जाता है। किंतु देवल देवी इस प्रस्ताव से अनभिज्ञ है। वह खिज्रखाँ से केवल इसी लिये स्नेह करती है कि अपने पिता से अलग होकर यहाँ आने के पीछे खिज्रखाँ ही उसे अपना परिचित सा जान पड़ता है; क्योंकि उसकी मुद्रा उसके भाई से मिलती-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जुलती है। वह इसी लिये उसके प्रति भ्रातृ-प्रेम का प्रदर्शन करने लगती है। इस समय खिज्रखाँ की आयु १० वर्ष की और देवल देवी की ८ वर्ष की बताई गई है (पृष्ठ ९२-९३)। इस घटना के पश्चात् इस विवाह के संबंध में कोई चर्चा नहीं उठती।

(१२) जब देवल देवी की आयु ९ वर्ष की होती है तब खिज्रखाँ युवा हो जाता है और अलाउद्दीन उसका विवाह उसके मामा अलपखाँ की लड़की से निश्चय करता है (पृष्ठ ९५)।

(१३) यह विवाह अत्यंत धूमधाम से ३ वर्षों की तैयारी के पश्चात् २३ रमजान सन् ७११ हिजरी (फाल्गुन कृ० ८ संवत् १३६८) को होता है। तीन मास तक बरात कन्या के पिता के घर पर ठहरकर लौटती है। इन सब बातों का उल्लेख महाकवि खुस्रू ने अत्यंत विस्तार से किया है (पृष्ठ १५१-१६८)।

(१४) इसी बीच में खिज्रखाँ और देवल देवी का वात्सल्य धीरे धीरे वासना शक्ति में परिवर्तित हो जाता है। खिज्रखाँ की माता को सूचना मिलती है कि वह देवल देवी पर इतना मोहित है कि उसे प्राप्त न कर सकने की दशा में उसका मरण होना संभव है। जहाँआरा यह सुनकर उसे खिज्रखाँ से दूर लाल किले में भेज देती है। यहाँ इन दोनों प्रेमियों के प्रेम-पत्रों का क्रम चलने लगता है और एक आध बार वे छिपकर परस्पर मिलते भी हैं। कवि ने यह प्रसंग अत्यंत योग्यतापूर्वक लिखकर अपनी कल्पना-शक्ति का अच्छा परिचय दिया है; इस अवसर पर कहीं कहीं वह अश्लील भी हो गया है (पृष्ठ ९६-११९)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१५) देवल देवी खिज्रखाँ के मस्तिष्क पर पूरा अधिकार कर लेती है। वह उसे नहीं भूल सकता। उसकी दशा दिन दिन बिगड़ती जाती है। इतने पर भी जब उसके माता-पिता उसकी ओर ध्यान नहीं देते तब वह स्वयं अपनी माँ से इस विषय में बातें करता है। माता अलाउद्दीन से निवेदन करती है और अलाउद्दीन सब कुछ सुनकर निजी तौर पर इनके ब्याहे जाने की स्वीकृति दे देता है (पृष्ठ १६८-२२०)। इन अत्यंत उत्सुक प्रेमियों का चिरवांछित सम्मिलन इस प्रकार महल के एक कोने में, कुटुंब के कुछ व्यक्तियों के सम्मुख ही, अत्यंत सामान्य रूप से निकाह पढ़कर हो जाता है (पृष्ठ २२१)।

(१६) खिज्रखाँ महाकवि अमीर खुसरू के गुरु निजामउद्दीन औलिया का शिष्य और मुरीद हो जाता है। इधर अलाउद्दीन बीमार पड़ता है। युवराज अपने पिता की रोग-निवृत्ति के लिये हतनापुर की पैदल यात्रा की मनौती मानता है और अलाउद्दीन के बिल्कुल नीरोग हो जाने पर वह इस प्रतिज्ञा को पूर्ण करता है; किंतु उसकी अनुपस्थिति में अलाउद्दीन का प्रिय प्रीतिपात्र मलिक काफूर उसको उसके पुत्र और अलपखाँ के विरुद्ध समझा बुझाकर भड़का देता है। फलतः अलपखाँ मारा जाता है और युवराज को पद-भ्रष्ट करके असरोहे में क़ैद किया जाता है। खिज्रखाँ पर इस आपत्ति के आने का कारण यह था कि यात्रा से पहले और पीछे उसने अपने धर्मगुरु के दर्शन नहीं किए थे और न यात्रा में उसने यम-नियमों का पालन किया था (पृष्ठ २२१—२४२)।

(१७) कैदी राजकुमार अपनी दुर्दशा पर धैर्यपूर्वक विचार करके अपने आपको निर्दोष पाता है और अपने पिता के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्मुख जाकर क्षमा-याचना करना उचित समझता है। फलतः वह दिल्ली पहुँचता है। अलाउद्दीन उसे क्षमा कर देता है और वह फिर स्वतंत्र कर दिया जाता है। किंतु शीघ्र ही वह विषय-भोग आदि में लिप्त हो जाता है और मलिक काफ़ूर के षड्यंत्रों के कारण उसे अलाउद्दीन स्वयं ग्वालियर के किले में कैद करने की आज्ञा देता है (पृष्ठ २४३-२५७)।

(१८) मानसिक वेदनाओं और शारीरिक पीड़ाओं से उत्तप्त होकर अलाउद्दीन ७ शव्वाल सन् ७१५ हिजरी (माघ शु० १० सं० १३७२) को अपने प्राण त्याग देता है। देश भर में अराजकता फैल जाती है। मलिक काफ़ूर खिज्रखाँ की आँखें निकालने के लिये संबुल को ग्वालियर भेजता है (पृष्ठ २५९-२६०)।

(१९) खिज्रखाँ अंधा कर दिया जाता है। मलिक काफ़ूर जब तत्कालीन सुल्तान मुबारिकशाह को भी मार डालने के लिये षड्यंत्र रचता है तब उसे उसी के साथी मार डालते हैं। खिज्रखाँ काफ़ूर का यह परिणाम सुनकर संतुष्ट हृदय से परमात्मा का धन्यवाद करता है।

(२०) मुबारिकशाह कुछ समय तक अपने छोटे भाई शहाबउद्दीन का संरक्षक बनकर काम चलाता है। यह शहाबउद्दीन ६ या ७ वर्ष का बच्चा था; किंतु दो मास में ही संपूर्ण शक्ति अपने हाथ में लेकर वह उसे भी खिज्रखाँ के साथ कैद कर देता है और शीघ्र ही कुछ राजनैतिक कारणों से अंधे कैदी खिज्रखाँ को मार डालने की आवश्यकता अनुभव करता है (पृष्ठ २७३)।

(२१) इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये वह एक बहाना ढूँढ़ता है। वह खिज्रखाँ को कैद से छोड़ने और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जागीर देने का वायदा करता है; लेकिन बदले में देवल रानी को माँगता है। खिज्रखाँ इसे स्वीकार नहीं करता और इस प्रकार उसके मारने का बहाना मिल जाता है (पृष्ठ २७४-२७५)।

(२२) शादीखाँ जल्लाद उसे वध करने के लिये भेजा जाता है; किंतु जब कोई भी मानव हृदय, स्वयं शादीखाँ भी, इस नृशंसतापूर्ण हत्याकांड को करने के लिये तैयार नहीं होता तब एक नीच जाति के हिंदू के द्वारा यह पापपूर्ण कृत्य कराया जाता है (पृष्ठ २७६-२८४)।

(२३) इसी अवसर पर वहीं अलाउद्दीन के दूसरे पुत्र शादीखाँ और शहाबउद्दीन भी मार डाले जाते हैं (पृष्ठ २८५)।

(२४) देवल रानी का करुण विलाप।

(२५) इन बेचारों के संबंधियों का रोदन।

(२६) इन शवों का विजय-मंदिर में दफन किए जाने का वर्णन पृष्ठ २९७ तक समाप्त हो जाता है।

संक्षेप में "दवलरानी व खिज्रखाँ" की कथा यही है। यह ४५१९ पंक्तियों में समाप्त होती है जिनमें ३१९—जो खिज्रखाँ की मृत्यु का वर्णन करती हैं और जो ७ जीकाद सन् ७१५ हि० (फाल्गुन सु० १० संवत् १३७२) के बहुत समय पश्चात् जोड़ी गई थीं। शेष ग्रंथ का मुख्य भाग इसी तिथि तक लिखा जा चुका था। ग्रंथ-लेखक ने अपनी घटनाओं का उल्लेख प्रायः बिना तिथियों के संकेत के ही किया है; किंतु जिस घटना के साथ उसने तिथि लिखी है वह हमने भी ऊपर के संक्षेप में अविकल लिख दी है।

इस प्रसंग में यह घटना विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि खिज्रखाँ से विवाह हो जाने के पश्चात् भी 'देवल देवी' का नाम नहीं बदला जाता, वह अपने 'काफिर' नाम से ही याद की गई है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऊपर के संक्षिप्त विवरण की २, ३, १३, १८, १९, २०, २१, २३ और २६ अंकों में वर्णित घटनाएँ ऐतिहासिक या अर्ध-ऐतिहासिक घटनाएँ हैं। यह दूसरी बात है कि अमीर खुसरू ने उनका उल्लेख जिस ढंग से अपने इतिहास में किया है वैसा वर्णन और इतिहासों में उपलब्ध नहीं होता। शेष अंकों में उल्लिखित बातें कवि के अपने दिमाग की उपज हैं। उनका इतिहास में किसी रूप में भी संकेत नहीं पाया जाता। वे न ऐतिहासिक हैं और न अर्ध-ऐतिहासिक। यदि अमीर खुसरू के महाकाव्य में से प्रथमोक्त ऐतिहासिक या अर्ध-ऐतिहासिक घटनाएँ अलग कर दी जायँ तो भी उसकी रचना के क्रम या चमत्कार में कोई अंतर नहीं पड़ता—केवल उसका ऐतिहासिक महत्त्व नष्ट हो जाता है। यदि महाकवि खुसरू चाहते तो इन ऐतिहासिक या अर्ध-ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख बिना किए भी अपना काव्य वैसी ही सफलतापूर्वक रच सकते थे; किंतु उस दशा में इस महाकाव्य के संबंध में पाठकों को इतिहास-संबंधी वे भ्रम उत्पन्न नहीं हो सकते थे जो केवल इसी काव्य ने पैदा कर दिए हैं, और न इस ग्रंथ को कुछ भी ऐतिहासिक महत्त्व ही प्राप्त होता।

कथा का इतिहास-भाग

इस महाकाव्य का प्रभाव इतिहास-रचना पर यथेष्ट पड़ा है। अमीर खुसरू के पश्चात् के ऐतिहासिकों ने भ्रम में पड़कर उसमें वर्णित घटनाओं को ऐतिहासिक सत्यों के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने अपने इतिहास-ग्रंथों में उन घटनाओं की पुष्टि में इसी महाकाव्य से उद्धरण दिए हैं जिसका प्रमाण इतिहास में अन्यत्र कहीं भी प्राप्त नहीं होता। इसी लिये हम

इस महाकाव्य से उत्पन्न हुए भ्रम; फरिश्ता

पुस्तकालय गुरुकुल कांगड़ी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देखते हैं कि मुहमम्द कासिम हिंदू शाह, जिसने "तारीख फ़रिश्ता" नामक प्रसिद्ध विशाल इतिहास लिखा है (सन् १०१५ हि०; सं० १६६३), अलाउद्दीन के समय की घटनाओं के वर्णन-प्रसंग में ही अमीर खुस्रू की रचना से उद्धरण नहीं देता प्रत्युत वह उसी के आधार पर सन् ७०६ हि० (संवत् १३६३ विक्रम; सन् १३०६ ई०) में खिलजी द्वारा गुजरात पर दूसरा आक्रमण किए जाने का भी बलपूर्वक उल्लेख करता है। उसने देवल देवी और खिज्रखाँ की प्रेम-कथा का उल्लेख भी इस महाकाव्य के आधार पर किया है। अकबर के दर्बार का प्रसिद्ध और "फरिश्ता" जैसा ही पक्षपाती इतिहास-लेखक

मुल्ला अब्दुल कादिर बदायूँनी

मुल्लाँ अब्दुल कादिर बदायूँनी ने भी इस आख्यान के संबंध की कुछ बातों का वर्णन अपने प्रसिद्ध इतिहास मुंतखबा उत्तवारीख में करना आवश्यक समझा था। अवश्य मियाँ बदायूँनी फरिश्ता की तरह सन् ७०६ हिजरी में गुजरात पर दूसरा आक्रमण लिखने की मूर्खता-पूर्ण भूल नहीं करता; किंतु इस प्रेमाख्यान का वर्णन उसने भी सविस्तर किया है। वह यह भी स्पष्ट स्वीकार करता है कि उसके इस उल्लेख का संपूर्ण आधार मियाँ अमीर खुस्रू ही हैं।

अकबर का समकालीन दूसरा ऐतिहासिक और कवि विद्वान् काजी अहमद गफ्फारी है जिसने इस कहानी का

काजी अहमद गफ्फारी

उल्लेख अपने 'नुस्खए जहाँआरा' में किया है। वह भी इसके ऐतिहासिक तथ्य की परीक्षा नहीं करता है। इस प्रकार हम देखते हैं काजी अहमद गफ्फारी, अलबदायूँनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और फरिश्ता जैसी योग्यता के विद्वान् भी सरलता से इस भ्रम के शिकार हो गए तो फिर वर्तमान काल के उन योरोपियन और हिंदुस्तानी इतिहास-पुस्तक-रचयिताओं की दशा तो और भी दयनीय है, जो प्रायः इन्हीं मुसलमान इतिहास-लेखकों की पुस्तकों का अनुवाद करके ऐतिहासिक कहे जाते हैं। डाक्टर ईश्वरीप्रसाद एम० ए० प्रयाग युनिवर्सिटी के इतिहास-प्रोफेसर हैं। आपने भी अपने "मैडीवियल इंडिया" (Mediæval India) में गुजरात की दूसरी चढ़ाई का उल्लेख सन् १३०८ (संवत् १३६५) में किया है। संभवतः सन् १३०८ से आपका अभिप्राय "सन् ७०६ हि०" से है। मिस्टर लैनपूल दूसरे विद्वान् हैं जिन्होंने अपने ग्रंथ में यही भूल की है। श्रीयुत गोविंद सखाराम सर देसाई ने अपने विख्यात मराठी इतिहास-ग्रंथ "हिंदुस्तान चा अर्वाचीन इतिहास भाग पहला" (पृष्ठ १७६ से १७९ तक) में लगभग फरिश्ता के शब्दों में ही इस आक्रमण को दुहराया है*।

वर्तमान समय के इतिहास-लेखक

कहाँ तक कहें, कोई भी इतिहास-लेखक इस भ्रम से बचा नहीं जान पड़ता, बल्कि ज्यों ज्यों आप खुस्रू के समय से

* अवश्य यह आश्चर्य की बात है कि इंपीरियल गजेटियर (Imperial Gazetteer of India, Vol. II) के लेखक ने, तथा मिस्टर विंसेंट स्मिथ ने भी अपने इतिहास में केवल सन् ६९७ हि० (१२९७ ई०) के आक्रमण का ही उल्लेख किया है तथा इस १३०६ या १३०८ ई० (७०६ हि० या ७०८ हि०) की लड़ाई का वे कुछ भी उल्लेख नहीं करते। तो भी दक्षिण का इतिहास लिखते समय इन्होंने वे ही बातें लिखी हैं जिनका उल्लेख मियाँ खुस्रू के आधार पर फरिश्ता ने किया है, किंतु जिनके विषय में बरनी कुछ भी नहीं कहता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आगे बढ़ते जाते हैं त्यों त्यों इतिहास-लेखकों की ओर से अमीर खुस्रू के कलम से बची हुई कथा-क्रम की अवशिष्ट ऐतिहासिक शृंखला जोड़ने का यत्न किया जाता रहा है। उदाहरण के लिये अमीर खुस्रू हृदय से जानते थे कि उनका यह कथानक बिल्कुल कल्पित है अतः वह इस संबंध की कोई तिथि या तारीख आदि नहीं देते; किंतु फरिश्ता और बदायूँनी इस कमी को पूरा करते हैं। अस्तु ! इन बातों पर आगे यथेष्ट विचार किया गया है; यहाँ देखना यह है कि क्या वास्तव में गुजरात पर सन् १३०८ ई० (७०६ हि०) में ऐसी कोई चढ़ाई की गई थी जिसके संबंध में फरिश्ता ने देवल देवी को दिल्ली लाने का उल्लेख किया है ?

अलाउद्दीन के इतिहास में गुजरात पर सामान्यतः दो बार चढ़ाई करने का उल्लेख मिलता है अर्थात् (१) सन् १२९७ की चढ़ाई और (२) सन् १३०८ की चढ़ाई। यहाँ दोनों पर विचार करना आवश्यक है।

गुजरात पर चढ़ाई

पहली चढ़ाई

जियाउद्दीन बरनी ने सन् ६९७ हि० के आरंभ (सं० १३५३ के अंत) में इस चढ़ाई का वर्णन अपने इतिहास में इस तरह किया है—

सन् जुलूसी ३ के आरंभ में उलगखाँ व नुसरतखाँ ने बड़ी सेना और बहुत से अमीरों के साथ गुजरात पर चढ़ाई की और नहरवाला (अणिहल्लपुर) तथा संपूर्ण गुजरात को लूटा और गारत किया तथा गुजरात का राजा कर्ण, नहरवाला से भागकर, देवगिरि में रामदेव के पास चला गया और उसकी स्त्रियाँ, लड़कियाँ और खजाने तथा हाथी मुसलमानी फौज के हाथ आए और तमाम गुजरात को गनीमत (लूट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का माल) बनाया; और वे उस प्रतिमा को जिसे हिंदुओं ने महमूद द्वारा तोड़ी जाने के पश्चात् सोमनाथ के स्थान पर फिर से बना लिया था और पूजना आरंभ कर दिया था वहाँ से ले गए। उन्होंने उसे दिल्ली पहुँचाया जहाँ संपूर्ण प्रजा ने उसे पैरों से रौंदा। नुसरतखाँ खंभात को गया और वहाँ के धनवानों से, जो बहुत संपन्न थे, उसने रत्न और मूल्यवान् पदार्थ छीने। इसी अवसर पर वह मलिक काफूर हजारदीनारी को, जिसके सौंदर्य पर मुग्ध होकर अलाउद्दीन मोहित हो गया था और उसे मलिक नायब तक बना दिया था, उसके मालिक से जबर्दस्ती छीनकर ले गया था। (तारीख फीरोजशाही पृष्ठ २५१-५२ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी के सन् १८६२ के संस्करण से अनुवादित।).

जियाउद्दीन की प्रामाणिकता

जियाउद्दीन बरनी भी अमीर खुस्रू की तरह खिलजियों के दरबार का समकालीन ऐतिहासिक एवं उनका कृपापात्र था। उसके चचा अलाउलमुल्क खिलजी सरकार में एक प्रतिष्ठित पद पर नौकर थे। बरनी ने अपना इतिहास सन् ७५८ हि० (सं० १४१५; सन् १३५८ ई०) में ६ वर्ष के परिश्रम से लिखकर तैयार किया था। उसने प्रायः सभी घटनाएँ अपनी आँखों-देखी, अथवा अपने विश्वास-पात्र संबंधियों और मित्रों की देखी एवं उनका वृत्तांत उनसे सुनकर, लिखी थीं। वह अपने ग्रंथ को ऐतिहासिक रूप देने का ही उत्सुक नहीं था, प्रत्युत सच्चे अर्थों में वह एक ऐतिहासिक विद्वान् ही था। जियाउद्दीन बरनी भी कट्टर मुसलमान और हिंदू-द्वेषी था; किंतु खुस्रू और उसमें अंतर केवल यही है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि प्रथमोक्त सज्जन कवि थे और पिछले महाशय ऐतिहासिक थे, केवल कल्पना का आनंद लेनेवाले कवि नहीं थे। जियाउद्दीन बरनी ने अपना इतिहास ७४ वर्ष की पकावस्था में लिखा था, यह बात भी स्मरण रखने योग्य है। अस्तु।

हिंदू इतिहास-लेखक

मुहणोत नैणसी ने इस चढ़ाई के संबंध में जो कुछ लिखा है वह इस प्रकार है—"सोलंकियों से बाघेले राजा वीरधवल ने संवत् १२५३ में पाटण का राज लिया। उसने ४५ वर्ष ३ मास १ दिन राज्य किया। वीरधवल का पुत्र वीसलदेव २५ वर्ष ४ मास और ३ दिन राज्य पर रहा। वीसलदेव के पाट पर कर्ण गेहला (छेला अथवा कमसमझ) बैठा, जिसने नागतिए (नागर) ब्राह्मण (माधव) की बेटी को अपने घर में डाल लिया। वह ब्राह्मण अलाउद्दीन खिलजी के पास जाकर पुकारा और बादशाही सेना चढ़ा लाया। गुजरात तुर्कों ने लिया" (पृष्ठ २१३) तथा "संवत् १३४० में माधव ब्राह्मण प्रधान हुआ; उसकी बाघेलों से बिगड़ गई; वह जाकर अलाउद्दीन बादशाह को लाया। एक मंजिल के लाख टके देने किए। धरती तुर्कों ने ली" (पृष्ठ २१५)। (नागरीप्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित हिंदी संस्करण।)

फरिश्ता

यह घटना हिसाब से संवत् १३५५ सन् १२९७-९८ की ठहरती है। लगभग ३०० वर्ष पीछे जब फरिश्ता ने अपना इतिहास लिखा तो उसने प्रायः बरनी के शब्दों में ही इस घटना को अपने ग्रंथ में भी रख दिया जिसका यहाँ अक्षरशः अनुवाद करने की आवश्यकता नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुहणोत नैणसी ने माधव संबंधी जिस घटना का उल्लेख किया है वह गुजरात में अब तक प्रसिद्ध चली आती है एवं श्री गोविंद सखाराम सर देसाई जी ने अपने इतिहास के ११ वें प्रकरण में इसे विस्तार से लिखा है। इसी घटना के आधार पर श्री नंदशंकर तुलजाशंकर जी ने भी गुजराती भाषा में एक उपन्यास "करण घेलो" नामक सन् १८६८ में प्रकाशित किया था। अस्तु।

संक्षेप में गुजरात के बाघेले राजपूतों की सत्ता सन् १२९७ ई० में समाप्त हो गई थी (नैणसी); क्योंकि कर्ण कैद हो गया था (खुस्रू)। अथवा वह जंगल को भाग गया था (बरनी) और उसका देश पूरी तरह बरबाद कर दिया गया था (बरनी) तथा गुजरात में हिंदूसत्ता का अंत भी इसी समय हो गया था (नैणसी और बरनी)।

फल

बरनी के कथनानुसार जब गुजरात में हिंदू राज्य का खात्मा हो गया, राव कर्ण का सब खांदान मुसलमानों द्वारा कैद कर लिया गया तथा स्वयं कर्ण, राज्य-भ्रष्ट होकर, मारा मारा फिरता था तब दूसरी ऐसी किसी चढ़ाई का अवसर सन् १३०८ में नहीं आ सकता था जो किसी हिंदू राजा के विरुद्ध होती। वास्तव में इतने बड़े अपमान के पीछे कर्ण के लिये जीवित रहकर उस समय राज्य करना असंभव था जब मुसल्मानों का प्रभाव अभी गुजरात और दक्षिण में कुछ था ही नहीं। बरनी का यह कथन कि कर्ण रामदेव की शरण में चला गया था चाहे ऐतिहासिक सत्य हो; किंतु इसमें भी

दूसरी चढ़ाई; बरनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संदेह नहीं है कि उसने कर्ण को कुछ भी सहायता नहीं दी थी, क्योंकि ऐसी दशा में उसकी सहायता का उल्लेख बरनी और खुस्रू (अथवा दोनों में से कोई भी) निःसन्देह करते और उसके विरुद्ध भी अलाउद्दीन के विजयी सेनापति उलगखाँ और नुसरतखाँ अवश्य बढ़ते। नुसरतखाँ के खंभात की ओर जाने से यह अनुमान किया जा सकता है कि वह कर्ण का पता लगाने एवं उसे कैद करके दिल्ली ले जाने के उद्देश्य से ही उधर को गया होगा, किंतु जब उसका यह मनोरथ सिद्ध न हुआ तब वह लूट-मार करके ही चला आया। अस्तु; यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि सन् १२९७ के पीछे कर्ण के राज्य करने का उल्लेख किसी समकालीन इतिहास, शिलालेख, दानपत्र अथवा सिक्के आदि में नहीं पाया जाता।

किंतु फरिश्ता ने इस चढ़ाई का विस्तृत हाल इस प्रकार लिखा है—"सुल्तान ने मलिक काफूर हजारदीनारी को उमराए

फरिश्ता

नामदार के साथ दकन फतह करने के वास्ते रवाना करने का अज्म किया। बाइस यह था कि देवगढ़ के राजा ने अहदशिकनी करके उसाल से खिराज न भेजा था और दकन के राजाओं ने भी बाहम इत्तिफाक किया। सुल्तान ने इसका इंसिदाद जरूरी समझकर मलिक काफूर को सायबान व सरा परदा शाही अता करके उमराए नामदार के साथ रवाना किया और हुक्म दिया (वे) मलिक काफूर की राय से इख्तलाफ न करें; और ख्वाजा हाजी को जो आरिज मुमलाकत का नायब और ब-जाते खुद एक मर्द-सालाह था आरिज लश्कर मुकर्रिर कर दिया।" इससे आगे उसने काजी अहमद गफ्फारी की पूर्वोक्त तारीख

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जहान-आरा से उद्धरण देकर लिखा है, "एक लाख फौज के साथ शुरूअ सन् ७०६ हिजरी में ये दकन को रवाना किए गए और ऐनुल-मुल्क मुल्तानी हाकिम मालवा और उलगखाँ हाकिम गुजरात को लिखा कि मलिक काफ़ूर की मदद वाजिब समझकर उसके कहने से इख्तलाफ न करें बल्कि हर मामले में मुआफिक रहकर किसी तरह की शिकायत का मौका न दें। इस मौके पर रानी कुँवरलादी (कमला देवी से अभिप्राय है जिसे खुसू ने 'कवलादी' लिखा है) बादशाहे-बेगम ने, अर्ज किया कि जब मैं राजा कर्ण के यहाँ थी तो मेरी गोद में दो दुख्तर मानिंद बद्रेमुनीर थीं। जब मैं अपनी नेकअंजामी से हुजूर बादशाह की खिदमद में आ गई, तो वे दोनों राय कर्ण के पास छूट गईं। अब सुनती हूँ कि बड़ी ने जमीन में घर कर लिया है, मगर छोटी देवल देवी नाम जिंदा है। उम्मेदवार हूँ कि उलगखाँ व मलिक काफ़ूर को हुक्म हो इस जर्रे को खुरशैद सल्तनत तक पहुँचावें। बादशाह ने फौरन दोनों के नाम फर्मान लिखा कि राय कर्ण से जो बिलफेल दकन में है देवल देवी को खुशी से ख्वाह नाखुशी से बादशाही बेगम तक पहुँचा दे।"—तारीख फरिश्ता भाग १ पृष्ठ १६८-१६९ (उर्दू अनुवाद नवलकिशोर प्रेस का सन् १९१४ का संस्करण)

इससे आगे गुजरात पहुँचकर कर्ण के पास दूत भेजना, उसका लड़की देने से इनकार करना, देवगढ़ के राजा रामदेव के लड़के संगल देवो (शंखलदेव—अमीर खुसू) का देवल देवी से विवाह करने की कर्ण से प्रार्थना करना, कर्ण का इस संबंध के लिये **इसलिये इनकार करना कि वह राजपूत**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है और संखलदेव मरहठा तथा राजपूतों से नीचा है, किंतु यह समझाए जाने पर कि तुर्क विधर्मी हैं और वह उसी के धर्म का है, उसके साथ देवल को विवाहने के लिये भेजना आदि बातें लिखी हैं। जिस प्रकार खिलजी सेना के हाथ देवल देवी के पकड़े जाने का उल्लेख खुस्रू ने किया है वह भी आगे चलकर, खुस्रू के आधार पर ही, फरिश्ता ने लिखा है।

अमीर खुस्रू

अमीर खुस्रू ने इस संबंध में सबसे अधिक काव्यमयी भाषा से काम लिया है। उसने लिखा है—"अपने दुर्भाग्य से गुजरात का राजा कर्ण कैद हो गया। वही प्रसिद्ध उलगखाँ वहाँ भेजा गया था कि वह उसके देश को धूल में मिला दे। अपने धर्म की प्रतिष्ठा बढ़ाने और अच्छों को मारनेवाले बुरे राजा को धूल में मिलाने के लिये वह भेजा गया था। उसने अब समुद्र और उसके किनारों को खून से लबालब भर दिया। इससे सोमनाथ के मंदिर में भी खलल पैदा हो गया तथा दूसरे मंदिरों में आपत्ति और निराशा फैल गई आदि।"

ये ही सब बातें 'बरनी' के इतिहास में भी हम पीछे पढ़ आए हैं। अंतर केवल यही है कि अमीर खुस्रू ने राजा कर्ण की स्त्रियों और लड़कियों (लड़की ?) के कैद हो जाने का हाल इस स्थान पर न लिखकर अपनी कथा के सिलसिले में दूसरी चढ़ाई के प्रसंग में मसनवी के पृष्ठ ८०-८१* पर लिखा है।

* इस संपूर्ण निबंध में "मसनवी दवलरानी व खिज्रखाँ" का मुस्लिम यूनिवर्सिटी अलीगढ़ द्वारा संपादित और सन् १९१७ में प्रका-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(क) दूसरी चढ़ाई के संबंध में ऊपर जितने उद्धरण दिए गए हैं उनसे यह स्पष्ट प्रकट होता है कि इस चढ़ाई का मुख्य सेनापति मलिक काफूर था और उलगखाँ और ख्वाजा हाजी तथा ऐनुल-मुल्क उसके साथ भेजे गए थे; किंतु उलगखाँ सन् ७०२ हि० (सन् १३०२ ई०) के लगभग रणथंभौर की लड़ाई में अथवा उसके कुछ बाद मर गया था।—तारीख फीरोजशाही पृष्ठ २८३ और तारीख फरिश्ता पृष्ठ १५७-१६०।

विवेचना

(ख) तवारीख जहाँन-आरा का लेखक अथवा मुहम्मद कासिम ही इस दूसरी चढ़ाई का कारण यह बताते हैं कि रामदेव ने अपना कर भेजना बंद कर दिया था। उनमें से यह कोई भी उस पर दोषारोपण नहीं करता कि उसने सन् १२९७ ई० के पश्चात् राजा कर्ण को शरण दी थी या वह अलाउद्दीन के शत्रु-वर्ग से संधि कर बैठा था।

(ग) अमीर खुस्रू के कथनानुसार राजा अपनी कन्या म्लेच्छ को विवाह देने के लिये तैयार था; किंतु फरिश्ता और गफ्फारी लिखते हैं कि वह अपनी लड़की हिंदू मरहठा के साथ भी विवाह देने को तैयार नहीं था। हिंदू-संस्कृति के कट्टर विचारों में परिपालित और परिपुष्ट हुए इन दो परस्पर विरोधी विचारों का सामंजस्य करनेवाली किसी घटना का

शित संस्करण का उपयोग किया गया है। यह आश्चर्य की बात है कि इस संस्करण के संपादक महोदय ने पुस्तक के मूल पाठ में सर्वत्र उलगखाँ के स्थान पर 'अलपखाँ' कर दिया है। मुस्लिम यूनिवर्सिटी के संरक्षण में प्रकाशित और संपादित ग्रंथ के मूल पाठ में इस प्रकार का महत्त्वपूर्ण पाठ-परिवर्तन कर देना क्षम्य नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उल्लेख इतिहास में नहीं पाया जाता। इतिहास के वर्तमान उपलब्ध ज्ञान के आधार पर कर्ण से पहले किसी हिंदू महाराज की लड़की किसी म्लेच्छ के साथ प्रसन्नता या स्वेच्छा के साथ नहीं ब्याही गई थी; इसलिये इस बात का समाधान किसी प्रकार भी नहीं किया जा सकता कि अपने उच्च वंश और कुल की प्रतिष्ठा का ऐसा अभिमानी राजकुमार, जो सहधर्मी यादव राजकुमार से भी अपनी कन्या का विवाह केवल ऊँचाई-निचाई के विचार से नहीं करता था, किस प्रकार अलाउद्दीन के बिना किसी दबाव के ही अपनी कन्या म्लेच्छ को देने का अपमान सहने के लिये उद्यत था ?

(घ) राजा पर इस अकारण चढ़ाई करने का झूठा या सच्चा कोई हेतु इतिहास में नहीं पाया जाता।

(ङ) अमीर खुस्रू के लेखानुसार कमलादेवी का विवाह अलाउद्दीन से हो चुका था और अब उसकी पुत्री को उसके पुत्र के साथ ब्याहने की तैयारी की जा रही थी। इस्लाम धर्म के पैगंबर में विश्वास रखनेवाले एक पवित्र और दीनदार सूफी को चाहे इस संबंध में कुछ कुत्सितता देख न पड़ती हो किंतु कमलादेवी जैसी कट्टर हिंदू-संस्कारों में उत्पन्न और परिपोषित स्त्री की तरफ से ऐसे विवाह का प्रस्ताव और समर्थन किया जाना असंभव है।

(च) अमीर खुस्रू की जिन घटनाओं का उल्लेख ऊपर ६, ७, ८, ९ वर्गों में किया गया है उसी की कमी को पूरा करने के लिये गफ्फारी और फरिश्ता ने अपने विवरण लिखे हैं—उन्होंने देवल देवी को मलिक काफूर के हवाले न करने के रूप में कर्ण पर चढ़ाई करने के लिये एक कल्पित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहाने की सृष्टि करके उक्त चढ़ाई का कारण उपस्थित करने का व्यर्थ प्रयास किया है।

(छ) दुर्जन-तोष न्याय से यदि यह मान भी लिया जाय कि गुजरात पर दूसरी चढ़ाई सन् ७०६ हि० (१३०६ ई०) में की गई थी तो दूसरी समकालीन घटनाओं के आधार पर भी हमें यही स्वीकार करना पड़ता है कि देवल देवी की प्रेम-कथा केवल एक कल्पना है।

बूरनी के लेख से जाना जाता है कि उलगखाँ ने सन् ६९७ हि० (१२९७ ई०) में—संभवतः वर्षा ऋतु के समाप्त होने पर—चढ़ाई की थी और इसी अवसर पर कमला देवी कैद की गई होगी। उस समय अमीर खुस्रू के कथनानुसार देवल देवी की आयु केवल छः मास की थी। इसका अर्थ यह है कि इसका जन्म लगभग ६९६ हि० के मध्य में हुआ होगा तथा सन् ७०४ में उसकी अवस्था ८ वर्ष हो जानी चाहिए। वह आठ वर्ष की आयु में ही देहली लाई गई कही जाती है। सन् ७०४ हि० तथा इसके आसपास का समय खिलजी इतिहास-काल में वह समय था जब मुगलों के आक्रमण से संपूर्ण उत्तरीय भारत संतप्त हो रहा था—उस समय कपक इकबाल और अलीबेग तथा तरताक जैसे भीषण शक सेनापति अलाउद्दीन को त्रस्त कर रहे थे और अलाउद्दीन अपनी तमाम शक्ति से उन्हें पीछे हटाने का प्रयत्न कर रहा था। उस समय उसे प्रत्यक्ष ही गुजरात पर ऐसी व्यर्थ की बातों के लिये चढ़ाई करने का अवसर कहाँ मिल सकता था? किंतु तारीख जहाँन-आरा के लेखक ने इस चढ़ाई का समय ७०६ हि० लिखा है। उस समय उसकी आयु १० वर्ष की होनी चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साथ ही एक बात और भी ध्यान में रखने की है—सभी नवीन और प्राचीन इतिहास-लेखकों के मन में यह चढ़ाई उस मुख्य चढ़ाई का एक अंग थी जो दक्षिण-विजय के लिये काफूर की अध्यक्षता में की गई थी तथा सबके मत में इसका सूत्रपात सन् ७०८ हि० (सन् १३०८ ई०) में होता है। उस समय देवल देवी की आयु ११ वर्ष के लगभग होनी चाहिए। फिर गफ्फारी और फरिश्ता उक्त चढ़ाई का समय ७०६ हि० क्यों लिखते हैं ? इसलिये कि १३०८ ई० (७०८ हि०) में चढ़ाई लिखने की दशा में देवल देवी का जन्म ही, खुस्रू के अनुसार, कर्ण के यहाँ नहीं हो सकता।

(ज) फरिश्ता के अनुसार देवल देवी जब दिल्ली पहुँची तो वह छः वर्ष की थी (फरिश्ता पृष्ठ १६९-१७०)। शायद इस समय उसे अपनी माँ से बिछुड़े हुए छः वर्ष बीते होंगे। यदि फरिश्ता का कथन (तथा गफ्फारी का भी जिसके आधार पर उसने यह लिखा है) सत्य है तो गुजरात की दूसरी चढ़ाई सन् ७०३ हि० (१३०३ ई०) में होनी चाहिए। किंतु इस समय वह रणथंभौर और चित्तौड़ के मैदानों में घिरा हुआ था और उसके सेनापति मालवा तथा धार में लड़ रहे थे। ऐसी दशा में मलिक काफूर तथा उसके सैनिक गुजरात पर चढ़ाई कर ही नहीं सकते थे।

(झ) जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, सन् ७०८ हि० (१३०८ ई०) ही वह वर्ष है जिसमें दक्षिण-विजय की स्कीम अलाउद्दीन ने स्वीकार की थी तथा इस संबंध में अधिकतर ऐतिहासिक सहमत हैं। किंतु यदि इस ३ वर्ष में गुजरात पर आक्रमण करके ६ वर्ष की देवल देवी दिल्ली लाई गई तो वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

७०२ हि० (१३०२ ई०) में उत्पन्न हुई होगी और उस समय उसकी माँ को अलाउद्दीन के राजप्रासाद में लगभग ५ वर्ष बीत चुके थे एवं उसका पिता कहीं जंगलों में मारा मारा फिरता होगा ।

(ञ) फिर भी यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि सन् ७०८ में देवल देवी ६ वर्ष की थी, तो क्या आगे की घटनाओं का क्रम ठीक रह सकेगा ? अब आइए खिज्रखाँ की आयु के साथ इस घटना-क्रम का मिलान करके परिणाम पर विचार करें ।

खुस्रू के कथनानुसार देवल देवी जब ८ वर्ष की थी तब खिज्रखाँ १० वर्ष का था । इसका अर्थ यह है कि खिज्रखाँ का जन्म सन् ६९८ हि० में, अर्थात् देवल देवी से पीछे, हुआ था; किंतु वास्तव में यह ठीक नहीं है । बरनी ने लिखा है कि सन् ७१८ हि० (सन् १३१८ ई०) में खिज्रखाँ अपने दो भाइयों (शहाबउद्दीन और शादीखाँ) समेत मारा गया था । बदायूँनी ने इसे दुहराया है और फरिश्ता भी इससे मत-भेद प्रकट नहीं करता । इस प्रकार उस समय, सन् ७१८ हि० में, उसकी आयु २० वर्ष की होनी चाहिए । किंतु वास्तव में उसकी आयु १८ वर्ष के लगभग थी, और वह इस तरह कि बरनी ने खिज्रखाँ और कुतुबउद्दीन मुबारिक को सम-वयस्क बतलाकर सन् ७१७ हि० में कुतुबउद्दीन की आयु १७ वर्ष लिखी है (पृष्ठ ३७३) । इसका अर्थ यह है कि खिज्रखाँ का जन्म सन् ६९९ या ७०० हि० में अथवा इसके भी पीछे हुआ हो और इस तरह वह देवल देवी से हर तरह से आयु में छोटा था, बड़ा नहीं ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ट) ऊपर वर्ग ११ में अमीर खुस्रू के कथन से सिद्ध होता है कि देवल देवी के एक भाई था किंतु इतिहास का साक्ष्य तो यही है कि राजा कर्ण के कभी कोई पुत्र था ही नहीं। गुजरात में जो रवायतें प्रसिद्ध हैं वे ही इस कथन को पुष्ट करती हैं। इसका भी यही अभिप्राय है कि वास्तव में अमीर खुस्रू को राजा कर्ण के वंश तथा संतान आदि का कुछ भी ज्ञान नहीं था। राजा कर्ण की किसी लड़की का देवल देवी या देवल रानी का नाम भी कल्पित है, यह भी आगे प्रकट किया जायगा।

(ठ) अमीर खुस्रू की काव्यमयी कल्पना पर जरा विचार कीजिए। एक आठ वर्ष की अबोध बच्ची अपने बाप तथा अन्य कुटुंबियों से छीनकर उन अपरिचित मनुष्यों में डाल दी जाती है जिनकी भाषा भी वह नहीं समझती, जिनके शब्द भी उसने कभी अपने कानों से नहीं सुने, जिनका अब तक का बर्ताव उसने अपने पिता आदि के साथ शत्रुता का देखा है। संभवतः उन व्यक्तियों के प्रति, जिन्होंने उसे इस दुर्गम परिस्थिति में डाल दिया था, उस बच्ची के भाव भय-मिश्रित घृणा के ही रहे होंगे। क्या ऐसी अबोध बालिका ने ऐसी दुःखद परिस्थिति में खिज्रखाँ के प्रति वासनामय या सात्त्विक शृंगार के भाव प्रकट किए होंगे? क्या ८ या १० वर्ष की बालिका को शृंगार-पूरित गोष्ठी रचने का शांतिमय अवकाश मिल गया होगा? क्या उसने इस अवस्था में अपने शत्रु की भाषा इतनी अधिक सीख ली होगी कि वह प्रेम के भाव शब्दों में व्यक्त करे? अमीर खुस्रू तो इन प्रेमियों में पत्र-संदेश भी भिजवाते हैं! क्या यह संभव है?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन सब बातों की उपस्थिति में यह बात बिल्कुल सिद्ध नहीं होती कि कर्ण की लड़की देवल देवी कभी दिल्ली आई थी, इतना ही नहीं किंतु कमला देवी का भी उसके महल में आना संदिग्ध हो जाता है। तो प्रश्न यह होता है कि अमीर खुस्रू को यह नाम कहाँ से मिला?

वास्तविक तथ्य

इस नाम के उद्भव होने का भी अपना अलग इतिहास है। सती पद्मिनी के प्रसिद्ध दुर्ग चित्तौड़ के निकट ही रणथंभौर या रण-स्तंभपुर नाम का एक और प्रसिद्ध गढ़ था जिसका स्वामी उस समय शरण-वत्सल हम्मीरदेव था। अलाउद्दीन ने इस दुर्ग को ले लिया था। इसके पतन के युद्ध का हाल कई संस्कृत तथा हिंदी की पुस्तकों में पाया जाता है। इन पुस्तकों के अनुसार उक्त महाराणा हम्मीरदेव की एक पुत्री का नाम देवल देवी या देवल राणी था। "हम्मीररासो" के नीचे लिखे छंद में यह नाम आया है—

भूलना करी साह सल्लाह की बात मोसों,
सुनो भाजि आयो इहाँ मीर खूनी।
इसी वास्ते आपने मोहि भेजो,
उसे दीजिए बेगि मँगाय हूनी॥
करो साथ कुँवर देवल्ल ताई,
भरो दंड बैठे करो राज ईमौ।
यहै बात मेरी कही मान लीजे,
नहीं नैंक में होयगी राज सूनी॥६५॥

यह वाक्य अलाउद्दीन के दूत मुहल्हन के मुख से हम्मीर को सुनाया गया है, जिसके द्वारा अलाउद्दीन देवल देवी को अपने पुत्र के लिये माँगता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरी पुस्तक हम्मीर महाकाव्य के सर्ग १३ के श्लोक १०६ से ११५ तक में यही नाम इसी प्रकार आया है। यह महाकाव्य सन् ७५४ हि० (सन् १३५२ ई०) में, वास्तविक घटना से ४७ वर्ष पीछे, रचा गया था। इन दोनों ग्रंथों के पाठों से ज्ञात होता है कि सती पद्मिनी की कुत्सित लालसा की तरह अलाउद्दीन की देवल देवी को अपने पुत्र के साथ ब्याहने की इच्छा भी विफल ही रही—राजपूतों ने केसरिया बाना पहना और राजपूतनियों ने अपना पवित्र जौहर किया। हम्मीर महाकाव्य के श्लोक ये हैं—

इतश्च राजपत्नीभिरनुशास्य प्रणोदिता।
पुत्री देवल्लदेवीति नत्वा भूपं व्यजिज्ञपत् ॥
हा हा तात मदर्थं किं राज्यं विप्लावयस्यदः।
किं कीलिकार्थं प्रासादं प्रपातयति कश्चन ॥
प्रभूता अपि पुत्राः किं कुर्युः पूर्वतमोंगजाः।
परार्थमेव वर्धेत या क्षुद्रश्रीरिवान्वहं ॥
मत्प्रदानेन साम्राज्यं चिरं यत्क्रियते स्थिरम्।
तत्काचखंडदानेन रक्षा चिंतामणेर्न किम् ॥
परासोर्यत्र कुत्रापि जीवंति तनुजा वरम्।
दृष्टा हि पुनरावृत्तिर्जीवतां न गतायुषाम् ॥
नीतिः स्वहितमालोच्य व्ययं कुर्याद्विचक्षणः।
तत्तात मयि दत्तायां किं किं भावि न ते हितम् ॥
जामाता भूपतिस्तादृग्सुखं स्वक्षितिरक्षणे।
खिलूक्का बहु सर्वेषां वयमेव किलोपरि ॥
त्यजेदेकं कुलस्यार्थे नीतिरित्याह वाक्पतिः।
त्रातुमावर्धितक्ष्मां मां ददतस्तव का क्षतिः ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तन्निधेहि धियं तत्त्वे विधेहि समयोचितम् ।
पिधेहि मा च मद्वाक्यं शकेंद्राय प्रदेहि मां ॥
अयशःपटनिर्माणतुरीं तच्चातुरीमिति ।
श्रुत्वा भृशं स जज्वाल नृपतिस्तर्पिताग्निवत् ॥

इस प्रकार यह विश्वास करने के लिये यथेष्ट प्रमाण है कि अमीर खुस्रू नें अपने स्वामी की निराशा की जलन को, देवल देवी और राजा कर्ण के नाम को बदनाम करके इस महाकाव्य का कथानक गढ़कर, मिटाने का प्रयत्न किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१३) देशभाषा

[लेखक—राय बहादुर बाबू हीरालाल बी० ए०, कटनी]

कोई सवा सौ वर्ष से अधिक की बात है कि बनारस के पुराने किले के कुएँ में एक ताम्रशासन मिला था, जिसमें डाक्टर कीलहॉर्न के अनुसार स्वसाग समावासित श्रीमद्विजय-कटकात्परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर परममाहेश्वर त्रिकलिंगाधिपति श्रीमत् कर्णदेव द्वारा वेसाल ग्राम विनिर्गत पंडित विश्वरूप को सुसी ग्राम के दान देने का उल्लेख है। आगे लिखा है—'इहैव पितुः श्रीमद्गांगेयदेवस्य संवत्सरश्राद्धे वेण्यां स्नात्वा भगवंतं देवदेवं त्रिलोचनं समभ्यर्च्च्य शासनेन संप्रदत्तः।' अंत में तिथि लिखी है संवत् ७९३ फाल्गुन वदि ९ सोमे। यह कलुचरिया चेदि संवत् है जिसको कर्णदेव के पुरखों ने सन् २४८ ई० में चलाया था। इस प्रकार गणना करने से पाया जाता है कि यह शासन सन् १०४२ ई० में लिखा गया था। कर्णदेव के पिता गांगेयदेव की मृत्यु प्रयाग में हुई थी। उनकी बरसी के समय, मृत्यु के ठीक एक वर्ष के पश्चात्, श्राद्ध के अवसर पर यह दान दिया गया था। कप्तान विलफोर्ड ने जब इस लेख को पहले पहल छपवाया था तब आपने इसका समय संवत् १९२ ईस्वी में ठहराया था और श्रीमद्विजय-कटकात् को विजयकंटक पढ़कर उसे गांगेयदेव का विरुद बतलाया था, जिसका हवाला उस अत्यंत प्रामाणिक संस्कृत कोष में प्रविष्ट हो गया जिसे सेंटपीटर्सबर्ग डिक्शनरी कहते हैं। विलफोर्ड साहब ने न जाने किन शब्दों का क्या अर्थ लगाकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गांगेयदेव की मृत्यु को वीभत्स कारागार के भीतर स्थिर किया था। डाक्टर कीलहॉर्न ने इन सब बातों का संशोधन करके सन् १८९४ ईस्वी के एपिग्राफिका इंडिका में उसे पुनः छपवाकर इन सब भ्रमों का निवारण तो कर दिया, परंतु 'वेण्यां स्नात्वा' को पकड़कर श्राद्ध करने के स्थान को उन्होंने मध्यप्रदेश की वेनगंगा के किनारे अंतरित कर दिया, क्योंकि इन कलचुरि राजाओं की राजधानी जबलपुर जिले के वर्तमान नर्मदा-तटस्थ तेवर गाँव में थी जिसका प्राचीन नाम त्रिपुरी था और जिसको उस जमाने में पौरंदरी की उपमा दी जाती थी। वेनगंगा त्रिपुरी से चालीस पचास मील की दूरी पर निकली है और अंत में वर्धा में मिलकर प्राणहिता का नाम धारण कर गोदावरी में मिल गई है। कीलहॉर्न ने समझा कि कर्णदेव का मुकाम अपने पिता की बरसी के दिन इसी नदी के किनारे कहीं पर रहा होगा और वहीं श्राद्ध किया गया होगा; परंतु यह बहुत ही संदिग्ध अनुमान है। वेनगंगा का माहात्म्य स्थानीय लोग कुछ न कुछ अवश्य मानते हैं, परंतु वह नर्मदा अथवा गंगाजी के माहात्म्य के सामने पासंग बराबर भी नहीं ठहरता। तब प्रश्न खड़ा होता है कि इतने बड़े राजा गांगेयदेव का श्राद्ध निज राजधानी त्रिपुरी ही में 'नर्म्मदायां स्नात्वा' क्यों न किया गया? चालीस पचास मील दूर एक क्षुद्र नदी वेनगंगा में स्नान कर क्यों संपादन किया गया? गांगेयदेव ऐसा-वैसा राजा नहीं था, उसने समस्त भारत को सर करके 'विश्वविजयी' की पदवी प्राप्त की थी और प्रयाग को अपना निवास-स्थान नियुक्त कर लिया था। वहीं पर उसकी सौ रानियाँ रहती थीं और कदाचित् यही प्रतीक्षा करती थीं कि जब समय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आवेगा तो हम पति के साथ त्रिवेणी ही में सती होकर मुक्ति पावेंगी और ऐसा हुआ भी।

"प्राप्ते प्रयागवटमूलनिवेशबंधौ
सार्द्धं शतेन गृहिणीभिरमुत्र मुक्तिम्।
पुत्रोऽस्य खड्गदलितारिकरींद्रकुंभ-
मुक्ताफलैः स्म ककुभोऽर्चति कर्णदेवः॥"

इसी श्लोक से कर्णदेव का गौरव प्रकट हो जाता है। तब वह अपने पूज्य पिता की बरसी दंडकारण्य की क्षुद्र नदी के किनारे गोंड़ों की बस्तियों में, जहाँ ब्राह्मण भी ढूँढ़े न मिलें, क्यों करने जाता? निस्संदेह 'वेण्यां स्नात्वा' का अभिप्राय प्रयाग की त्रिवेणी से है। अभिधानराजेंद्र में भी प्रयाग की त्रिवेणी को "वेणी-संगम" कहा है। जान पड़ता है 'स्वसाग समावासित' 'प्रयाग समावासित' का अशुद्ध पाठ है। मेरी समझ में 'सुसी ग्राम' वर्त्तमान झूसी से भिन्न नहीं है। वह बड़ी प्राचीन बस्ती है और गंगा ही के तट पर बसी है। जिन पंडितजी को दान दिया गया था वे वेसाल के रहनेवाले थे। जान पड़ता है यह वैशाली का उस समय का चलतू नाम था। प्रयाग से वैशाली बहुत दूर नहीं थी। राजा के मान्य कोई बड़े ही पंडित और किसी विशाल नगरी ही के निवासी रहे होंगे। अस्तु इन सब बातों से स्पष्ट है कि श्राद्ध प्रयाग ही में हुआ और वहीं पर ताम्रशासन दिया गया। यह ताम्र-शासन आदि से अंत तक संस्कृत में लिखा है जिसकी श्लोक-संख्या ३७ है। इनमें से केवल १२वाँ छंद देशभाषा में है जो इस प्रकार है—

"होहिंति एत्थवंसे पुरिसा एहइय गारव महग्घा।
इय हाविऊण जेणं पालीण परिग्गहो गहियो॥"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात् इस वंश में अत्यधिक गौरवान्वित बहुमूल्य पुरुष होंगे। यह जानकर उन्होंने चारों दिशाओं पर अधिकार कर लिया। यह छंद मुग्धसुंग प्रसिद्ध धवल के विषय में कहा गया है जो सन् १९०० ईस्वी के लगभग त्रिपुरी की गद्दी पर विराजमान थे। जान पड़ता है कि उस समय की प्रचलित भाषा में राजगुरु या और किसी महात्मा ने उनको आशीर्वाद दिया था जिसे पहली पंक्ति में, उन्हीं के शब्दों में, प्रशस्तिकार ने हूबहू उद्धृत कर दिया। इस भाषा का सूक्ष्म रीति से विवेचन करना अभीष्ट है। डाक्टर कीलहॉर्न इसको महाराष्ट्रीय प्राकृत बतलाते हैं। प्रख्यात कवि बाण ने अपने हर्षचरित में एक जगह लिखा है कि जब वे भ्रमण करने को निकले तो उनके साथ एक भाषा कवि और एक प्राकृत कवि थे। बाण सातवीं शताब्दी में हुए हैं। हमारा उदाहरण नवीं शताब्दी के अंत और दसवीं के आरंभ का है। दसवीं सदी के आरंभ में प्रसिद्ध धवल के लड़के केयूरवर्ष युवराज देव गद्दी पर बैठ गए थे। इनकी सभा में प्रसिद्ध कवि राजशेखर ने विद्धशालभंजिका नाम नाटक लिखा था। इसकी भाषा को क्या बाण कवि के भाषा कवि या प्राकृत कवि की भाषा कहेंगे? राजशेखर ही के जमाने में देवसेन नामक एक नामी जैन ग्रंथकार हुए हैं जिनके दोहे हिंदी की ओर बहुत झुकते हैं। यथा—

शामकारे पिणु पंच गुरु दूरि दलिया दुहकम्मु।
संखे वेपय डक्खरहिं अक्खमि सावय धम्मु॥
जो जिण सासन भासियउ जो मइ कहियउ सारु।
जो पाले सई भाउ करि सो तरि पावइ पारु॥

देवसेन प्राकृत में भी रचना करते थे जिसका उदाहरण यों है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओ पंसाण सारें हारो भव्वाण णवसए णवेए।
सिरि पासणाह गेहे सुवि सुद्धे महासुद्धह समीए॥

इससे प्रकट होता है कि बोलचाल की भाषा कुछ और थी और साहित्य की भाषा प्राकृत थी। देवसेन के उदाहरणों से जान पड़ता है कि बोलचाल की भाषा हिंदी ही थी जिसमें उन्होंने दोहे बनाए थे, और यही क्रम बाण के समय की भाषा और प्राकृत का जान पड़ता है। यह सिलसिला और भी पीछे तक चला गया था जिसको विद्यामहोदधि श्रीमान् काशीप्रसाद जायसवाल ने नारद-स्मृति से उद्धरण देकर व्यक्त कर दिया है। स्मृति में एक जगह लिखा है—"संस्कृतैः प्राकृतैः वाक्यैः शिष्यमनुरूपतः। देशभाषाद्युपायैश्च बोधयेत् स गुरुः स्मृतः॥" इसमें गुरु को संस्कृत, प्राकृत और देशभाषा में समझाने को कहा है। यह देशभाषा हिंदी के सिवा और कौन हो सकती है? नारद-स्मृति का समय खीष्टीय पाँचवां शताब्दी में पड़ता है। इस प्रकार हिंदी के प्रचार-काल का पाँचवां सदी तक पता लग जाता है। उसका जन्मकाल कब से लिखा जाय इसकी खोज अभी बहुत करनी पड़ेगी। यदि साहित्य-सेवी अपने अध्ययन में इस बात का स्मरण रखकर अन्य किसी ग्रंथ से पंडित-प्रवर श्रीमान् जायसवालजी की नाईं इस विषय पर प्रकाश डालेंगे तो क्रमशः यह समस्या अवश्य हल हो सकती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१४) कवि शेख निसार कृत मसनवी यूसुफ-जुलेखा

[लेखक—बाबू सत्यजीवन वर्म्मा, एम० ए०, प्रयाग]

नागरीप्रचारिणी पत्रिका के भाग ६ अंक ३ में प्रकाशित 'आख्यानक कवि'-शीर्षक लेख में मैंने हिंदू और मुसलमान आख्यानक कवियों की एक सूची दी है। इस सूची में उस समय तक ज्ञात ऐसे बीस कवियों के नाम हैं जो आख्यानक काव्यों के रचयिता हैं। इसी लेख में मैंने इन कवियों के दो भिन्न भिन्न संप्रदायों का होना दिखलाया है जिनका पृथक् पृथक् उद्देश्य ऐसे काव्यों की रचना में था। इन दोनों संप्रदायों को मैंने हिंदू और मुस्लिम संप्रदाय के नाम से अभिहित किया है। इस लेख में मुझे मुस्लिम संप्रदाय के एक नव-ज्ञात कवि की चर्चा करनी है।

आख्यानक कवियों में मुस्लिम संप्रदाय इस कार्य में बहुत सफलमनोरथ हुआ और उसके द्वारा साहित्य-निधि में बहुत से अमूल्य रत्नों की वृद्धि हुई। इस संप्रदाय के कुछ मुसलमान कवि उच्च कोटि के कवि कहे जा सकते हैं। मंझन, कुतबन तथा जायसी हिंदी-साहित्य के इतिहास में सदा अमर रहेंगे।

मुस्लिम संप्रदाय के उस समय तक ज्ञात दस कवियों का मैंने उल्लेख किया है। उनके नाम, ग्रंथ तथा समय भी उस लेख में कालक्रमेण दिए गए हैं। मुझे हर्ष है कि उनकी सूची में एक कवि का नाम और भी जोड़ा जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उस कवि का नाम **शेख निसार** है। इसकी मसनवी **यूसुफ-जुलेखा** की हस्तलिखित प्रति हिंदुस्तानी एकेडेमी के मंत्री डाक्टर ताराचंदजी की कृपा से मुझे परीक्षार्थ मिल सकी है। एतदर्थ मैं उनका आभारी हूँ।

जहाँ तक मुझे ज्ञात है, अभी तक उस कवि की रचना कहीं देखने में नहीं आई है। जुलेखा की प्रति फ़ारसी लिपि में साधारण बाँस के कागज पर, डबल-क्राउन आकार के ३४६ पृष्ठों पर, लिखी है। साधारण देशी स्याही काम में लाई गई है। पृष्ठ ३५ से २३६ तक और २४५ से २५६ तक दोहे तथा सोरठे लाल स्याही में लिखे हैं, शेष काली स्याही में। कागज और लिखावट से पता चलता है कि प्रतिलिपि भिन्न भिन्न परिस्थितियों में रहकर की गई है। संभव है इसमें कुछ काल लगा हो। प्रतिलिपिकार ने दो स्थलों पर अपना नाम और पता लिखा है। पृष्ठ २-६७ के एक भाग में वह लिखता है—

"ता ईं हद बखते बदनमते खाकसारे जर्रः मिसाल बे परो बाल बंदए हकीर मखदूम-बखश वल्दे मुहम्मद-शाह मखदूम जादा प्यारपुरी* ।"

भावार्थ यह कि—'प्यारपुर के निवासी मुहम्मद-शाह के पुत्र मखदूम-बखश, मखदूम जादा ने यहाँ तक नकल की।'

अंतिम पृष्ठ पर वह लिखता है—

"तमामशुद नुसखए जुलेखा तस्नीफे मौलवी निसार बखत बंदए खाकसार बे॰ परो-बाल जर्रः-मिसाल मखदूम

* تا ایں حد بخط بد نمط خاکسار ذرۂ مثال بے پروبال بندہ حقیر مخدوم بخش ولد محمد شاہ مخدوم زادہ پیار پوری—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बखश मखदूम जादा खारपुरी ७ जमादिउस्सानी रोज एक-शंबा बयास खातिर करीम बखश* ।"

इससे प्रकट है कि मौलवी निसार कृत जुलेखा की प्रतिलिपि मखदूम बखश, मखदूम जादा, प्यारपूर-निवासी ने करीम बखश के लिये ७ वीं जमादिउस्सानी, सोमवार के दिन समाप्त की। सन् का कहीं पता नहीं चलता। लिपिकार ने सन् अवश्य लिखा होगा पर अंतिम पृष्ठ का वह कोना कुछ फटा है जहाँ इसका होना संभव है। कहीं कहीं हाथ लगने से अक्षर भी मिट गए हैं। संभव है कि सन् की अनुपस्थिति के यही कारण हों। अनुमान से पता चलता है कि लिपिकार कवि का समकालीन न होगा। अनेक स्थानों पर चौपाई का अर्धभाग छूट गया है। एक स्थान पर केवल चौपाई के आदि के दो शब्द हैं। अतः निश्चय है कि प्रतिलिपि किसी प्राचीन प्रति से की गई है और कहीं कहीं स्पष्ट न होने से लिपिकार ने विवश हो वैसे ही छोड़ दिया है।

इस काव्य की भाषा भी अवधी है जो इस संप्रदाय के कवियों की भाषा है। शेख निसार ने भी अपने काव्य में अपने संप्रदाय की परिपाटी के अनुसार दोहे चौपाई का उपयोग किया है, पर कहीं कहीं उन्होंने कवित्त और सोरठे से भी काम लिया है। साधारणतः नौ चौपाई के पश्चात् एक दोहा आता है

---

* تمام شد نسخه زلیخا تصنیف مولوی نثار بخت بندهٔ کلا خاکسار بے پروبال ذره مثال مخدوم بخش مخدوم زاده پیار پوری ۷ جمادی الثانی روز یکشنبه بپاس خاطر کریم بخش—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर कहीं मुझे आठ ही चौपाई के बाद दोहा मिला है। हो सकता है यह प्रतिलिपिकार की भूल हो।

कवि

सौभाग्य की बात है कि मुसलमान आख्यानक कवियों में यह प्रथा है कि वे अपने काव्य में अपने समय के शासक का तथा अपना परिचय दे देते हैं, अन्यथा इसका पता लगाना और भी कठिन होता। कवि निसार देहली के अंतिम सम्राट् शाह आलम के समय में हुए थे। वे लिखते हैं कि कादिर खाँ नामक रुहेले ने सम्राट् की आँखें फोड़ दी थीं और उसके पुत्र से अधिकार छीन लिया था*। उस समय उत्तर भारत की राजनैतिक अवस्था अच्छी नहीं थी पर अवध में सुख-शांति थी। अवध में उस समय नवाब आसफुद्दौला राज्य करते थे। उनके हिंदू मंत्री बड़े नीति-परायण थे और इस कारण उनके राज्य में सुख और शांति विराजती थी†।

शेख निसार का जन्म शेखपुर में हुआ था। यह अवध राज्य में था। डिस्ट्रिक्ट गजेटियर से पता चलता है कि राय-बरेली जिले में एक शेखपुरा नामक क़स्बा परगना बडरावाँ,

---

* आलमशाह हिंद सुल्ताना। तेहि के राज यह कथा बखाना॥
कादिरखाँ सो अधम रुहेला। सो अपराध कीन्ह बदफेला॥
पातशाह कहँ आँधर कीन्हा। सुत उतार सब दुख तेहि दीन्हा॥
कीन्ह अयत तैमूर घराना। राज प्रताप अधम तेहि भाना॥

× × ×

† चहुँ दिसि अंधधुंध सब छावा। अवध देस काँ दियो बिहावा॥
येहिपा खाँ असफुद्दौला। जासु सहाय अहर नित मौला॥
हिंदू सचिव वह बली नरेसा। तेहि के धरम सुखी सब देसा॥
तेहि के राजनीत जग छाए। धरम दान को सरबर पाए॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तहसील महराजगंज में है। यहाँ शेखों की अच्छी बस्ती है*। पिछली मनुष्य-गणना में वहाँ शेखों की संख्या ८,७१९ थी। कवि निसार के कथनानुसार सेखपुर को उनके पुरुषों में शेख हबीबुल्लाह ने बसाया था। सम्राट् अकबर के समय में वे देहली से अवध आए और यहाँ बीस वर्ष तक रहे। इनके पुत्र शेख मुहम्मद हुए। उनके पुत्र शेख गुलाम मोहम्मद हमारे कवि शेख निसार के पिता थे। कवि लिखता है कि शेख हबीबुल्लाह मौलवी रूम के वंश के थे†। इस कथन में कितनी सत्यता है, यह कहना कठिन है। संभव है कि कवि ने अपने कुल के गौरवार्थ अपना संबंध मौलाना रूम से जोड़ा हो।

शेख निसार कई भाषाओं के ज्ञाता थे। अरबी, फारसी, संस्कृत और तुरकी आप जानते थे। उनके कथन से ज्ञात होता है कि उन्होंने सात ग्रंथों की रचना की थी, जिनमें तीन गद्य, एक दीवान, एक रस ग्रंथ और एक भाषा काव्य (जुलेखा) था‡। जुलेखा की रचना कवि ने वृद्धावस्था

---

* शेखपूर उत गाँव सुहावा। शेख निसार जनम तहँ पावा॥
शेख हबीबुल्लाह सोहाए। शेखपूर जिन आय बसाए॥

† पातशाह अकबर सुलतांना। तेहि के राज कर जगत बखाना॥
अवध देस सूबा होय आए। बीस बरस लह रहे सोहाए॥
तेहि के शेख मोहम्मद बारा। रूपवंत भू के अवतारा॥
ता सुत गुलाम मोहम्मद नाऊँ। सो हम पिता सो ताकर गाऊँ॥
बंसी मौलवी रूम के शेख हबीबुल्लाह।
जेहि के मसनवी जगत महँ अगम निगम अवगाह॥

‡ सात ग्रंथ अनूप सोहाए। हिंदी औ पारसी सोहाए॥
संस्कीरत तुरकी मन भाए। अरबी औ फारसी सुहाए॥
हीर निकार के गेहूँ खाने। रस मनोज रस गीत बखाने॥
औ दिवान मसनवी भाषा। कर दोइ नसर पारसी राखा॥

५७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में की*। कवि निसार स्वयं लिखते हैं कि अपनी आयु के सत्तावन वर्ष बीतने पर मुझे इस कथा की रचना की इच्छा हुई। हिजरी सन् १२०५ में कवि ने इस काव्य की रचना की†। कवि ने ईस्वी संवत् और विक्रम संवत् भी दिया है; पर विक्रम संवत् में स्पष्टतया लिपिकार ने गलती की है। प्रस्तुत प्रतिलिपि में संवत् १८२७ दिया है; पर गणना से संवत् १८४७ होना चाहिए। फारसी लिपि में सत्ताइस और सैंतालीस की लिखावट में भ्रम हो जाता है। जायसी के विषय में भी यही बात हुई। भ्रम से ९४७ हिजरी का ९२७ पढ़ा गया था। इस काव्य का आरंभ कब हुआ था, यह नहीं कहा जा सकता; पर शेख निसार ने दो स्थानों पर लिखा है कि सात दिवस में समाप्त हुआ। कवि की अन्य रचनाएँ और भाषाओं में थीं अतः उसने इस काव्य की रचना हिंदी भाषा में की‡।

जुलेखा आख्यान के सूत्रपात का कारण कवि निसार के जीवन की एक घटना से संबंध रखता है। कवि ने स्वयं काव्य के अंत में इसका उल्लेख किया है। वह लिखता है—

---

* बार बेस महँ कथा बनाए। हीर० निकार अनूप सोहाए॥
रस मनोज रस गीत सोहावा। सभै बात का भेद बतावा॥
सत्तावन बरख बीते आयू। तब उपन्यो यह कथा का चाऊ॥
सात दिवस महँ कथा समापत। दुरमति नाम रह्यो सो संमत॥

† हिजरी सन बारह सै पाँचा। बरनेउँ प्रेम-कथा यह साँचा॥
अट्ठारह सै सत्ताईसा। संबत बिक्रम सेन नरेसा॥

‡ सभ भाषा महँ कथा सोहाए। बरनैं भाँति भाँति कर लाए॥
उर्दी औ अरबी सुरबानी। पारस औ तुरकी मिसरानी॥
भाषा महँ काह न भाषा। मोरे अंस दैउ लिखि राखा॥
सो अब कथा कहौं चित लाए। जेहि तें मोख सुगम होय जाए॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब से मैंने जन्म लिया दुःख के सिवा सुख नहीं जाना। और जो दुःख था सो था ही पर एक दुःख ने मुझे पागल कर दिया। परमात्मा ने एक पुत्र मुझे दिया था। उसका नाम लतीफ था। वह बाईस बरस तक संसार में रहा। पढ़ा-लिखा और आज्ञाकारी पुत्र था। जब से उसकी मृत्यु हुई मैं पागल सा हो गया। बहुत कुछ दवा-दारू की पर सब व्यर्थ हुआ। स्मरण आता है कि मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए उसने मुझे रोते देखकर कहा था कि पिता तुम क्यों रोते हो, बड़े लोगों को सदा दुःख सहना पड़ता है। नबी यूसुफ को दुःख सहना पड़ा। राम को दुःख सहना पड़ा। दुःख ही में तो आदमी की परीक्षा होती है। मरना तो है ही; कोई आगे जायगा कोई दस दिन बाद। जब से उसकी मृत्यु हुई मैं नित्य याकूब की याद करता था और उसकी कहानी का ध्यान करता था। उसी की भाँति पुत्र के शोक में मैं जल्दी बुड्ढा हो गया। उसी के विरह में रो रोकर यह कहानी लिखी। संसार के रहस्य का कुछ पता नहीं चलता। अब तो ईश्वर से यही बिनती है कि अब मेरे दुःख को हरे और मुझे मौत दे। यह कहानी इसी लिये लिखी कि लोग इसे पढ़ेंगे। हम तो सदा रहेंगे नहीं पर कहानी रहेगी। जो इस कथा को पढ़ें उनसे बिनती है कि मुझे आशीर्वाद दें कि मेरी गति बने*।

---

* जब तें जन्म लीन्ह जग माहीं। छुट दुख अवर सो देख्यों नाहीं॥
अवर दुःख मैं सब कुछ सहा। भयौ एक दुख बाउर महा॥
पुत्र अनूप दई मोहिं दीन्हा। रूप अनूप बुधि आगे कीन्हा॥
बाइस बरस रहा जग माहीं। छुट बिधा उन जान्यो नाहीं॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जुलेखा में कवि ने अपने समय में प्रचलित मसनवी 'हंस जवाहिर' का नाम दिया है और अपने समकालीन कवि सय्यद ईशाअल्लाह खाँ का नाम दिया है। कवि ने जुलेखा में मधु-मालती, माधवानल और कामकदंला का भी उल्लेख किया है। स्पष्ट है, उस समय ये काव्य प्रचलित थे*।

कथा

जुलेखा की कथा का आधार प्रसिद्ध फारसी काव्य यूसुफ जुलेखा है। कवि निसार ने उसे भारतीय रंग अवश्य दिया है; पर ढाँचा वही है। संक्षेप में जुलेखा की कथा यों है—किनआँ(کنعان) नगर में नबी याकूब रहते थे। यह नगर 'नूह'

नाम लतीफ अनूप सोहाए। सभ गुन ज्ञान दई अधिकाए॥
बाइस बरस के बैस महँ छाड़ दीन्ह उन देह।
मूरत अनूप गिलाब से जाय मिले पुन खेह॥
तब मैं भय जो बाउर भेसा। करै सदा अंतकाल अँदेसा॥
जब तें लतीफ कर मरम बिसेख्यौं। तप संपत अमिरथा देख्यौं॥
रोम रोम यह बिरह बखानी। कोउ न रहा जग रहै कहानी॥
देहु दया मोहै कब मोखू। हरहु मोर अब अवगुन दोखू॥
पढ़ै प्रेम कै अत्तर कोई। देह असीस मोर गत होई॥
हम न रहब अत्तर रह जाई। सबहि लोग होय सुखदाई॥
× × ×
सात दिवस में कथा सोहाए। कीन्ह समापत दीन्ह बनाए॥
× × ×

* हंस जवाहिर प्रेम कहानी। कहा मसनवी अँबिरित बानी॥
ईसा कहे जहाँ लह भेदू। औ सब कथा जहाँ लह बेदू॥
झूँठ जान सभ तिन मन भाषा। अब यह साँच कथा चित लागा॥
तीन नसर एक मसनबी औ निसाब दीवान।
सर दुर हीर निकार तिन, रस मनोज, रसखान॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का बसाया था। नबी लूत की लड़की से इसहाक ने शादी की। इनके दो पुत्र हुए। एक ईस (عيص) दूसरा याकूब (يعقوب)। श्याम देश में दोनों भाई पैदा हुए थे। याकूब किनआँ में रहते थे। इनकी सात स्त्रियाँ थीं जिनसे बारह पुत्र उत्पन्न हुए थे। राहेल के दो बच्चे हुए। एक यूसुफ दूसरी दुनिया नामक कन्या। यूसुफ को वह बहुत मानता था और उसका अन्य पुत्रों से अधिक आदर करता था। इसी से और सब भाई उससे ईर्ष्या करते थे। एक दिन सबों ने राय की कि उसे मार डालना चाहिए। इस विचार से जब वे वन में भेड़ चराने जाने लगे तो पिता से बहुत कह-सुनकर यूसुफ को भी ले गए और वहाँ उन्होंने उसे एक कूएँ में डाल दिया। घर पर उसका कुरता लाकर पिता को दिया कि इसे हम लोगों ने पड़ा पाया है। कुरते को सबों ने एक बकरी के खून में रँग दिया था। याकूब को बहुत दुःख हुआ और वह एकांतवास करने लगा। रोते रोते उसकी आँखें अंधी हो गईं।

यूसुफ कूएँ में पड़ा रहा। एक दिन सौभाग्य से उसी वन में कुछ सौदागर ठहरे। एक ने पानी के लिये कूएँ में डोल छोड़ा। यूसुफ ने उसे पकड़ लिया। इस प्रकार सबों ने उसे बाहर निकाला। सौदागर यूसुफ की सुंदरता देखकर उस पर मोहित हो गया और उसने उसे अपने साथ ले चलना चाहा। इसी बीच में उसके दसों भाई आ पहुँचे। उन सबों ने उससे कहा कि यह हमारा दास है, घर से भाग आया है और हम उससे परेशान हैं। यदि चाहो तो उसे खरीद लो। सौदागर ने यूसुफ को खरीद लिया। उसके दुष्ट भाई उसे बेचकर चलते हुए। सौदागर मिस्र पहुँचा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मगरिब (पश्चिम) देश में एक नगर था। वहाँ तैमूस नामक राजा राज्य करता था। उसके जुलेखा नामक एक ही कन्या थी। यह अद्वितीय सुंदरी थी। जब यह युवावस्था को प्राप्त हुई तब देश देश के राजाओं ने विवाह के लिये कहला भेजा; पर तैमूस ने किसी को पसंद न किया। जुलेखा ने एक रात को स्वप्न में एक सुंदर युवक को देखा और उस पर मोहित हो गई। जागने पर वह बहुत चिंतित हुई और उसी के विरह में घुलने लगी। बहुत पूछने पर उसने अपनी धाय से भेद कहा। धाय कुछ उपाय न कर सकी। बाद को जुलेखा ने दो बार और स्वप्न देखे। अंतिम स्वप्न में उसकी उस पुरुष से बातचीत हुई। उस पुरुष ने उससे स्वप्न में कहा कि तुम मिस्र देश के सचिव के यहाँ आओ तो मुझसे भेंट होगी। जुलेखा ने यह बात अपनी धाय से कही। उसने उसके पिता सुल्तान से कहा कि उसकी कन्या मिस्र देश के सचिव से ब्याह करना चाहती है। सुल्तान को उस पर बहुत दुःख हुआ। उसने सोचा कि राजाओं को छोड़कर एक सचिव से संबंध करने में मेरी बेइज्जती है; परंतु उसे विवश होकर मानना पड़ा। अंत में विवाह-संबंध ठीक हुआ और बारात आई; पर जब जुलेखा ने दूलह को देखा तो उसे मालूम हुआ कि यह सचिव वह पुरुष नहीं है जिसे मैंने स्वप्न में देखा था। वह बहुत उदास हुई। धाय के कहने पर उसने सारी बात कही। अंत में आकाशवाणी हुई कि तुम मिस्र देश में जाओ, वहीं तुम्हें प्रेमी के दर्शन होंगे। जुलेखा यह सुनकर मिस्र जाने को तय्यार हुई। धाय के साथ वह मिस्र गई। सचिव ने उसके लिये एक महल बनवा दिया पर वह उसमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उदास होकर रहने लगी। पूछने पर उसने सचिव से कहलाया कि उसे यह रोग है। इस प्रकार यूसुफ के विरह में बारहमासा बीतता है।

सौदागर यूसुफ को लेकर मिस्र पहुँचा और उसे बेचने के लिये तय्यार हुआ। यूसुफ की सुंदरता देखकर लोग चकित हो गए और सब उसका बखान करने लगे। मिस्र के सब लोग उसे देखने आने लगे। उसका मूल्य बहुत लगा। मिस्र का राजा उसे न ले सका। जब जुलेखा ने सुना तो वह भी सचिव से आज्ञा लेकर देखने गई। यूसुफ को देखकर उसने पहचाना कि यह वही पुरुष है जिसे मैंने स्वप्न में देखा था। उसने सचिव से यूसुफ को मोल लेने के लिये कहा। यूसुफ खरीद लिया गया और उसे जुलेखा अपने यहाँ आदर के साथ रखने लगी। धीरे धीरे वह इस पर अपना प्रेम प्रकट करने लगी; पर यूसुफ उसके प्रति उदासीन था। अंत में जुलेखा ने उसे बहुत प्रलोभन दिया और एक दिन यूसुफ कामातुर होकर उस पर मोहित हो गया; पर उसे उसी समय अपने पिता याकूब की मूरत दिखाई पड़ी। इस पर यूसुफ सचेत हो गया और पछताने लगा। वह वहाँ से भागा; पर जुलेखा ने उसका कपड़ा पकड़ लिया जो पीछे से फट गया। जब जुलेखा के रोके यूसुफ न रुका तब उसने सचिव से कहा कि यूसुफ मुझ पर कामातुर होकर आक्रमण करना चाहता था। सचिव ने यूसुफ को निर्दोष समझा; क्योंकि उसके कपड़े का पिछला भाग फटा था। उसने जुलेखा की इज्जत बचाने के लिये यूसुफ को कारावास का दंड दिया। जुलेखा अपनी करतूत पर पछताने लगी और उसके दर्शन की चाह करने

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगी। सचिव के अनजान में वह जेलखाने में यूसुफ के आराम की चीजें भेजने लगी; पर यूसुफ कभी उन पर ध्यान न देता था।

एक दिन एक सवार किनआँ नगर से मिस्र को आया। यूसुफ ने जेलखाने की खिड़की से उससे अपने नगर का हाल पूछा; पर उसने कुछ ध्यान न दिया। पर उसके ऊँट ने आगे बढ़ना न चाहा तब उसने यूसुफ से कहा कि मैं व्यापार के लिये यहाँ आया हूँ। यूसुफ ने उससे अपना सँदेसा कहा कि पिता से जाकर कहो कि ईश्वर से विनती करें कि मैं कैद-खाने से छूट जाऊँ। उसने जाकर याकूब से सँदेसा कहा। पिता के पास यूसुफ ने बहुत पत्र भेजे पर एक न पहुँचा।

यूसुफ का जेलखाने जाना मिस्र के सब लोगों ने सुना। स्त्रियाँ चवाव करने लगीं कि जुलेखा ने अपने मतलब से उसे बंदी किया है। जुलेखा ने जब अपने को दोषी ठहराया जाना सुना तब उसने एक दिन सबकी दावत की। बहुत सी नगर की स्त्रियाँ आईं। जुलेखा ने सबको तरबूज और चाकू दे दिया कि काटें। उसी बीच यूसुफ को बुलाया। यूसुफ को देखते ही स्त्रियाँ ऐसी मोहित हुईं कि सबों ने अपना हाथ बेखबरी में काट डाला। यूसुफ के लौट जाने पर सबों को होश हुआ। तब सब यूसुफ की अपूर्व सुंदरता की सराहना करने लगीं। यूसुफ सात साल तक कैदखाने में रहा। यूसुफ भी दुखी था। जुलेखा भी अपनी करतूत पर दुखी थी। यूसुफ को छुड़ाने का उपाय सोचती थी। इसी बीच में मिस्र के सुलतान ने एक स्वप्न देखा। जब उसका फल कोई न बता सका तब किसी ने यूसुफ को बुलवाया। उससे स्वप्न का फल पूछा गया। यूसुफ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने स्वप्न का फल बतलाया कि सात साल तक वर्षा न होगी। इसका यदि उपाय होगा तो प्रजा मरने से बच जायगी। राजा इसका उपाय करने लगा और अन्न एकत्र होने लगा। सुलतान ने यूसुफ के बंदी होने का हाल पूछा। जुलेखा ने साफ साफ बता दिया। इस पर सचिव नाराज हुआ और उसने जुलेखा से कहा कि अब हमारा तुमसे कोई संबंध नहीं है। जुलेखा इस पर प्रसन्न थी कि सुलतान यूसुफ को अपने यहाँ रखेगा और मुझे उनके दर्शन करने को मिलेंगे।

सुलतान ने बड़े आवभगत से यूसुफ को बुला भेजा और उसे अपना मंत्री बनाया। मंत्री होने पर सात साल तक खेती अच्छी हुई। यूसुफ ने अन्न एकत्र कराया। बाद को अकाल पड़ा। अकाल के पाँचवें साल सचिव मर गया। राजा ने यूसुफ का और आदर किया और सारा राजप्रबंध उसी के हाथ में दिया।

उधर उसके किनआँ नगर में भी अकाल था। याकूब ने लड़कों से कहा कि मिस्र जाकर वहाँ से अन्न लाओ और वहाँ यूसुफ का भी पता लगाना। दसों भाई मिस्र पहुँचे। उनके आने का समाचार पाकर यूसुफ ने उन्हें बुलवाया और सबको पहचाना। उनसे सब समाचार पूछा पर अपने को प्रकट नहीं किया। अंत में बहुत सा अन्न दिया और कहा कि अपने छोटे भाई को लाओ तो दूना अन्न मिलेगा। सबों ने आकर पिता से कहा। पिता ने बहुत दुःख से इब्न अमीं को जाने दिया। उसे लेकर सब मिस्र चले। मिस्र पहुँचने पर यूसुफ ने उनको बुला भेजा और सबका आदर किया। सब भोजन करने बैठे। ६ थालियाँ थीं। एक में दो दो खाते थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इब्न अमीं अकेला था। यूसुफ उसके साथ खाने लगा। इब्न अमीं ने यूसुफ को पहचाना। जब सब भाई गेहूँ लेकर चलते हुए तो इब्न अमीं को रोकने के लिये यूसुफ ने उसके गाँठ में बाँट रखवा दिया। खोज करने पर वह चोर ठहरा और रोक लिया गया। कहते हैं कि दसों भाइयों ने इस पर युद्ध करके छोटे भाई को यूसुफ से छीनना चाहा; पर अंत में सब हार गए और बंदी हुए। राजा ने उन्हें मार डालने की आज्ञा दी पर यूसुफ ने उनकी जान बचा ली। नौ भाई घर गए और यहूदा और इब्न अमीं रोक लिए गए। सबों ने पिता से समाचार सुनाया। पिता ने यूसुफ को पत्र लिखा। बाद को सारी बातें प्रकट हुईं। किनआँ के सब लोग मिस्र चले। यूसुफ ने सबका स्वागत किया। पिता पुत्र से तीस वर्ष बाद भेंट हुई। सब लोग आनंद से रहने लगे। मिस्र का राजा वृद्ध हुआ और उसने यूसुफ को सब भार सौंप दिया। यूसुफ सुलतान हो गया।

जुलेखा यूसुफ के लिये तप कर रही थी। वह विरह में वैरागिन बन गई थी। अब उसकी वृद्धावस्था आ पहुँची थी।

एक दिन संयोग से उसका यूसुफ से साक्षात्कार हुआ। यूसुफ ने उसे देखा और उसने यूसुफ को। यूसुफ ने उससे पूछा कि अपना यह कैसा हाल कर रखा है। जुलेखा ने जवाब दिया कि यह सब तुम्हारे ही कारण हुआ है। जुलेखा ने अपने ४० वर्ष के विरह का हाल सुनाया। यूसुफ को उस पर तरस आया और वह चिंतित होकर घर लौटा। जुलेखा ने याकूब की बिनती की और याकूब ने इस पर प्रसन्न होकर उसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर दिया और वह फिर से युवावस्था को प्राप्त हो गई। तब याकूब ने यूसुफ से उसका विवाह कराया। विवाह होने पर यूसुफ उसे बहुत प्यार करने लगा पर जुलेखा निर्गुण के फेर में रहती और नित्य जप-तप-नेम में लीन रहती। इस प्रकार जुलेखा ने यूसुफ को खूब छकाया, जैसा उसने एक बार जुलेखा को छकाया था। अंत में सब सुख से रहने लगे। याकूब की कुछ दिन बाद मृत्यु हो गई। यूसुफ को बहुत दुःख हुआ। उसने पिता का अंतिम संस्कार किया। दस वर्ष राज्य कर वह भी स्वर्गवासी हुआ। जुलेखा भी उसके दुःख में मर गई और दोनों साथ साथ स्वर्ग सिधारे।

काव्य

जुलेखा काव्य में कवि निसार ने अपने पूर्ववर्ती कवियों की भाँति मसनवी काव्य-पद्धति का अनुसरण किया है। इस पद्धति के अनुसार कवि काव्य के आदि में ईश्वर-वंदना करता है और तत्कालीन शासक का तथा अपना परिचय देता है। इसके पश्चात् कथा का विस्तृत निरूपण होता है। कवि निसार के 'जुलेखा' में भी यही बातें हैं।

कवि निसार भी सूफी मत से सहानुभूति रखता था। उससे पूर्व के प्रायः सभी आख्यान-लेखकों ने अपने काव्यों द्वारा सूफी मत के सिद्धांतों का प्रचार किया है। जुलेखा में भी यत्र तत्र ईश्वरोन्मुख प्रेम की ओर कवि पाठकों का ध्यान आकर्षित करता है। एक प्रकार से कथा वस्तु तो इसी प्रकार के प्रेम का उदाहरण समझी जा सकती है। यूसुफ और जुलेखा का प्रेम उच्च कोटि का है। उसमें ऐहिक सुख का उतना आभास नहीं है जितना आध्यात्मिक प्रेम का।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूफी संप्रदाय के कवियों का इशारा सदा अलख या निर्गुण, सर्वव्यापी ईश्वर की ओर रहता है। सांसारिक प्रेम को वे तब तक पक्का नहीं मानते जब तक वह तप और नेम से तपाकर शुद्ध न किया गया हो। इसे लोग विदेशी भाव कहते हैं; पर मेरी धारणा है कि प्रेम की यह परीक्षा भारतीय है। शकुंतला, सीता और दमयंती आदि के चरित से स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय कवि भी प्रेम का गाढ़ापन विरह, संताप और तपस्या में दिखाते थे। हाँ, एक बात में भिन्नता अवश्य थी। विवाह या संयोग होने के पूर्व उन्हें प्रेम के इस गाढ़ेपन तथा उच्च आदर्श को दिखाने का अवसर कम मिलता था। उसका कारण था, हमारे समाज में प्रचलित रीति-रवाज। हिंदू समाज में युवक-युवतियों को इतनी स्वतंत्रता नहीं थी कि कवियों को इस प्रकार उन्हें प्रेम में विह्वल, प्रेमी या प्रेमिका से मिलने के लिये परेशान, दिखाने का अवसर मिल सके। अतः अधिकतर कवि विवाह वा संयोग के बाद उन्हें विरह की आग में तपाकर उनके प्रेम की परख करते थे। पर प्रेम का उच्च आदर्श सम्मुख रखने के वे ही साधन थे जो मसनवी काव्यों में मिलते हैं। अंतर केवल यही था कि मसनवी में संयोग के पूर्व यह होता था किन्तु भारतीय आख्यानों में विवाह के पश्चात्। इस प्रकार के भी उदाहरण भारतीय साहित्य में एक दो मिल सकते हैं—जैसे पार्वती की तपस्या कुमारसंभव में, रुक्मिणी की रुक्मिणी-परिणय में, उषा की उषा-स्वप्न में। मसनवी काव्यों में अधिकतर प्रयत्न 'नायक' की ओर से होता है; पर प्रस्तुत काव्य में वह नायिका की ओर से अधिक हुआ है जो और ऐसे काव्यों से भिन्न है। जुलेखा यूसुफ के लिये सब कुछ करती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवि निसार ने एक प्रचलित कहानी को अपने काव्य की कथा-वस्तु बनाया; अतः उन्हें अपनी मौलिकता का प्रदर्शन करने के लिये अवसर कम मिला है। कथा-विन्यास में वे पराधीन थे। केवल कथा-वर्णन में कुछ काव्य-प्रतिभा दिखा सकते थे; पर जितना अवसर उन्हें मिला है उतने में हमें काव्य-कला का अच्छा स्वरूप देखने को मिलता है। कवि ने जुलेखा का नख-शिख, षट्ऋतु, बारहमासा आदि का अच्छा वर्णन किया है। यहाँ पर विस्तार-पूर्वक उनकी आलोचना असंगत होगी; पर उदाहरण-स्वरूप कुछ अंश उद्धृत कर देना अनुचित न होगा।

नख-शिख

प्रथम कहौं माँग कै रेखा,
सरसती जमुना बिच देखा।
खरग धार वह माँग सोहाए,
सेंदुर तहाँ न रकत लगाए।
औ ता महँ गूँधे गजमोती,
राहु केतु महँ नखत कै जोती।
दुओदस (घन) बादर जस छावा,
मध्य कौंध चमकै दिखरावा।
दामिन अस वह माँग सोहाए,
केस घमंड घटा जस छाए।
जस जमुना कै नदी अपारा,
माँग बाँध तिन्ह सुघर सँवारा।
सेत बंध तस माँग सोहाए,
बिरही नैन पार नहिँ पाए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो न होत वह भाव अनूपा,
डूबत नैन स्वरूप अनूपा।

× × ×

नैन देख मन होय बेहाला,
जासु कटाच्छ हिए महँ साला।
स्याम सेत औ अरुन सोहावा,
बिष अँबिरित मध घोर दिखावा।
जा कहँ लखै वह भा चख राता,
मर मर जिए रहै मद माता।
अंबुज बरन दिरिग अरुनाई,
भान भँवर होय गयो लुभाई।
अंजन जोर सदा मतवारे,
घूमहिँ निसि दिन प्रेम अखारे।
दुइ बोहित दुऔ नैन सँवारा,
लाज समेत बोझ डुवो भारा।
दुऔ अँबिरित कै सुभग कटोरी,
ता महँ सरावा हलाहल घोरी।
लहर कटाच्छ न जाय बखाना,
जिन देखा तिन निस्चय माना।
दुइ खंजन सारद रितु माहीं,
राका ससि नर भिरे लड़ाहीं।

× × ×

निसँक लंक बरनन नहिं जाई,
डीठनि भार कत सकै उठाई।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहै सखिन्ह अचरज कै माहीं,
कोउ कहै है कोउ कह नाहीं।
नार निसंक जहाँ पग धारा,
लचलच जाय बार के भारा।
चलत नार मन संक कराई,
छुमचि लची अनु हिया डेराई।
कनक-तार अस लंक सोहाए,
काँप डीठ रुख रहै डराए।
धन चितेर वह सुधा सँवारा,
सहै नार सब तन के भारा।

× × ×

षड्ऋतु

ऋतु बसंत आए बन फूला,
जोगी जती देख रँग भूला।
पूरन काम कमान चढ़ावा,
बिरही हिए बान अस लावा।
फूलैं फूल सिखीं गुंजारहिं,
लागे आग अनार के डारहिं।
कुसुम केतकी मालति बासा,
भूले भँवर फिरहिं चहुँ पासा।
मैं का करौं कहाँ अब जाऊँ,
मो कहँ नाहिं जगत महँ ठाऊँ।
टेसू फूल तो कीन्ह अजोरा,
लागे आग जरैं चहुँ ओरा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हरे हरे रितुराज बन आवहिं लौहित भए।
आवे कौने काज कंथ न पूँछे बात मोंह।

× × ×

सूख भए बे-चैन ग्रीखम रितु द्रुम बेलि बर।
एक न सूखे नैन नित बरसहिं तरसहिं सखी॥

× × ×

लाग प्रेम कै बान जरै बिरह के आग सों।
केहि बिध तजै परान सरद चाँदनी कै चुनै॥

× × ×

तैसे धन बाउर भई बौरे आँब लतान।
मैं बौरी दौरी फिरौं सुन कोइल कै तान॥

× × ×

बारहमासा

मास भादौं में सुहावन जगत सुख छायो सभै।
रितु फूलत फलत तरुबर गैल सों पूरन भए॥
भुवन सीतल छाँह सुंदर सुख सँजोगिन के रहै।
कवन हरिअर करै पिउ बिन बेल बिरही सें डहै॥

× × ×

लाग असाढ़ सो गाठ जमाए,
घन गरजै दामिन चमकाए।
उमड़ घमंड घन घोर बिराजै,
काम बिसाल नवों खँड बाजै।
कूँधन माँह चलो हँत जीऊ,
केहि के कंठ लगै बिन पीऊ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पँछी पतंग सभै घर साजा,
जगत काम कर बाजन बाजा।
मोर कुटी को छावै पीऊ,
केहि बिधि दया दई मोहँ जीऊ।
दादुर मोर जो करहिं अदोरा,
नार कंत जोहिं तजहिं न कोरा।
बिछुड़े मुए सो दुऔ दुखारी,
बिकल जरा भा सम नर नारी।
कोकिल कूक लूग हिय लावे,
कुकनू सम भभूक रचावै।
कैसे कटै सो यह ऋतु भारी,
बिन पिउ घमँड घोर अँधियारी।
मांस असाढ़ सोहावन बिन पिउ भावे न सेज।
देख घटा औ दामिन काँपे मोर करेज॥
ऋतु असाढ़ घन घेर आयो, लाग चमकै दामिनी।
ऋतु सोहावन देख मन महँ हरख बाढ़ै भामिनी॥
ऋतु घमँड सो मेघ धाए दिवस मैं जस जामिनी।
रैन दिन करुना करैं घर में अकेली कामिनी॥
बीता जात असाढ कंथ भूल सुख में रहै।
बिरहिन यह दिन गाढ पिउ बिन कहु कैसे कटै॥

× × ×

काव्य में तत्कालीन समय की छाप

(१) यह वह समय था जब उत्तरीय भारत में 'राम नाम' का प्रवाह बहता था। नाम-महिमा प्रत्येक हिंदू के घर में थी। तुलसीदासजी ने रामायण रचकर राम नाम की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महिमा सबके कानों तक पहुँचा दी थी। उनकी देखा-देखी मुसलमान कवियों ने भी अपने यहाँ कुछ न कुछ करना चाहा। जुलेखा में कवि निसार एक स्थल पर मोहमद नाम की महिमा लिखता है।

आद जोति जाके रचे तेहिं ते सब कुछ कीन्ह।
मोख मुगत गत पावे जो नाम मोहमद लीन्ह ॥

(२) बिहारी सतसई का प्रचार उस समय खूब था। सतसई के दोहे रसिक लोगों की जबान पर रहते थे। कवि निसार ने सतसई का अच्छा अध्ययन किया था। उसके रचित दोहों में बिहारी के दोहों की झलक हम स्पष्ट देख सकते हैं। जैसे—

लखि यूसुफ के रूप कहँ कबहुँ न नयन अघाहिँ।
ज्यों ज्यों देखहिं नियर ह्वै त्यों त्यों अधिक अकुलाहिँ ॥१॥
नैन ओट होय जात नहिँ करौं सो कवन उपाय।
छिन बिछुड़े बिनु मीन जल डरौं न प्रान नसाय ॥ २ ॥
रूप रंग राउर कछू भयौ अधिक जो आज।
काहू के रँग रँग गए हम से मानहु लाज ॥ ३ ॥
चार फूल औ चार पल चार मिरिग खग चार।
सभै चार जो दीरख चार कहैं लघु चार ॥ ४ ॥
सुनत नार बेकरार ह्वै डारी गल महँ बाँह।
गहौ बाँह चाखो अधर नाह करौ मत नाँह ॥ ५ ॥

(३) अपने युग में प्रचलित काव्य-पद्धति का कवि निसार ने भी अनुसरण किया है। जुलेखा में हमें षट्-ऋतु, अलंकार, नख-शिख, नायिका-भेद आदि मिलते हैं। अन्य आख्यानक कवियों ने अपने काव्य में कामशास्त्र पर भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहीं न कहीं मौका निकालकर कुछ लिखा है पर निसार को ऐसा करने का कदाचित् कहीं अवसर नहीं मिला है; पर एक स्थान पर उसने एक दोहे में इसका उल्लेख कर ही दिया है—

तुम्ह बारी सुलातान कै वह सेवक केहि जोग।
तुम्ह पदमिनि वह तुरी नर दैइय कीन्ह संजोग ॥

(४) प्रायः सभी मुसलमान मसनवी-लेखकों ने अपने काव्य में भोज, संगीत, वाटिका-वर्णन आदि स्थलों पर अपनी जानकारी दिखाने का अधिक प्रयत्न किया है, कवित्व-शक्ति-प्रदर्शन का कम। कवि निसार के जुलेखा में भी वाटिका-वर्णन में पत्तियों और फल-फूलों की खासी सूची आपको मिलेगी, संगीत-वर्णन में राग रागिनियों के नाम मिलेंगे।

भाषा

जुलेखा की भाषा अवधी है। यह रामायण की अवधी से कुछ भिन्न है। इसका संबंध बोलचाल की अवधी से अधिक है। कवि कहीं कहीं दोहों आदि की रचना में व्रजभाषा का प्रभाव नहीं बचा सका है। यत्र-तत्र कुछ विदेशी शब्द भी मिलते हैं; जैसे—गरीब, कमीना, आर्य*।

---

* यह लेख छठी ओरियंटल कान्फरेंस में पढ़ा गया था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१५) संगीत विद्या

[लेखक—बाबू मुरारिप्रसाद, पटना]

संगीत का विषय इतना बृहत् है कि पंडित-प्रवर अहोबल ने संगीत-पारिजात में भगवती सरस्वती के लिये भी कह दिया—

नादाब्धेस्त्वपरं पारं न जानाति सरस्वती।
अद्योपि मज्जनभयात्तुम्बुं वहति वक्षसि॥

कहाँ तो सागर तुल्य यह विषय कहाँ छोटा सा यह निबंध ! मैं तो इस कठिनाई में पड़ा कि क्या कहूँ, क्या छोड़ूँ। इस कठिनाई का सामना पड़ने पर मुझे यह दोहा याद पड़ा—

कागज थोड़ो हित घनो, कैसे लिखों बनाय।
सागर में जल बहुत है, गागर में न समाय॥

अस्तु, जिस धृष्टता-वश मैंने संगीत विद्या पर पुस्तकें लिखना शुरू किया उसी के वश में आकर आज भी मैंने यह साहस किया है।

ऐसा प्रश्न हो सकता है कि यह संगीत निबंध क्या ? संगीत तो गाने बजाने की और सुनने की वस्तु है ! इधर कुछ काल तक संगीत की जो अवस्था रहती आई थी उसके कारण ऐसा प्रश्न उठा देना कोई असाधारण बात न होगी। एक समय वह था जब देवादिदेव शंकरजी, भगवती सरस्वती, महर्षि नारद, भरत और तुंबरु, श्रीगणेशजी और स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण-चंद्र ने संगीत का अभ्यास किया और गाया। ये महानुभाव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाचे; बीन, बाँसुरी, पखावज आदि बाजे चलाए और बजाए। "गांधर्वो पंचमो वेदः" कहा गया। उस समय साहित्य और संगीत का बहुत घनिष्ठ संबंध था।

स्वाभाविकता की ओर ध्यान दीजिए तो भी देखा जाता है कि पद्य-साहित्य को संगीत से जो माधुर्य प्राप्त होता है वह साधारण नहीं है। पद्यों या छंदों के जो दो मुख्य अंग, अर्थात् शब्द और वृत्त हैं, वही दोनों संगीत के भी प्रधान अंग हैं। इसके सिवा गाए जाने से यानी संगीत की सहायता मिलने से छंदों (गीतों) के प्रभाव, उनकी रोचकता, मधुरता और आकर्षण शक्ति बहुत बढ़ जाती है। संगीत पर तो साहित्य का प्रभाव पद पद पर देखा जाता है।

संगीत का प्रधान अंग ध्वनि या स्वर है, दूसरे प्रधान अंगों में शब्द (गीत, बोल) और लय हैं। केवल ध्वन्यात्मक संगीत बाजों में ही होता है। कंठ-संगीत (गान) और उसका सहगमन या अनुकरण करनेवाला वाद्य संगीत-आलाप-को (जिसमें बोल का व्यवहार नहीं होता) छोड़कर, साहित्य ही की नींव पर खड़ा रहता है। जो ध्वनिप्रधान बाजे-यथा बीन, सितार, सारंगी, सहनाई, बाँसुरी आदि-हैं उनमें भी कुछ गत या आलाप के अतिरिक्त बाकी सब कंठ-संगीत अर्थात् गीतों ही का स्वर स्वरूप है।

अधिक ध्यान देकर विचारिए तो पाइएगा कि जैसे जैसे साहित्य की उन्नति होती गई उसी के अनुसार संगीत की भी उन्नति होती आई है। आदि में जो प्रारंभिक (primitive) गान शुरू हुआ वह केवल ध्वन्यात्मक था या शब्दात्मक भी यह कहना कठिन है। किंतु मेरा अनुमान है कि 'सुरों' के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञान होने तक यदि संगीत केवल ध्वन्यात्मक भी रहा हो तो भी शीघ्र ही शब्दात्मक हो गया होगा; अर्थात् शब्द या बोल ध्वनि में कहे जाने लगे होंगे। वेदों के ऋक् का गान आदिम गान है जो शुरू में मात्रिक, अर्थात् लय-विशिष्ट, न था। पीछे आकर जब मात्रिक छंद की सृष्टि वाल्मीकि मुनि ने "मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः" इस वाणी द्वारा की तब छंदात्मक गीत या श्लोक बनने और गाए जाने लगे। इस गान का नाम भी 'छंद' पड़ा और इसी गान से लय या ताल आरंभ हुए और जितने प्रकार के छंद बनते गए उतने प्रकार के लय और ताल कायम होते गए। मैंने अपनी "हिंदुस्तानी संगीत प्रवेशिका" के दूसरे भाग में बताया है कि इस समय जितने लय या ताल व्यवहृत होते हैं वे सब (और उनसे अधिक भी) संस्कृत के छंदों ही से निकले हैं। वहीं मैंने तिताला, धीमा तिताला, जल्द तिताला (या सितारखानी) दादरा, तेवरा, चाचर, मत्तताल, झंपा (झपताल), शूल (सुरफाखता), एकताला, चौताला, धमार, झूमरा को संस्कृत छंदों से मिलाकर उनके सूत्र भी दिए हैं। अस्तु, क्रमशः प्रबंध (यथा गीतगोविंद), भजन, धुरपद, होरी, ख्याल, टप्पा, ठुमरी, दादरा आदिक गीत बने, जो सभी पद्य या छंदमय हैं और यही गाए जाने लगे। इस समय तक 'गत' और 'आलाप' को छोड़कर शेष सब गान इन गीतों ही का गाना है।

जिस समय तक विद्वानों और प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने इस विद्या का अध्ययन और अभ्यास किया तब तक इसके साहित्यिक और गानात्मक दोनों ही अंग क्रमशः साथ साथ उन्नति करते गए। नाट्यशास्त्र से लेकर संगीत-रत्नाकर या उसके कुछ बाद तक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के ग्रंथ उसी उन्नत युग के रचे हुए हैं। पीछे आकर मुसलमानी जमाने में, मुसलमान संगीतज्ञों के संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ और प्राय: अनपढ़ रहने के कारण, संगीत और साहित्य का वह उपयोगी संबंध छूट गया, जिसके कारण संगीत का साहित्यांग दिनों दिन कुंठित होता गया और ऐसे ऊटपटाँग गीत बनने लगे जिनमें साहित्य की छाया तक न रही—यहाँ तक कि बहुतों की भाषा सर्वथा अशुद्ध और प्राय: अर्थहीन है।

अब कदाचित् बाबा विश्वनाथ की नींद खुली है—देश में जागृति फैली है, और अन्यान्य भारतीय विद्याओं और कलाओं के साथ साथ संगीत की ओर भी शिक्षित और उद्बुद्ध जनता की दृष्टि आकृष्ट हुई है। अब आशा होती है कि साहित्य और संगीत के वियोग के दिन बीत चले और बहुत शीघ्र दोनों का पुनर्मिलन होगा।

संगीत को लोग प्राय: कला (art) कहा करते हैं। मेरे विचार में तो संगीत को विद्या या विज्ञान कहना चाहिए। यद्यपि, स्वरात्मक संगीत—यानी संगीत विद्या का वह भाग जो कंठ-गान और स्वर-वाद्य (सुर के बाजों) के स्वरों के भेद, उपभेद और उनकी समूह-समष्टियों के विषय में शिक्षा देता है—किसी अंश में नाद-विज्ञान (Science of Sounds, Accoustics) का एक अंश कहा जा सकता है, और है भी; तथापि संगीत में नाद-ज्ञान की सहायता बहुत कम, यानी स्वर, श्रुति, स्वरस्थान, वादी, संवादी, अनुवादी, विवादी, सप्तक स्वर-समष्टि (Chords) और कुछ कुछ अल्प अन्य अंशों में ही ली जाती है। यद्यपि ये विषय बृहत् हैं तथापि संगीत के अंश मात्र हैं और नाद-विज्ञान की सहायता लेने पर भी यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सब विषय स्वयं स्वतंत्र हैं। संगीत विद्या भी स्वयं बहुत विस्तृत है। इस कारण मेरी राय में संगीत को कला न कहकर संगीत-विज्ञान कहना ही उचित होगा।

भारतवर्ष में संगीत के अंतर्गत गाना, बजाना, नाचना और भाव बतलाना, ये चारों लिए जाते हैं—"गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते", "केचिल्लास्यं चतुर्थकं"। अँगरेजी भाषा में संगीत शब्द का अनुवाद करने में प्रायः म्यूजिक शब्द का व्यवहार होता है; किंतु यूरोपीय देशों में म्यूजिक शब्द प्रायः कंठ-संगीत (vocal music) या वाद्य-संगीत (instrumental music) के लिये ही व्यवहृत होता है। नृत्य, ताल, वाद्य और लास्य (gesticulation) का अर्थ म्यूजिक शब्द से नहीं निकलता।

भारतवर्ष प्रायः सब प्राचीन विद्याओं और कलाओं में अन्य देशों का गुरु और पथ-प्रदर्शक रहा है। भारतीय संगीत भी अन्य देशों के संगीत की अपेक्षा बहुत प्राचीन है। यहाँ पर संगीत शब्द से तात्पर्य्य नियमबद्ध संगीत या संगीत-विद्या से है।

भारतीय संगीत की प्राचीनता

गवाँरों के गीत और कोल, भील, किरात आदि जंगली लोगों का संगीत तो सब देशों और जातियों में अति प्राचीन समय से चला आता है।

इस देश में संगीत का व्यवहार उस समय से चला आता है जिस समय वेद-मंत्रों का सस्वर पाठ शुरू हुआ। हिंदुओं के मत से तो यह अनादि काल माना जाता है। किंतु पुरातत्त्वान्वेषियों ने भी यह काल आज से ५-६ हजार वर्ष,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

या उससे भी अधिक, पूर्व निर्धारित किया है, यद्यपि कुछ यूरोपीय विद्वान् ३००० वर्ष पूर्व से अधिक नहीं मानते।

प्राय: यह प्रश्न किया जाता है कि पहले गीत या वाद्य? मेरे जानते यह प्रश्न उठना ही नहीं चाहिए। चाहे गाना लीजिए या बजाना लीजिए, दोनों ही की नींव ध्वनि या नाद है। ध्वनि मनुष्य-कंठ से भी निकलती है और बाजों से भी। कंठ-ध्वनि स्वयं बिना किसी अन्य सामग्री के निकलती है और बाजों से ध्वनि निकलने के लिये पहले बाजों का बनना जरूरी है। प्रत्येक ध्वनि संगीत-ध्वनि या संगीत-स्वर नहीं होती। संगीत का स्वर होने के लिये नाद-ध्वनि में लै (स्थिर अनु-रणन) बँधने की आवश्यकता है यानी ध्वनि जिस ऊँचाई (pitch) पर निकले वहाँ पर कुछ देर तक स्थिर रहे, उससे ऊँची न चढ़े और नीचे न खसके। यही लै बँधी ध्वनि संगीत का स्वर होगी और जिस दिन मनुष्य-कंठ से या और किसी उपाय से यह लै-बँधी ध्वनि निकली उसी दिन से संगीत के स्वर का ज्ञान प्रारंभ हुआ।

अब यह प्रश्न उठता है कि इस लै वाली ध्वनि का ज्ञान कब और कैसे शुरू हुआ। इस प्रश्न को तो बाज लोग बहुत आसानी से यह कहकर हल कर देते हैं कि संगीत-विद्या महादेवजी ने बना दी और उनके डमरु से स्वर और लय निकले। इसको मान लेने पर भी, पहले डमरु हुआ होगा तब उसका शब्द हुआ। संसार की जितनी विद्याएँ, विज्ञान और कलाएँ हैं सभी थोड़े से प्रारंभ होकर क्रमश: उन्नति करते गए। संगीत की और भारतीय संगीत की भी, यही अवस्था रही और चली आई है। अन्वेषण करके पता लग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सके तो लगाना होगा कि कब से संगीत, प्रारंभ हुआ और कैसे वह उन्नति करता गया। अन्वेषण के परिश्रम से जान छिपाकर, महादेवजी, सरस्वतीजी आदि की दुहाई देने से काम न चलेगा।

संगीत मन को प्रसन्न करता है, हृदय को शांति पहुँचाता है, मस्तिष्क को स्फूर्त करता है और धार्मिक दृष्टि से पुनीत विज्ञान माना जाता है; क्योंकि यह मन को एकाग्र करता है और ईश्वर-वंदना का महान् सहायक है।

ऐसी विद्या के लिये थोड़ा अन्वेषण-परिश्रम स्वीकार करना होगा।

ऊपर कहा गया है कि लै-युक्त ध्वनि ही संगीत का स्वर होगा। मनुष्य जब किसी को पुकारता है तो पुकार की आवाज कुछ देर तक एक ऊँचाई पर कायम हो जाती है। गाय, बैल, घोड़े, हाथी, कोकिल, मयूर, पपीहा आदिक जब बोलते हैं तो इनकी आवाज भी कुछ देर तक एक ऊँचाई पर कायम हो जाती है और उन आवाजों में लै पैदा हो जाता है। बाँस के पेड़ के ऊपरवाले पोर का मुँह खुला रहे तो उसके ऊपर होकर जोर से हवा चलने से उसमें भी एक स्थिर ध्वनि होती है। सूखे बाँस के पोर में भौंरे जो छेद कर देते हैं, उन छेदों के ऊपर होकर हवा जोर से चलने से और बरसात आदि में तेज हवा के ही देर तक चलने से लै-युक्त ध्वनि पैदा होती है। धनुष (bow) के टंकार से तो एक पूरा स्वर देर तक बँध जाता है और जैसा छोटा या बड़ा धनुष हुआ, और तदनुसार, छोटा पतला, या मोटा

स्वरों का प्रथम ज्ञान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लंबा, उसका रोदा हुआ वैसा ही स्वर भी कायम होता है। छोटे पतले रोदे से ऊँचे और पतले (shrill) स्वर और मोटे लंबे रोदे से नीचे और गंभीर स्वर पैदा होते हैं। इतने सामान (materials) हर देश में हर जगह हर समय सामने थे। इन्हीं सामानों से स्वर का और उसकी ऊँचाई निचाई का ज्ञान हुआ होगा; किंतु जो आजकल सात या बारह सुरों की परस्पर (mutual) ऊँचाई (pitch) या स्वरांतर (tonal interval or relative pitch) कायम हैं यह पीछे आकर निश्चित हुए। भारतीय विद्वानों ने तो यहाँ तक कहा है कि सात पशुओं और चिड़ियों की आवाजों से सात स्वर लिए गए—

"षड्जं मयूरो वदति गावः ऋषभभाषिणः।
अजाः वदन्ति गांधारं क्रौंचः कूजति मध्यमम् ॥१॥
पुष्पसाधारणे काले पिकः कूजति पञ्चमं
धैवतं हेषते वाजी निषादं ब्रुवते गजाः ॥ २ ॥"

स्वर का ज्ञान होने पर और ऊँचाई निचाई का पता लगने पर सबसे पहले संगीत के सात स्वर क्रमशः निश्चित हुए। यह कब हुआ इसको ठीक ठीक कहना मुश्किल है। इतना पाया जाता है कि भारतवर्ष में सामवेद की रचना के समय में दो निश्चित स्थानों का ज्ञान हो गया था और ऋक्प्रातिशाख्य और तैत्तिरीय प्रातिशाख्य की रचना के पूर्व से क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मंद्र, अति स्वारीय, नाम के सात स्वर वैदिक गान में व्यवहृत होते थे और इनकी चाल ऊपर से नीचे की ओर थी।

यदि क्रुष्ट इस समय का पंचम (प) स्वर माना जाय तो भारतीय सप्तक की पुरानी चाल "प म ग रे स नि ध (प)"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थी। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में आधुनिक षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद नाम हैं और सप्तक की चाल नीचे से ऊपर की तरफ यानी 'स र ग म प ध न' है। यह समय आज से करीब ढाई तीन हजार वर्ष पहले का है। कोई कोई यूरोपीय विद्वान् नाट्यशास्त्र को ईसा के जन्म के पीछे का मानते हैं; किंतु कई भारतीय विद्वान् इसको ३००० वर्ष का कहते हैं।

आदिम गान "सामगान" था और सामगान प्रारंभ में 'उदात्त' और 'अनुदात्त' इन दो स्थानों में होता था। 'उदात्त' ऊँचा, 'अनुदात्त' नीचा था—"उच्चैरुदात्तः नीचैरनुदात्तः।" गाना उदात्त से शुरू होता था और अनुदात्त पर उतरकर फिर उदात्त पर जाता था। गाते समय इन दोनों स्थानों के बीच में जो आवाज को समेट या घसीट लेते थे उसको 'स्वरित' कहते थे—"समाहारः स्वरितः।" इसका तात्पर्य्य यह है कि उदात्त अनुदात्त के बीच में यद्यपि और भी ध्वनि थी; किन्तु कोई निश्चित स्थान नहीं माना जाता था। उदात्त को आजकल के मध्य सप्तक का **शुद्ध मध्यम** (कोमल 'म') और अनुदात्त को **षड्ज** (स) माना जा सकता है। कुछ लोग उदात्त को 'ग' पर और अनुदात्त को 'स' पर कहते हैं।

स्वरमंडल का विकास

यह उदात्तानुदात्त अथवा 'ग-स' या 'म-स' का स्वरांतर (compass, interval) आदिम गान के लिये बहुत स्वाभाविक है। जो कोई पहले पहल गाना आरंभ करेगा उसकी आवाज तीन या चार स्वर के दायरे (compass) से; यथा 'ग–स', 'म–स' से बाहर सहज में नहीं जायगी। छोटे बच्चे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खेलते समय आप से आप प्रायः तीन ही सुर में गाते हैं। जंगली और देहाती मनुष्य, जिनको नागरिक संगीत-पद्धति की शिक्षा नहीं मिली और जिनका उससे संपर्क नहीं हुआ, अपने पुराने गीत तीन या चार स्वरों में गाते हैं। जब किसी को पहले पहल गाना सीखना होता है तो उसको 'स—ग' या 'स–म' तक गाने में आवाज पर अधिक जोर नहीं लगाना पड़ता। इससे भी यह बात निकलती है कि आदि में सामगान भी 'म–स' के अंतर का था। हो सकता है कि 'ग–स' के अंतर का आरंभ हुआ हो और पीछे आवाज फैलने पर 'म–सं' के स्वरांतर का हुआ हो; 'म' की ऊँचाई पर उदात्त हुआ और 'स' की ऊँचाई पर अनुदात्त रहा। 'म' और 'स' स्वरों की आवाजों में मेल खाता है और इनमें ऐसा कोई स्वाभाविक (natural) संबंध है कि यदि किसी बीन या सितार के दो तारों को क्रमशः 'स' और 'म' स्वरों में मिलाकर एक तार को छेड़ें या बजावें (pluck, sound) तो दूसरा तार भी स्वयं गूँजने (resound) और भनकने (vibrate) लगता है। संगीतज्ञों ने इस संबंध को संवादित्व (consonance, concordance वा concord) नाम दिया है। मालूम होता है कि यही मेल पाकर शुरू में उदात्त अनुदात्त, आधुनिक 'म' और 'स' स्वरों की पारस्परिक ऊँचाई पर क़ायम किए गए। यदि उदात्त को 'ग' माना जाय तो भी मेरी गणना में कोई बाधा न पड़ेगी।

पीछे आकर जैसे जैसे आवाज ऊपर नीचे फैलती गई, इसी संवादित्व के सहारे अन्य स्वरों की जगहें कायम होती गईं। उदात्त के ऊपर आवाज क्रमशः उठती हुई जब एक ऐसी ऊँचाई पर पहुँची जहाँ आकर अनुदात्त की आवाज से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिलने लगी तो इस स्थान का नाम कृष्ट (खिंचा हुआ stretched) रखा जो पीछे आकर पंचम 'प' हुआ। 'स' और 'प' की आवाजों में 'स, म' के मेल से भी अधिक मेल है। ये दोनों स्वर परस्पर पूर्ण संवादी (full concordant) कहे जाते हैं। और 'स, म' न्यून संवादी (minor concordant) कहाते हैं। दो तार स, प में मिलाकर एक को छेड़ें तो दूसरा भी गूँजता और झनकता है और यह आँस 'स, म' से अधिक है।

ऊपर की ओर आवाज फैलने से जैसे 'कृष्ट' कायम हुआ उसी तौर पर नीचे की ओर फैलने से आवाज़ खिसकती हुई एक जगह पहुँची जहाँ पर आकर उदात्त से मिलने लगी। यह दोनों भी परस्पर पाँचवें और पूर्ण संवादी हैं। इस स्थान का नाम 'मंद्र' (नीचा low) रखा गया। पीछे आकर यही निषाद हुआ। अभी तक स्वरों के नाम देने में केवल ऊँचे नीचे स्थान ही का भाव था। उदात्त, कृष्ट ऊँचे और अनुदात्त, मंद्र नीचे स्थान कहे गए।

इतनी दूर पहुँचने पर चार प्रकार के स्वरांतरों (tonal intervals) के चार स्थान नियत हो गए अर्थात् (१) मंद्र अनुदात्त का छोटा स्वरांतर, (२) अनुदात्त-उदात्त का बृहत स्वरांतर जो इस समय के हिसाब से चार स्वरों का होता है, (३) उदात्त-कृष्ट का छोटा स्वरांतर, (४) मंद्र-उदात्त का बृहत्तर स्वरांतर जो इस समय के हिसाब से पाँच स्वरों का होता है, (५) अनुदात्त-कृष्ट का वैसा ही पाँच स्वरों का अंतर और (६) मंद्र-कृष्ट का बृहत्तर यानी ६ स्वर का अंतर। इतने प्रकार के बड़े और छोटे स्वरांतरों को देखकर और 'मंद्र' से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'कृष्ट' तक लंबे अंतर के भीतर दो छोटे स्वरांतर देखकर उस समय के सूक्ष्म तत्त्वान्वेषी लोगों ने सोचा होगा कि अनुदात्त और उदात्त के लंबे अंतर में भी छोटे स्वरांतर के स्थान निकलेंगे। उन लोगों ने किस उपाय से उदात्त-अनुदात्त के बीच में स्थान नियत किया, इसका कोई ब्योरा आज नहीं मिलता; किंतु मेरे जानते नीचे लिखी रीति पर हुआ हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

उदात्त से अनुदात्त तक, यानी आजकल के चार स्वरों तक, उतार-चढ़ाव का अभ्यास उनको सबसे पहले ही हुआ; उसके पीछे मंद्र और कृष्ट दो स्थान निकले। अब अगर मंद्र से ऊपर 'उदात्त-अनुदात्त' के नाप (अंतर) की अर्थात् चार स्वर की तान खिंची तो वह 'उदात्त' से नीचे एक स्थान पर समाप्त होगी जो स्थान मंद्र का 'न्यून संवादी' होगा। यह स्थान शुद्ध गांधार का हुआ। उसी रीति पर कृष्ट से नीचे की ओर उदात्त-अनुदात्त के नाप (स्वरांतर) की तान खिंची तो यह अनुदात्त से कुछ ऊपर एक स्थान पर समाप्त होगी जो कृष्ट का न्यून संवादी है। यह स्थान शुद्ध ऋषभ का है। इतने स्थानों के स्थिर हो जाने पर ऊँचाई-निचाई-बोधक नाम देने की परिपाटी बदली और कृष्ट और मंद्र को ज्यों का त्यों छोड़कर बाकी दोनों के नाम बदल दिए गए और दो नए स्थानों के नए नाम दिए गए। उदात्त का, जो पूर्व समय का प्रथम स्थान था, 'प्रथम' नाम पड़ा। उसके नीचेवाले नए (यानी गांधार के) स्थान को द्वितीय कहा, उसके नीचेवाले नए (यानी ऋषभ के) स्थान को तृतीय कहा और अनुदात्त यानी षड्ज (स) के स्थान को चतुर्थ कहा और ऊपर से नीचे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तक क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और मंद्र ये ६ नाम कायम हुए जो पीछे आकर पंचम, मध्यम, गांधार, ऋषभ, षड्ज और निषाद कहलाए। आपटे ने अपनी संस्कृत-अँगरेजी डिक्शनरी में 'षड्ज' स्वर को भारतीय संगीत का **चतुर्थ स्वर** कहा है। ब्रह्म देवता, तैत्तिरीय प्रातिशाख्यादि से भी चतुर्थ 'स' होता है।

अब चाहे क्रुष्ट से ऊपर जाइए या मंद्र से नीचे आइए; दोनों तरफ जो सातवाँ स्वर-स्थान मिलता है वह शुद्ध 'धैवत' का स्थान है। इसका पहले क्या नाम पड़ा इसका पता नहीं चलता; किंतु मंद्र से नीचेवाले धैवत से नीचे आकर मंद्र सप्तक का 'प' स्वर मिलता है जो 'क्रुष्ट' का नीचे की ओर आठवाँ (octave) पड़ता है; और क्रुष्ट से ऊपरवाले धैवत के ऊपर पहुँचने पर मध्य सप्तक के निषाद स्वर का स्थान मिलता है, जो मंद्र का ऊपर की ओर आठवाँ है। परस्पर आठवें (octaves) एक ही स्वर के रूपांतर हैं, फर्क इतना ही है कि ऊपरवाला (higher octave) नीचेवाले आठवें (lower octave) से उँचाई में दूना पड़ता है। आठवें पर पहुँचकर यह देखा गया कि सात स्वरों की ध्वनियों में जो क्रमशः फर्क पड़ता गया वह इसी सातवें तक था और आठवें से ऊपर और नीचे की ओर चढ़ने उतरने पर पहलेवाले ही सात स्थान फिर से मिलते हैं, भिन्नता इतनी ही है कि ऊपरवाले स्वर अपने नामवाले नीचे के अष्टम स्वरों (eigth) से उँचाई (pitch) में दूने हैं। मालूम होता है कि यही आठवाँ देखकर इस सातवें का नाम 'अतिस्वारीय' पड़ा, जिसका अर्थ यह है कि इस स्वर पर आकर स्वरता का अंत (अति) हो गया; दो. एक जगह 'अंत्य' नाम भी पाया जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह सात स्थान और उनके नाम कितने दिनों में निश्चित हुए यह कहना मुश्किल है। 'ऋक्प्रातिशाख्य' आदि में कृष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मंद्र, अतिस्वारीय ये ही नाम हैं; इस समयवाले षड्ज, ऋषभ आदि नाम नहीं हैं। जिस क्रम से नाम दिए हुए हैं उससे मालूम होता है कि सप्तक की चाल ऊपर से नीचे को थी। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में षड्जादि नाम हैं। उन नामों का क्रम देखने से मालूम होता है कि सप्तक की चाल इस समय के ऐसी नीचे से ऊपर की तरफ हो गई थी। 'पंचतंत्र' में गर्दभ और शृगाल का जो उपाख्यान है उसमें गर्दभ ने कुपित होकर कहा है कि मैं सात स्वर, तीन ग्राम, इक्कीस मूर्छना, उनचास तान, तीन स्थान, इत्यादि में गा सकता हूँ। यह ग्रंथ भरत मुनि के नाट्यशास्त्र के पीछे का कहा जाता है। संगीत का ग्रंथ न होने से इसमें स्वर, ग्राम आदि के नाम नहीं हैं। शूद्रक के मृच्छकटिक (नाटक-ग्रंथ) में सात तारों की वीणा का जिक्र है। कृष्टादि नाम बदलकर षड्जादि नाम कब पड़े, इसका पता नहीं मिला; किंतु इतना मानना होगा कि भरत मुनि के नाट्यशास्त्र के बनने से पूर्व से ये नाम चले आते रहे होंगे।

संवादित्व स्वरों के मेल को कहते हैं। दो तारों को दो स्वरों में मिलावें तो देखेंगे कि 'स, स' में मिले तारों अर्थात् 'जोड़ी' या तुल्यवादी (equal) स्वरों में सबसे अधिक मेल है। उससे नीचे दर्जे का मेल 'स—स' अर्थात् समान-वादी (octaves आठवें) में, उससे नीचे दर्जे का 'स—प', पूर्णसंवादी (fifth पाँचवें) में, उससे नीचे दर्जे का 'स—म' न्यून संवादी (fourths चौथे) में और उससे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी नीचे दर्जे का 'स—ग' अनुवादी (major thirds तीसरे) में है।

सात स्वरों की जगहें स्वाभाविक हैं और पारस्परिक संवादित्व (mutual concordance, harmony) के अनुसार हैं। 'स' स्वर इस समय सबसे नीचा स्वर माना जाता है। 'सं' से ऊपर आवाज उठते ही तत्त्तण ऋषभ स्वर नहीं आ जायगा। जब आवाज बढ़कर एक खास और निश्चित जगह पर आकर बोलेगी तब ऋषभ स्वर होगा। यूरोपीय शब्द-विज्ञान ने इन जगहों की वैज्ञानिक यंत्र द्वारा नाप की है। भारतवर्ष में इन सात स्वरों के स्थान का पता गुरु की शिक्षा से लगता है और वीणा और सितार के पर्दों पर।

यहाँ तक जो वर्णन हुआ वह शुद्ध स्वरों का है। पीछे आकर ग्राम कायम हुए। तत्पश्चात् इन सात स्वरों की इन ग्रामों में मूर्छना होने लगी। मूर्छनाओं से रागों का, बल्कि ठाटों का, ज्ञान हुआ और विकृत स्वर और श्रुतियों के स्थान कायम हुए। इन सबका सविस्तर वर्णन करना इस लेख की सीमा से बाहर है। जिन सज्जनों की इच्छा हो वह मेरी 'हिंदुस्तानी संगीत-प्रवेशिका' के दूसरे भाग में देखें।

ऊपर सात तथा आठ स्वरों का वर्णन कर चुका हूँ। इस समय सात स्वरों (स र ग म प ध नी) के क्रमिक समूह को भारतीय संगीत में सप्तक कहते हैं।

सप्तक

यूरोपीय संगीत में आठ स्वरों 'स—सं' या 'म—मं' 'प—पं' आदि का समूह लेते हैं और उसको अष्टक (octave) कहते हैं। भारतवर्ष में सप्तक के तीन दर्जे रखते हैं। सबसे नीचेवाले को 'मंद्र सप्तक', उसके ऊपर-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाले को मध्य और उससे ऊपरवाले को तार सप्तक कहते हैं। कुछ लोग मुदार, उदार और तार; कोई निचला, विचला, आखिरी; और कोई पहला, दूसरा, तीसरा सप्तक कहते हैं। यूरोपीय बाजा पियानो में सात सप्तक रखे जाते हैं जिनको हिंदुस्तानी भाषा में मंद्रतम, मंद्रतर, मंद्र, मध्य, तार, तारतर तारतम कहेंगे।

पूर्व-काल में सप्तक नाम न रखकर सात स्वरों ही के तीन स्थान मानते थे; यथा संगीतरत्नाकर—

> व्यवहारे त्वसौ त्रेधा हृदि मंद्रोऽभिधीयते।
> कण्ठे मध्यो मूर्ध्नि तारो द्विगुणश्चोत्तरोत्तरः।

इस समय यूरोपीय शब्द-विज्ञान-शास्त्र ने स्वरों को उनमें प्रति सेकेंड होनेवाली कंपन-मात्रा (number of vibrations per second) द्वारा नापकर दिखाया है कि ऊपरवाला सप्तक अपने नीचेवाले से ऊँचाई (pitch) में दूना होता है। यथा मध्य सप्तक के स र ग म प ध नी क्रमशः २४०, २७०, ३००, ३२०, ३६०, ४०५, ४५० प्रति सेकेंड कंपन के हैं। और तार सप्तक के ये ही स्वर ४८०, ५४०, ६००, ६४०, ७२०, ८१०, ९०० कंपनों के हैं। भारतवर्ष में कंपन-मात्राओं का हिसाब और यूरोपीय वैज्ञानिक यंत्र न रहने पर भी इस दुगुनी और आधी ऊँचाई को लोग पक्के तौर पर जानते थे।

किसी सितार या बीना पर स्वरों के पर्दों को देखें तो मालूम होगा कि यह आपस में सटे हुए नहीं हैं, अलग अलग और भिन्न भिन्न दूरी (फासला, distance) पर हैं। यदि और पर्दों को हटाकर केवल सात शुद्ध स्वरों को, जो आजकल के स, रे (चढ़ा), ग (चढ़ा),

श्रुति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

म (कोमल), प, ध (चढ़ा), नी (चढ़ा) हैं, रख छोड़ें तो देखेंगे कि 'स-र' 'म-प' 'प-ध' के पर्दों (feet) के बीच में जो जगह खाली है उसमें दो तीन जगह तार पर उँगली रखकर छोड़ें तो वहाँ वहाँ भी सुरीली ध्वनियाँ होती हैं। इन्हीं अंतःस्थानों की ध्वनियों को श्रुति कहते थे और 'स' से 'नी' तक संगीत-रत्नाकर के समय तक ऐसी २२ श्रुतियाँ मानी जाती थीं। ('संगीतपारिजात' में श्रुतियाँ २९ बताई गई हैं।) सात शुद्ध स्वर भी इन्हीं २२ में से सात पर लिए जाते थे। श्रुतियों को स्पर्श मात्र ही ठहराते थे और स्वरों का ठहराव (duration) अधिक होता था। पूर्व काल में श्रुतियाँ स्वरों पर और उनसे नीचे की तरफ ली जाती थीं और उन्हीं स्वरों की श्रुतियाँ कहाती थीं। 'स, म, प' ऐसी ऐसी चार चार श्रुतियों के (अर्थात् अंतिम श्रुतियों पर थे तीनों स्वर और उसके नीचे तीन तीन और श्रुतियाँ) रे, ध तीन तीन के और 'ग, नी' दो दो श्रुतियों के लिए जाते थे। पीछे आकर पाँच विकृत स्वर र, ग, म, ध, न नाम के कायम हुए और इस भाँति पाँच और श्रुतियाँ स्वरों में शामिल हो गई (उत्तर भारत में 'स' और 'प' को शुद्ध या अचल मानते हैं; किंतु दक्षिणवाले 'प' को अचल नहीं मानते)। इसके पीछे तीव्रतर, तीव्रतम, अति कोमल, सहकारी आदि स्वर कायम किए गए और जितनी बाकी श्रुतियाँ थीं वे सब भी स्वरों में शामिल हो गईं और २२ से भी अधिक स्वर-स्थान कायम हो गए। श्रुतियों को अँगरेजी में प्रायः (quarter tone) कहते हैं।

ग्राम को 'स्वर-समूह' कहा गया है। स्वर-समूह से तात्पर्य सात शुद्ध स्वरों का क्रमान्वित समूह था—यथा 'स र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग म प ध न' या 'न ध प म ग र स'। इस शुद्ध समूह को षड्ज ग्राम कहते थे। दूसरा शुद्ध समूह 'म प ध न स र ग' या 'ग र स न ध प म' लिया जाता था।

ग्राम

इसको मध्यम ग्राम कहते थे। मेरे जानते ग्राम का व्यवहार गाने के दो स्थान कायम करने से शुरू हुआ; अर्थात् जब 'स' पर आस देनेवाला सुर (drone) कायम करके उसको प्रथम स्वर मानकर वहाँ से गाएँ तो स र ग म प ध न (स) यह चाल हुई। यदि किसी की आवाज ऊँची रही और 'स' पर सुर कायम करके गाने में अच्छा न मालूम हुआ तो ऊँचा चढ़कर 'म' पर प्रथम सुर कायम करके अर्थात् 'म' को 'स' मानकर वहाँ से गाना शुरू किया तो 'स र ग म प ध न स' वहीं से चला और यह मध्यम ग्राम हुआ। याद रखना होगा कि जिस समय ग्राम कायम हुए उस समय विकृत स्वर न थे। भरत मुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में ये ही दो ग्राम दिए हैं। मध्यम को 'स' मानकर गाने से अर्थात् मध्यम ग्राम को षड्ज ग्राम पर बैठाने (super imposing) से अर्थात् किसी बीन या सितार पर 'स र ग म प ध न' इन सात शुद्ध स्वरों के साथ पर्दे बाँधकर और 'म' को 'स' मानकर 'स र ग म प ध न स' तान खींचने से (यथा—

० ० ० म ० ० ० प ० ० ध ० न ० ० ० सं ० ० रं ० गं ० ० ० मं

स ० ० र ० ग ० ० ० म ० ० ० प ० ० ध ० न ० ० ० सं)

नीचेवाला 'र' ऊपरवाले 'म' 'प' के पर्दों के बीच में खाली जगह पर 'प' से एक श्रुति नीचे पड़ा और उसी तौर पर नीचेवाला 'ग' ऊपरवाले 'प' 'ध' के पर्दों के बीच 'प' से एक श्रुति ऊपर खाली जगह पर पड़ा। ऊपर में नीचेवाले 'र' 'ग' की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जगह दो नए पर्दे लगा देने से उन पर विकृत पंचम और विकृत धैवत ये दो स्वर अधिक निकल आए। यहाँ पर स्वरों के बीच में जो बिंदु हैं वह उनकी श्रुतियों को बताते हैं *।

'संगीत-रत्नाकर' में एक तीसरा ग्राम 'गांधार' नाम का दिया हुआ है और कहा है कि यह 'गांधार' ग्राम स्वर्गलोक में पाया जाता है। मृच्छकटिक और पंचतंत्र आदिक में तीन ग्राम का जिक्र है और गर्दभ ने तो तीन ग्राम और इक्कीस मूर्छना प्रति ग्राम में सात तक गाने का दावा किया था। इससे विदित होता है कि नाट्यशास्त्र के पीछे आकर तीन ग्राम गाए या माने जाने लगे। तीसरा ग्राम 'गांधार' ग्राम था; किंतु संगीत-रत्नाकर के समय में गांधार ग्राम छोड़ दिया गया था। गांधार ग्राम को षड्ज ग्राम पर बैठाने से तथा नए पर्दे लगाने से कई और विकृत स्वरों के स्थान निकले।

---

*इसी बात को संगीत-रत्नाकर दूसरे तौर से लिखता है—"षड्ज-ग्रामः पंचमे एव चतुर्थ श्रुतिसंस्थिते। स्वोपान्त्य श्रुतिसंस्थे तु मध्यम ग्रामः उच्यते॥" षड्ज ग्राम में पंचम अपनी चौथी श्रुति पर रहता है, अर्थात् सातों शुद्ध स्वर अपनी अपनी आखिरी अर्थात् सबसे ऊँची श्रुतियों पर रहते हैं। यदि पंचम स्वर अपनी अंतिम श्रुति से एक श्रुति नीचे अर्थात् तीन श्रुतियों का कर दिया जाय तो यह मध्यम ग्राम होगा। इसका तात्पर्य यह है कि षड्ज ग्राम की सुंदरियों (पर्दों) के बीच में नया परदा न बाँधकर पंचमवाले पर्दे को एक श्रुति उतार दिया। ऐसा करने से धैवत चार श्रुतियों का हो जायगा, जिसके विषय में रत्नाकर कुछ नहीं कहता। यदि पंचम के ऐसा धैवत भी उतारकर नई जगह पर कर दिया जाय तो यह दो ही श्रुति का हो जायगा और निषाद चार श्रुतियों का हो जायगा। संगीत-रत्नाकर के लेखक ने इन बातों का विचार क्यों नहीं किया और उन पर कोई प्रकाश क्यों नहीं डाला, यह समझ में नहीं आता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक विकृत मध्यम, एक नया विकृत पंचम, विकृत षड्ज, विकृत ऋषभ। यथा—

ग ० ० ० म ० ० ० प ० ० ध ० न ० ० ० स ० ० र ० गं

स ० ० र ० ग ० ० ० म ० ० ० प ० ० ध ० न ० ० ० सं

यदि ऊपरवाली पंक्ति के नीचे की खाली जगहों में परदे बाँधकर फिर उसको ऊपरवाली पंक्ति में नीचेवाले 'स' को ऊपरवाले 'स' पर बैठाकर परदे लगाएँ तो बाकी श्रुतियों पर और भी स्वर कायम हो गए (देखिए संगीत-प्रवेशिका दूसरा भाग)। इस समय न तो मध्यम ग्राम रह गया न गांधार ग्राम; क्योंकि इस समय साधारणतः बारह स्वर बर्त्ते जाते हैं और प्रवीण संगीतज्ञ तो बारह से भी अधिक मानते हैं। पूर्व-काल में भी मेरे जानते जब मूर्छनाएँ शुरू हुईं तो ग्राम निष्प्रयोजन हो गए।

मूर्छनाएँ ग्रामों के पीछे आकर कायम हुईं। मूर्छना सात स्वरों में से प्रत्येक स्वर से शुरू करके क्रमान्वित सात स्वरों के आरोहण अवरोहण को कहते हैं और इन्हीं से जातियाँ निकलीं जो पीछे आकर राग कहलाए। यथा सं न ध प म ग र (स), (स) र ग म प ध न सं, यह षड्ज स्वर की मूर्छना हुई और षाडजी जाति हुई। उसी प्रकार न ध प म ग र स (ऩ), (ऩ) स र ग म प ध न, यह निषाद स्वर की मूर्छना हुई और नैषादी जाति हुई। इन मूर्छनाओं के करने से भिन्न भिन्न स्वर-समूह (ठाट) कायम हुए जिनसे राग निकले। भरत मुनि के समय में राग-स्थान पर जातियों ही का व्यवहार था। संगीत-रत्नाकर में जातियों के स्थान में भिन्न भिन्न रागों के

मूर्छना-जाति राग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाम हैं किंतु पीछे आकर जो "राग, रागिनी, पुत्र, भार्या" का वर्गीकरण हुआ यह संगीत-रत्नाकर के समय में न था, यद्यपि इस समय जो रागादिक के नाम हैं उनमें से बहुत नाम संगीत-रत्नाकर में भी पाए जाते हैं।

राग, रागिनी, पुत्र, भार्य्यावाला वर्गीकरण विशेषतः 'संगीत-दर्पण' में पाया जाता है। भैरव, मालकौस, हिंडोल, दीपक, श्री और मेघ ये ६ राग कहे गए हैं और इनकी रागिनियाँ, पुत्र तथा भार्याएँ बताई गई हैं।

राग, रागिनी, पुत्र, भार्य्यावाला वर्गीकरण असंगत मालूम पड़ता है; क्योंकि यद्यपि किसी एक राग के साथ पाँच पाँच रागिनियाँ, आठ आठ पुत्र और आठ आठ भार्य्याओं का नाम जोड़ दिया गया है, किंतु यदि उनके स्वर स्वरूप देखे जायँ तो उस राग और उसकी रागिनी आदि में प्रायः कोई मेल नहीं मिलता। इस अश्रृंखलता को हटाने के लिये पीछे आकर राग, रागिनी आदि का वर्गीकरण उनके स्वर-स्वरूप की चाल के अनुसार किया गया। यथा एक वर्ग (ठाट) शुद्ध स्वरों का यानी स र ग म प ध न (सं) का लिया, यह बिलावल राग का वर्ग है, और बिलावल के गाने में ये स्वर लगते हैं। बिलावल के सिवा और भी राग, रागिनी आदि हैं जिनमें यही स्वर उलट फेरकर, कम या अधिक ठहराकर, लगते हैं। इसलिये वे सब भी इसी बिलावल ठाट में रखे गए। इसी तौर पर भैरव ठाट, भैरवी ठाट, काफी आदि ठाट कायम किए गए। 'चतुर्दंडी प्रकाशिका' के रचयिता व्यंकटमखी ने ऐसे ऐसे ७२ ठाट कायम किए, जिनको वह 'मेलकर्ता' कहते थे। ये कर्नाटकी यानी

ठाट (groups)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दक्खिनी थे। लोचन कवि ने 'राग-तरंगिनी' में बारह ठाट कायम किए हैं। उत्तर भारत में इस समय दस ही ठाटों में आजकल के सब राग, रागिनी आदि आ जाते हैं।

संगीत-प्रणाली

इस समय भारतवर्ष में दो प्रणालियाँ या पद्धतियाँ प्रचलित हैं। एक उत्तर भारत की प्रणाली जो "हिंदुस्तानी संगीत-पद्धति" कहाती है और आसाम से बंबई और काश्मीर से लेकर मध्य भारत तक प्रचलित है; दूसरी "दक्खिनी" या "कर्नाटकी" प्रणाली है जो मध्यभारत के कुछ अंश, मद्रास, मैसूर, बंगलोर आदि दक्खिन के प्रदेशों में प्रचलित है। ये दोनों पद्धतियाँ आपस में पृथक् हैं। उत्तर भारत की संगीत-प्रणाली पर मुसलमानी राजत्वकाल में अमीर खुसरो, राजा मान तोमर, मियाँ तानसेन और उनके वंशधरों की, सदारंग, अदारंग, मियाँ शोरी, लखनऊ के बादशाह वाजिदअली शाह, जौनपुर के शरकी खानदान के शाहों की छाप अधिकता से पड़ी; और इनमें से कितनों ने कई नई नई रागिनियाँ बनाई और तराना, कौल, धुरपद, होरी, दादरा, ख्याल, टप्पा, ठुमरी, गजल आदि गीत और उनके गाने के ढंग निकाले और चलाए। दक्खिनवाले संगीत-रत्नाकर के आधार पर चले। नाट्यशास्त्र, संगीतदर्पण, संगीत-पारिजात को छोड़कर सब प्राचीन ग्रंथ दक्खिनवालों ही के बनाए हुए हैं। संगीत-पारिजात के रचयिता अहोबल पंडित भी दक्खिन ही के हैं, यद्यपि यह ग्रंथ उत्तर भारत के संगीत का ग्रंथ कहा जाता है।

यद्यपि आदि में भारतीय संगीत सामगान से ही आरंभ हुआ किंतु पीछे आकर यह उसके आगे बढ़ा और जन-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साधारण में फैला और लौकिक हुआ। वैदिक संगीत मार्गी संगीत कहलाने लगा और लौकिक संगीत देशी संगीत कहलाया। नाट्यशास्त्र, संगीतरत्नाकर आदि ग्रंथ प्रधानतया लौकिक संगीत ही के ग्रंथ हैं। पीछे आकर लौकिक संगीत में भी मार्गीय और देशी राग कायम हुए; मार्गीय वे कहलाए जो शास्त्रों के नियमों से नियंत्रित रहे और देशी वे जो भिन्न भिन्न प्रांतों में लोग अपनी रुचि के अनुसार गाते हैं—यथा बिरहा, लोरिकायन, कजरी, फगुआ, चैती, पूरबी इत्यादि।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१६) बौद्ध संस्कृत साहित्य

[लेखक—पंडित मथुरालाल शर्म्मा एम० ए०, काशी]

हमारे देश के इतिहास में गौतम बुद्ध प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने धर्म-प्रचार के लिये लोकभाषा का उपयोग किया था। इसका ठीक पता नहीं है कि वह भाषा क्या थी परंतु इतना निश्चित है कि वह संस्कृत का कोई ऐसा विकृत रूप होगी जिसका, बिहार तथा निकटवर्ती प्रांतों में, जनसाधारण में, व्यवहार होता होगा। बुद्ध के जीवन-संवरण के पश्चात् उनके अनुयायियों ने भी लोकभाषा का उपयोग जारी रखा और अपने आचार्य के उपदेश तथा जीवन-वृत्त को पाली भाषा में लिखा। सम्राट् अशोक के शिलालेखों की भाषा भी एक प्रकार की प्राकृत है जो संपूर्ण देश में उस समय समझी जाती होगी। प्रांतों के अनुसार इन लेखों की भाषा और लिपि में किंचित् अंतर है; पर थोड़े हेर-फेर के साथ वह शुद्ध संस्कृत बन सकती है*।

लोकभाषा का व्यवहार बौद्धमत में अधिक समय तक जारी न रह सका। जिस पाली भाषा में बुद्ध के उपदेशों को लिखा गया था वह, कुछ समय बाद, लोकभाषा न रही और लोगों को उसके समझने में कठिनता होने लगी। इसके अतिरिक्त अनेक आंतरिक और बाह्य कारणों से बौद्धमत में हीनयान तथा महायान ये दो संप्रदाय उठ खड़े हुए। हीनयान का प्राधान्य दक्षिण भारत, लंका और ब्रह्मा में था

* Dr. D. R. Bhandarkar—Asoka.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और महायान का उत्तर भारत में। महायान संप्रदाय का ही प्रचार तिब्बत, चीन, जापान, अफगानिस्तान और पश्चिमी तुर्किस्तान आदि देशों में हुआ था। इन देशों में स्थानीय भाषाओं के द्वारा धर्म-प्रचार किया गया था। पाली या प्राकृत सार्वभौम धर्म की न प्रचार-भाषा हो सकती थी और न ग्रंथ-भाषा। प्राकृत का स्वरूप देश और काल के अनुसार निरंतर बदलता जाता था; इसलिये ग्रंथ-रचना में उसका उपयोग करना कुछ लाभकारी नहीं था। पाणिनि के व्याकरण के कारण संस्कृत पर काल और स्थान का प्रभाव नहीं पड़ सकता था और प्राचीन परंपरा से यह गंभीर ग्रंथों की भाषा थी; इसलिये उत्तर भारत के बौद्धों ने शनैः शनैः संस्कृत का उपयोग करना आरंभ कर दिया।

हीनयान और महायान संप्रदायों की उत्पत्ति ईसा की द्वितीय शताब्दी के आस-पास हुई थी परंतु बौद्धमत में संप्रदाय-भेद बुद्ध के देहावसान के बाद से ही प्रारंभ हो गया था*। बौद्धधर्म का एक अत्यंत प्राचीन संप्रदाय था सर्वास्तिवाद संप्रदाय। इसका प्रचार अफगानिस्तान तथा पश्चिमी और पूर्वी तुर्किस्तान तक हो गया था और प्रसिद्ध चीनी यात्री फाहियान जब भारतवर्ष आ रहा था तो इन प्रदेशों में उसने सर्वास्तिवादियों के कई उत्सव देखे थे†। यह संप्रदाय हीनयान का प्रभेद था और सर्वप्रथम इसी संप्रदाय ने संस्कृत भाषा के उपयोग की महत्ता का अनुभव किया था। सर्वास्तिवादी ग्रंथों की भाषा कुछ संस्कृत है और कुछ पाली,

* बौद्ध धर्म के रूपांतर—नागरीप्रचारिणी पत्रिका भाग ११ पृष्ठ १०४

† जगन्मोहन वर्मा—फाहियान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिससे स्पष्ट है कि आरंभ में बौद्धों ने एक प्रकार की मिश्रित भाषा का आश्रय लिया था। फिर शनैः शनैः शुद्ध तथा परिमार्जित संस्कृत का व्यवहार किया जाने लगा। बौद्धमत के प्रसिद्ध पंडित श्रीयुत राइस डेविड तो संस्कृत को पाली का परिष्कृत तथा कृत्रिम स्वरूप मानते हैं*; लेकिन यहाँ इस विषय में घुसना अप्रासंगिक होगा। इतना उल्लेख करना पर्य्याप्त है कि राइस डेविड का मत निर्विवाद तथा निर्भ्रांत नहीं जान पड़ता।

योरोपीय विद्वानों के अध्यवसाय से मध्य एशिया और तिब्बत में बौद्ध मत के विपुल प्राचीन साहित्य की उपलब्धि हो चुकी है। इस साहित्य में विदेशी लिपियों में लिखे हुए बौद्ध संस्कृत ग्रंथ हैं और संस्कृत ग्रंथों का तिब्बती तथा चीनी भाषा में अनुवाद है†। कुछ ग्रंथों के अन्य ग्रंथों में उल्लेख या उद्धरण मात्र मिलते हैं और कुछ ग्रंथों के केवल नाम ही‡। स्वर्गीय बाबू राजेंद्रलाल मित्र ने नेपाल के बौद्ध-साहित्य की

---

* Dr. Rhys Davids—Buddhist India.

† A. B. Dhruva—Wilson Philological Lecture.

‡ इस संबंध में प्रधान उल्लेखनीय नाम ये हैं—

Pischel—Fragments of a Sanskrit canon, 2.

The Buddhist from Idyentsari in Chinese Turkistan, S B A 1904, p. 807.

Levi—Udanvarga. Journal Asiatique, 1910, p. 10, Vol. XVI.

Stein—Ancient Khotan.

Senart, Luders, Rhys, Davids तथा Franke के OC, JA, NGGW, JRAS ZDMG आदि पत्रों में लेख।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बड़ी खोज की थी और अनेक ऐसे संस्कृत ग्रंथों का पता लगाया था जिनको संस्कृत भाषा के पंडित बिलकुल भूल चुके थे*। इस प्रकार अनेक निःस्वार्थ तथा धुरंधर विद्वानों की गवेषणा के फल-स्वरूप विस्तृत बौद्ध-संस्कृत-साहित्य का पता लग चुका है। स्थूलतः इस साहित्य के दो विभाग किए जा सकते हैं, मिश्रित संस्कृत और शुद्ध संस्कृत। मिश्रित संस्कृत में मूल सर्वास्तिवादी तथा महासंगिक आदि अन्य हीनयानी संप्रदायों के धार्मिक ग्रंथ हैं और शुद्ध संस्कृत में बौद्ध-काव्य, बुद्ध-जन्म-कथाएँ तथा महायान संप्रदाय के दर्शन आदि तंत्र-ग्रंथ हैं।

श्रीयुत स्टीन, ग्रेनवेडेल और लीकोक को पूर्वी तुर्किस्तान में जो बहुसंख्यक हस्तलिखित बौद्ध-ग्रंथ प्राप्त हुए हैं उनमें धम्मपद, एकोत्तरागम तथा मध्यमागम की संस्कृत प्रतियाँ भी हैं और महावस्तु, दिव्यावदान, ललितविस्तर आदि अन्य धर्मग्रंथों के उद्धरण हैं। प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर सिलवियन लेवी† का मत है कि विनयपिटक तीसरी या चौथी शताब्दी में संस्कृत में लिखा गया होगा। पाली के निकाय शब्द का अनुवाद संस्कृत में आगम किया गया है। इसलिये दीग्घनिकाय का दीर्घागम, मज्झिम निकाय का मध्यमागम, अनुगुत्तर निकाय का एकोत्तरागम और संयुक्तनिकाय का संयुक्तागम हो जाता है। इसके अति-रिक्त विनयपिटक के अन्य अनेक मुख्य अंशों का भी संस्कृत रूपांतर हो चुका था, इसका पता उन अंशों के संस्कृत नामों

---

* अवदान शतक, अशोकावदान, अनेक तंत्रग्रंथ तथा धारिणियों का राजेंद्र बाबू ने Nepalese Buddhist Literature में संक्षिप्त परिचय दिया है।

† Toung Tao 1907, p. 116.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से चलता है। सूत्रनिपात, स्थविरगाथा, बुद्ध-वंश आदि के नामों का उल्लेख इन हस्तलिखित प्रतियों में कई स्थानों पर आया है। विनयपिटक के प्रतिमोक्षसूत्र का तिब्बती और चीनी भाषा में अनुवाद मिलता है जिससे अनुमान होता है कि यह ग्रंथ भी संस्कृत में लिखा हुआ होगा*। बेंडेल महोदय को नेपाल में विनयपिटक के उस स्थल का संस्कृत रूपांतर भी मिला था जो भिक्षुओं की दीक्षा के समय काम में लाया जाता था†। मूल सर्वास्तिवादियों के मुख्य मुख्य धर्म-ग्रंथों का अनुवाद चीनी भाषा में सन् ७००–७१२ में यात्री इत्सिंग ने किया था‡।

हीनयान संप्रदाय के संस्कृत ग्रंथों में सर्वप्रथम उल्लेखनीय ग्रंथ है महावस्तु§। यह महासंघिकों के लोकोत्तरवादी संप्रदाय का विनयपिटक है। लोकोत्तरवादी लोग बुद्ध को अलौकिक विभूति मानते थे। अतः महावस्तु में जो बुद्ध के जीवन का वर्णन है वह आश्चर्यकारी चमत्कारों और अद्भुत घटनाओं से भरा हुआ है। बुद्ध की जीवनी के अतिरिक्त महावस्तु में अनेक प्रक्षिप्त कथाएँ भी हैं जो जातक और अवदान कथाओं से ली गई हैं। महावस्तु पर कहीं कहीं पौराणिक

---

* A. Kern—Manual of Buddhism, p. 373. & OC (Orientalisten kongresse) Vol. XIII.

† Ibid.

‡ J. Takakusu—A Record of Buddhist Religion by Itsing, translated, p. XXXVII.

§ इसको सबसे पहले श्रीयुत ई० सेनार्त महोदय ने पेरिस में अपनी भूमिका के साथ सन् १८८२–९७ में प्रकाशित करवाया था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शैली की छाया भी स्पष्ट है, जैसे संतानहीन ब्रह्मदत्त का ऋषियों के आश्रम में जाना और उसके घर में ऐसे तीन पक्षियों का जन्म होना जो मानव-वाणी बोलते थे। महावस्तु की यह कथा तथा उसमें दिया हुआ स्वर्ग-वर्णन मार्कंडेय पुराण की प्रथम कथा तथा उसके स्वर्ग-वर्णन से बिलकुल मिलता-जुलता है। शाक्य मुनि के वंश का वर्णन और रक्षित ऋषि की कथा भी पौराणिक जान पड़ती है। साहित्यिक दृष्टि से महावस्तु कोई महत्त्व का ग्रंथ नहीं है परंतु ऐतिहासिक दृष्टि से यह पुस्तक अति महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रंथ में हमको बुद्ध के जीवन की कई ऐसी घटनाओं का आदि स्वरूप मिलता है जिनका पीछे के ग्रंथों में रूपांतर हो गया है जैसे अभिनिष्क्रमण और प्रथम धर्मचक्र-परिवर्तन। महावस्तु कहने को हीनयानियों का ग्रंथ है; लेकिन महायान संप्रदाय के विचारों की इसमें कमी नहीं है। दशभूमि, बुद्धानुस्मृति, बुद्धार्चन, स्तूप-परिक्रमा, पुष्प-समर्पण आदि का इसमें वर्णन है। इसमें बतलाया है कि जब बुद्ध हँसते थे तो संपूर्ण लोकों में प्रकाश हो जाता था। यह भी कहा है कि बुद्ध की न माता थी, न पिता थे; वे स्वयंभू थे। महावस्तु के कुछ वर्णनों का आधार गांधार शिल्पकला जान पड़ती है और कई स्थलों पर योगाचार की छाया है। इस ग्रंथ का आदि और अंत कभी भी हुआ हो; परंतु इसके अधिकांश भाग की रचना ईसा से २०० वर्ष बाद हुई होगी, ऐसी कल्पना निराधार नहीं है। महावस्तु मिश्रित संस्कृत में लिखा हुआ है *।

---

* इस ग्रंथ की आगे लिखे हुए विद्वानों ने समालोचना की है और संक्षिप्त परिचय दिया है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ललितविस्तर* महायान संप्रदाय का ग्रंथ है। प्रारंभ में यह सर्वास्तिवादी संप्रदाय की बुद्ध-जीवनी थी परंतु रूपांतर होकर यह महायानी ग्रंथ बन गया। महायान के सिद्धांतों के अनुसार बुद्ध इस लोक में केवल लीला के निमित्त अवतरित हुए थे। अतः ललितविस्तर अर्थात् लीलाओं का विस्तार यह नाम ही महायान संप्रदाय का सूचक है। यद्यपि इस ग्रंथ का आरंभ पाली सूत्रों की प्राचीन पद्धति के अनुसार हुआ है परंतु इसके प्रथम परिच्छेद में ही जो बुद्ध का वर्णन है उससे ही स्पष्ट है कि आदि सूत्रों के विचारों में और इसके विचारों में कितना अंतर है। बुद्ध भगवान् अलौकिक आलोक से परिवेष्टित हैं, १२ सहस्र भिक्षु और ३२ सहस्र बोधिसत्त्व उनके उपदेशामृत का पान करने को उत्सुक हैं।

A. Barth—R.H.R. (Revue de Phistoire des Religious, Paris) 11,1885, p. 166; 42, 1900, p. 51

E. Windisch—The composition of the Mahavastu, Leipzig 1909.

Rajendra Lal Mitra—Nepalese Buddhist Literature, pp. 113-161.

* इस ग्रंथ का संपादन श्री एस० लेफमन (S. Lefmann) ने बर्लिन में किया था और कुछ प्रारंभिक प्रकरणों का जर्मन भाषा में अनुवाद भी उनमें प्रकाशित करवाया था। राजेंद्र बाबू ने Bibliothica Indica के वास्ते इसका अंगरेजी में अनुवाद किया था; पर वह पूरा न हो पाया। फाउको (Foucaux) महोदय ने इस ग्रंथ का फ्रेंच अनुवाद किया था जो सन् १८८७ और १८९२ के बीच The Annals du Musee Guimet नामक पत्र की vi तथा XIX जिल्दों में प्रकाशित हुआ था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्द्धरात्रि के समय जब भगवान् ध्यानावस्थित होकर बैठते हैं तब उनके ललाट से एक अद्भुत ज्योति निकलती है जो लोक-लोकांतरों को प्रकाशमान कर देती है और संपूर्ण देवों के आसनों को हिला देती है। बोधिसत्त्व का गर्भप्रवेश जन्म-धारण और लीला सब अलोक-सामान्य हैं। ललितविस्तर में बुद्ध स्वयं कहते हैं—"जो मुझ पर विश्वास करते हैं उनका मैं कल्याण करता हूँ, जो मेरी शरण आते हैं वे मेरे मित्र हैं, ऐसे मित्रों को तथागत सत्य का दर्शन कराता हूँ असत्य का नहीं। हे आनंद, मेरा आदेश है कि तुम विश्वास करने का प्रयत्न करो।" ये वाक्य गीता में भगवान् कृष्ण के वचनों की प्रतिध्वनि जान पड़ते हैं।

संस्कृत-साहित्य के इतिहास की दृष्टि से ललितविस्तर बड़े महत्त्व का ग्रंथ है। इसको काव्य तो नहीं कह सकते; परंतु इसमें काव्य के बीज वर्तमान हैं। इसकी भाषा भी मिश्रित नहीं है; किंतु शुद्ध संस्कृत है। ललितविस्तर मानों अश्वघोष के बुद्ध-चरित का पूर्वसूचक है।

अश्वघोष संस्कृत भाषा का एक उच्च कवि था। संस्कृत साहित्य और बौद्धधर्म के इतिहास में उसके ग्रंथों का बड़ा महत्त्व है। उसके प्रधान ग्रंथ हैं, बुद्धचरित*, सूत्रालंकार†,

---

* बुद्धचरित का सुंदर संस्करण श्री कोवेल ने संपादित किया है और गवषेणापूर्ण भूमिका लिखी है।—"Oxford 1903. इसका अँगरेजी अनुवाद SBE Vol. XLIX में उसी विद्वान् ने किया है।

† सूत्रालंकार चीनी लिपि में मिलता है। मूल का अभी पता नहीं लगा। श्रीयुत सिल्वेन लेवी ने (Sylvain Levi) B E F E O (फ्रेंच भाषा का पत्र) 1904, p. 164 में इसकी समालोचना की है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वज्रसूची*, महायानश्रद्धोत्पाद और शतपंचशतिक नाम स्तोत्र। अश्वघोष को कनिष्क का समकालीन माना जाता है। उसके महायान मत-मंडन से यह तो स्पष्ट ही है कि वह प्रथम, द्वितीय और तृतीय शताब्दी में ही कभी हुआ होगा। साहित्य-विकास की दृष्टि से वह कालिदास से पहले का माना जाता है। उसका समय कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि महायान संप्रदाय के मंडन करनेवालों में वह प्रथम प्रसिद्ध विद्वान् है। उससे पूर्व भी महायानी-विचार काफी प्रबल हो चुके थे और महावस्तु तथा ललितविस्तर का संस्कृत रूपांतर महायानी ग्रंथ ही हैं; पर स्व-मत-मंडन और पर-मत-खंडन की परिपाटी का विद्वत्तापूर्ण श्रीगणेश अश्वघोष ने किया था। उसको हम महायान संप्रदाय का कार्ल मार्क्स कह सकते हैं। वज्रसूची नामक ग्रंथ में अश्वघोष ने वेदादि प्राचीन सत् शास्त्रों के उद्धरण दे देकर जातिभेद की निःसारता तथा अप्रामाणिकता सिद्ध की है। अंत में बतलाया है कि सुख, दुःख, प्रेम, ज्ञान, जरा, मरण, भय आदि जो मनुष्यमात्र के स्वाभाविक गुण हैं, उनमें सब समान हैं। विषमता स्वार्थजन्य है और धर्म-प्रतिकूल है। महायान-श्रद्धोत्पाद का विषय उसके नाम से ही स्पष्ट है। शतपंचशतिक नाम स्तोत्र विष्णुसहस्रनाम के ढंग का ग्रंथ है जिसमें बुद्ध के अनेक नाम और उनके स्मरण का पुण्य फल प्रदर्शित किया गया है। बुद्ध-चरित एक सुंदर काव्य है जिसमें परंपरागत कथाओं के आधार पर भगवान् बुद्ध की जीवनी का वर्णन है।

---

* इसका संपादन Lancelot Wilkinson ने किया था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य-क्षेत्र में बुद्धचरित के कारण अश्वघोष का स्थान ऊँचा है। इस ग्रंथ की भाषा, शैली और रचना सब उच्च श्रेणी की हैं और वे सब महाकाव्य-गुण, जो साहित्यकारों ने बतलाए हैं, इसमें विद्यमान हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि कालिदास ने इस ग्रंथ का आदर्श सामने रखकर ही अपने अमर काव्य रघुवंश की रचना की थी। बुद्धचरित की सर्वांग सुंदरता को देखते हुए यह मत निराधार नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त इन दोनों ग्रंथों की अंत:परीक्षा से भी इस मत की पुष्टि होती है। कुछ भी हो, साहित्यिक दृष्टि से बुद्धचरित अत्यंत सरस काव्य है। इसका प्रथम सर्ग तो इतना सुंदर है कि सहृदय पाठक को गद्गद कर देता है। अंतिम सर्ग अश्वघोष की रचना नहीं है। कादंबरी के उत्तरार्द्ध और कुमारसंभव के उत्तरार्द्ध की भाँति बुद्धचरित का उत्तरार्द्ध भी किसी अन्य पंडित की रचना है।

अश्वघोष के पश्चात् आर्यशूर का नाम उल्लेखनीय है। इस लेखक का केवल एक ग्रंथ जातकमाला नामक अब तक प्राप्त हो सका है। जातकमाला नाम के अन्य कई ग्रंथ और कवियों ने भी लिखे हैं; परंतु आर्यशूर की मौलिकता, सरसता और हृदयग्राहकता को और लेखक नहीं पहुँच सके। जातकमाला गद्य और पद्य दोनों में लिखा हुआ है। इसको चंपू काव्य कहा जा सकता है। बौद्ध संघों में इसी ग्रंथ का बड़ा प्रचार था और भिक्षु लोग उपदेश देते समय इसकी कथाओं का उपयोग किया करते थे। इस ग्रंथ को काव्य तो नहीं कह सकते; पर यह काव्य-शैली पर लिखा हुआ है। इसमें बुद्ध की जन्म-कथाओं के अतिरिक्त अन्य कई उपदेशात्मक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रोचक कहानियाँ हैं। इस अंश में अश्वघोष के सूत्रालंकार और आर्यशूर की जातकमाला में बहुत समानता है।

विषय की दृष्टि से सूत्रालंकार और जातकमाला से मिलता-जुलता ही बौद्धों का अवदान साहित्य* है। वैसे अवदान का अर्थ है धार्मिक कार्य; परंतु बौद्ध-साहित्य में इस शब्द का उपयोग विस्तृत अर्थ में होता है। आत्म-बलिदान, संस्था-स्थापन, स्तूप या चैत्य-निर्माण, द्रव्य या पुष्प-फलदान आदि सब पुण्य कर्मों के लिये अवदान शब्द का व्यवहार किया जाता है। अब अवदान-साहित्य के तल में यह तत्त्व है कि शुभ कर्मों का फल शुभ और अशुभ कर्मों का फल अशुभ होता है, तथा पूर्व-जन्म और वर्तमान जन्म दोनों कर्म-बंधन से मिले हुए हैं। इन ग्रंथों में बुद्ध स्वयं अपने मुखारविंद से अपने पूर्व-जन्म की कथा कहते हैं और अंत में उसके आधार पर उपदेश करते हैं। कुछ अवदान ऐसे भी हैं जिनमें बुद्ध भविष्य की कथा सुनाते हैं और कुछ कथाओं में भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों मिला दिए गए हैं। विनयपिटक तथा सूत्रपिटक में ये अवदान कथाएँ कई स्थलों पर दी हुई हैं पर दूसरी तथा तीसरी शताब्दी के आसपास ये कथाएँ साहित्य का एक विशेष अंग बन गई थीं। अवदान-साहित्य का मुख्य ग्रंथ है अवदानशतक। इसमें दीनारों का उल्लेख है

---

* अवदान साहित्य के विषय में श्रीयुत Burnouf का Introduction to the History of Buddhism पढ़िए। Speyer महोदय की अवदानशतक की भूमिका भी पांडित्यपूर्ण है। राजेंद्र बाबू की पुस्तक में अनेक अवदानों का उद्धरण और उनके विषय का संक्षिप्त परिचय दिया हुआ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और तीसरी शताब्दी में इसका चीनी भाषा में अनुवाद हो चुका था। इससे स्पष्ट है कि इसकी रचना दूसरी शताब्दी में हो चुकी होगी। अवदान-शतक का विषय बौद्धधर्म्म के आदि विचारों से तो बहुत दूर है; परंतु तो भी इसको महायान-ग्रंथ नहीं कह सकते। यह वास्तव में सर्वास्तिवादी साहित्य का अंग है। अवदान-शतक दस भागों में विभक्त है। प्रथम चार भागों में उन कर्मों का वर्णन है जिनको करने से मनुष्य बुद्ध पदवी को प्राप्त कर सकता है, शेष में अर्हतों का वर्णन है। प्रथम और तृतीय वर्ग की शैली पुराणों से मिलती-जुलती है। अवदानशतक और अन्य अवदान ग्रंथ प्रायः पद्य में लिखे हुए हैं और इनकी भाषा पुराण तथा स्मृतियों की सी है। दिव्यावदान, अशोकावदान, कल्पद्रुमावदानमाला, व्रतावदान-माला, विचित्र कर्णिकावदान आदि अवदान ग्रंथ उल्लेख योग्य हैं। इनमें दिव्यावदान, क्षमावदान और कल्पद्रुमावदान स्पष्ट महायानी ग्रंथ हैं। इन अवदानों के ढंग पर उस समय चीनी तथा तिब्बती भाषा में कई अवदानों की रचना हुई थी।

अब तक जितने साहित्य का वर्णन किया गया वह अंशतः हीनयान और अंशतः महायान संप्रदाय का है। अब ऐसे बौद्ध साहित्य का संक्षिप्त वर्णन किया जायगा जो निर्विवाद महायान संप्रदाय का है। त्रिपिटकों की भाँति महायान में कोई ऐसे धार्म्मिक ग्रंथ नहीं हैं जिनको सब मानते हों; परंतु नेपाल के बौद्ध लोग इस समय नौ ग्रंथों की उसी प्रकार पूजा करते हैं जैसे सिक्ख लोग गुरुग्रंथ साहब की। वे नव ग्रंथ ये हैं— अष्टसाहस्रिक, प्रज्ञापरिमिता, सद्धर्मपुंडरीक, ललितविस्तर, लंकावतार, सुवर्णप्रभाषा, गंडव्यूह, तथागतगुह्यक, समाधिराज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और दशभूमीश्वर। ये सब ग्रंथ महायान सूत्रों* के नाम से प्रसिद्ध हैं और साहित्यिक दृष्टि से इनमें सद्धर्मपुंडरीक सर्वोच्च तथा बहुमूल्य ग्रंथ है। इन सूत्रों के अध्ययन से महायान-धर्म की विशेषताओं से पूर्ण परिचय हो जाता है। इनमें बुद्ध भगवान् को देवादिदेव तथा अनादि अजन्मा सृष्टि-कर्ता कहा है और अवलोकितेश्वर मंजुश्री आदि देवों की उपासना के फल का वर्णन है। इनमें बौद्धों के स्वर्ग अर्थात् सुखातिव्यूह का सविस्तर उल्लेख है। लंकावतार में हूणों के नायक तोरमान और मिहिरकुल का भी जिक्र आया है जिससे यह ग्रंथ ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

महायान साहित्य में नागार्जुन का बड़ा ऊँचा स्थान है। तिब्बती विद्वान् तारानाथ के अनुसार प्रज्ञापरिमिता का कर्ता नागार्जुन है। मध्यम कारिका, जो एक उच्च कोटि का दर्शन ग्रंथ है, इसी विद्वान् का लिखा हुआ बतलाया जाता है। माध्यमिक सूत्र महायान सूत्रों की संक्षिप्त व्याख्या है। दर्शनशास्त्र की दृष्टि से इसको षड्दर्शनों का समकक्ष कहा जा सकता है। नागार्जुन ने कारिकाओं के साथ साथ संक्षिप्त श्लोकबद्ध व्याख्या भी लगा दी है। इसी ग्रंथ से मिलता-जुलता चंद्रकीर्ति का मध्यमकावतार है जो महायान दर्शन का एक बहुमूल्य ग्रंथ है लेकिन दुर्भाग्यवश अब तक यह तिब्बती लिपि में ही लिखा

* सद्धर्मपुंडरीक का अँगरेजी अनुवाद श्रीयुत ए० कर्न ने किया है जो S B E नामक पुस्तकमाला की XLIX वीं जिल्द में प्रकाशित हुआ है। मूल संस्कृत Bibliothica Indica में सन् १९०८ में लेनिनग्राड से प्रकाशित हुआ था। इस पुस्तक के रचना-काल के विषय में देखिए JRAS 1901, p. 124 और JRAS 1911, p. 1067.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ है। मध्यमकारिका के अतिरिक्त धर्मसंग्रह भी नागार्जुन का ही लिखा हुआ बतलाया जाता है। इसकी एक लिपि प्रोफेसर ग्रेनवेडेल को मध्य एशिया में मिली थी। नागार्जुन-लिखित एक सुहृतलेख भी है जिसके लिये बौद्धों में ऐसी जन-श्रुति है कि यह पत्र नागार्जुन ने महायानी सूत्रों की विशद व्याख्या करते हुए किसी धर्म-पिपासु राजा को लिखा था। विद्वत्ता और पांडित्य में नागार्जुन के समान तो नहीं किंतु फिर भी महायान साहित्य में उसी के साथ उल्लेखनीय व्यक्ति हैं पंडित आर्यदेव और आसंग, जिन्होंने अनेक दर्शन ग्रंथों की रचना की है। आर्यदेव के शतकशास्त्र और शतकचतुःशतक में से पंडित चंद्रकीर्ति ने उद्धरण दिए हैं। आसंग योगाचार सिद्धांतों का अनुयायी था। इस संप्रदाय में उसका उतना ही ऊँचा स्थान है जितना माध्यमिकों में नागार्जुन का है। आसंग शून्यवाद का विरोधी था। बोधिसत्त्व-भूमि और योगाचार-भूमिशास्त्र इसी विद्वान् के लिखे हुए हैं।

जैसे पुराणों में अनेक माहात्म्य-स्तोत्र हैं उसी प्रकार महायान में भी अनेक स्तोत्र* धारणी† और तंत्र हैं। स्वयंभू

* स्तोत्र-साहित्य का प्रकाशन अभी नाम मात्र को हुआ है। सप्त-बुद्ध स्तोत्र का श्रीयुत विल्सन ने (Works, vol. II, p. 5) अँगरेजी में अनुवाद किया है। सामंतभद्रप्रणिधान, मृगशतक स्तुति आदि स्तोत्र ग्रंथ अभी हस्तलिखित लिपियों के रूप में ही हैं। श्रीयुत एम० विंटरनिट्ज और ए० बी० कीथ ने बोडलियन के पुस्तकालय में इस विषय के जो ग्रंथ हैं उनकी एक सूची तैयार की है। इनमें से कुछ Anecdota Oxoniensia में प्रकाशित हुए हैं।

† उष्णीश विजय धारणी, सुखावती व्यूह, वज्रच्छेदिका, ये Anecdota Oxoniensia में प्रकाशित हो चुके हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुराण और नेपाल माहात्म्य में तथा पुराणों में केवल नाम का अंतर है। विष्णु और शिव के स्थान में बुद्ध हैं और नैमिषारण्य के स्थान में नेपाल है। स्रग्धरा स्तोत्र और आर्यतारा स्तोत्र में तारा नाम की देवी की स्तुति है जो उस समय महायान संप्रदाय में पूजी जाती थी। धारणियाँ मंत्र ग्रंथ हैं। बौद्धों का विश्वास था कि इनके पठन-पाठन और किंचित् उच्चारणमात्र से फलसिद्धि की प्राप्ति होती है। जापान में इस समय भी धारणियों का उपयोग होता है।

अंत में जब महायान और तंत्रमार्ग मिल से गए तब बौद्धों ने भी अनेक तंत्र लिखे जिनकी शैली, विषय-विवेचन और भाषा हिंदू तंत्रों से बिल्कुल मिलती-जुलती है। इनमें विशेषता केवल इतनी ही है कि भैरव भवानी के स्थान में बुद्ध और तारा का नाम है।

यह बौद्ध संस्कृत-साहित्य का केवल संक्षिप्त वर्णन है। संस्कृत-साहित्य में बौद्ध इतिहास के लिये विपुल सामग्री विद्यमान है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

110265

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

110765

(१७) आलोचना और विचार

(५)

सेप्टेंबर १९२३ के "Theosophy in Australia" नामक मासिक पत्र में ईजिप्ट के ओसिरिस (Osiris) नाम के देवता की प्रार्थना इस प्रकार उद्धृत की गई है—

Unveil O Thou who art the support of the Universe, from whom all comes forth, to whom all returns, that face of the True Sun whose face is now hidden by a ball of golden light that we may know the truth and do our whole duty on the way to thy sacred feet.

यह स्तुति ईशावास्य उपनिषद् और यजुर्वेद संहिता के निम्नलिखित मंत्र का स्वतंत्र अनुवाद है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥

इससे जान पड़ता है कि यह प्रार्थना कोई ३५०० वर्ष पूर्व यहाँ से मिस्र को गई अथवा वहाँ से यहाँ आई। यह विशेष महत्त्व की बात है और यह जानना आवश्यक है कि ओसिरिस की यह प्रार्थना किस आधार पर और कहाँ से उद्धृत हुई है। क्या कोई पाठक इस विषय पर प्रकाश डालने की कृपा करेंगे ?

पंड्या बैजनाथ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(६)

गत नागरी-प्रचारिणी पत्रिका के भाग ११ अंक २ में जो औरंगजेब का हितोपदेश शीर्षक लेख छपा है उसमें लेखक पृष्ठ १७३ की नवीं पंक्ति में लिखते हैं कि "रामरेख" तीर्थ भी तलाश कर प्रकाश डालने योग्य है। इसके उत्तर में कथन यह है कि बक्सर में "रामरेखा" घाट है जो पवित्र तीर्थ-स्थान समझा जाता है और पद्य में "बन चरित्र जहँ राम ने बनी बाटिका नांर" में बन चरित्र से तात्पर्य चरित्र-वन से है, जो बक्सर के ही निकट है और तीर्थ-स्थान समझा जाता है। इसमें संदेह नहीं कि बक्सर में, जो आरा जिला में है, पद्यकर्त्ता का जन्म-स्थान था।

रघुनंदनप्रसाद सिंह

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Printed by A. Bose,
at the Indian Press, Ltd.
Benares-Branch.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFRENCE BOOK

Co[illegible]ied
1999-2000

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय त्यौहार

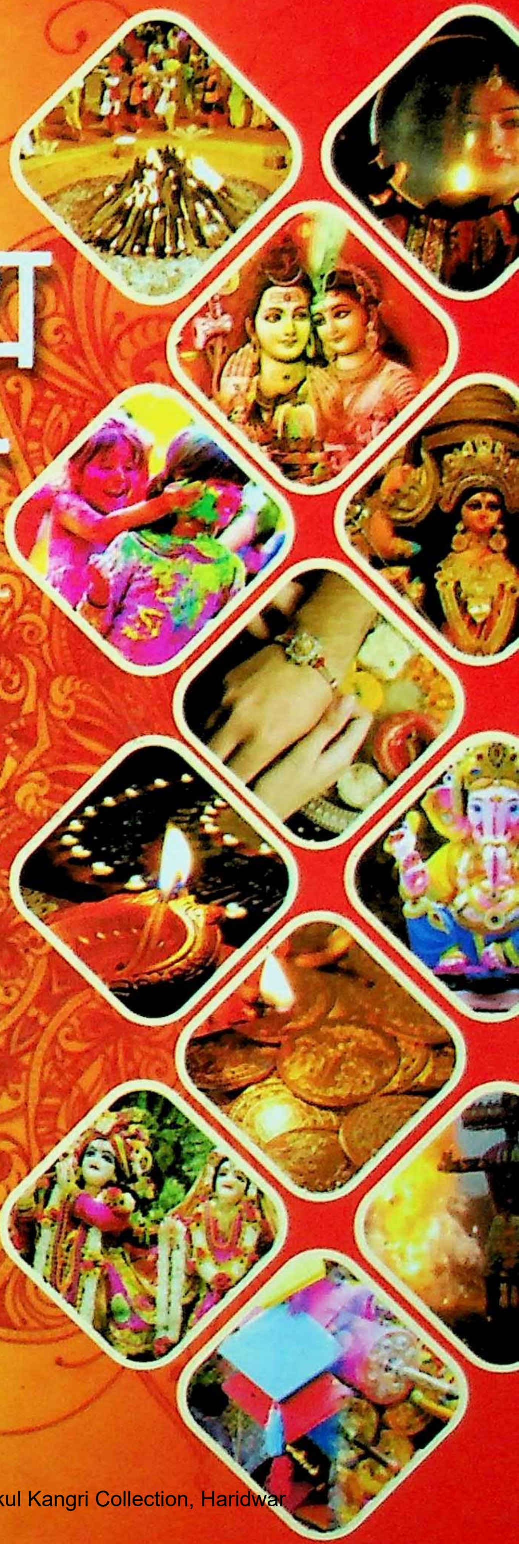

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

डॉ. सोहन राज तातेड़

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri